अथ

वैदिक वाङ्मय का इतिहास

प्रथम भाग

वेदों की शाखाएं

लेखक

पण्डित भगवद्दत्त

प्रकाशक

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट—अमृतसर

द्वितीय संस्करण
१००० प्रति

संवत् २०१३

प्रथम संस्करण—स० १९९१
द्वितीय सस्करण—सशोधित और परिवर्धित स० २०१३

संशोधन मात्र के १५०० रु० के व्यय में से ५०० रुपये की सहायता परलोकगत श्री सुरेशचन्दजी की स्मृति में श्री बाबू प्रीतमचन्दजी कमला नगर, देहली ने बडी उदारता से की

Printed At —
Panch Nad Press Ltd , Durgiana Abadi, AMRITSAR.

मूल्य—दस रुपये

विषय-सूची

संशोधन

१—**पृष्ठ २०८ प० १२** के आगे उत्तरार्ध जोड़ें—

कल्पसूत्र चकाराथ महर्षिगणपूजितः ॥

२—**पृष्ठ २६२ प० २३** के आगे नई पंक्ति से—

छागलेय श्रौत का एक सूत्र शांखायन श्रौत ६।१।७ के आनर्ताय भाष्य में उद्धृत मिलता है। सन् १६२५ में अध्यापक श्रीपाद कृष्ण बेल्वेल्कर ने छागलेयोपनिषद् मुद्रित कर दिया था।

छागलेय स्मृति के श्लोक भी निबन्ध ग्रन्थों में उद्धृत मिलते हैं।

१३, १४—तुम्बुरु और उलप शाखाएं

एक तुम्बुरु सामवेदीय है। इस याजुष तुम्बुरु और उलप का हमें कुछ ज्ञान नहीं।

३—**पृष्ठ २९६—३०६** तक ग्रट टाइप में दी २६—४१ तक की संख्या एक एक संख्या बढ़ा कर क्रमश २७—४२ पढ़ें।

४—**पृष्ठ ३०६ प० २८** में **४१** संख्या के स्थान में **४२** पढ़ें।

५—**पृष्ठ ३०७ प० १-२**—"तो कुल ८५ शाखाएं बनती हैं। चाहिए वस्तुत ये ८६। यदि ८६ संख्या ”—**पाठ के स्थान में इस प्रकार पढ़ें—**

'तो कुल ८६ शाखाएं बनती हैं। यदि ८६ संख्या ।

६—**पृष्ठ ३४२ प० १—ऊनविंशति** के स्थान में **ऊनविंश**।

पृष्ठ ३४४ प० १—विंशति के स्थान में **विंश**।

पृष्ठ ३६५ प० १—एकविंशति के स्थान में **एकविंश**।

इसी प्रकार पृष्ठ ३४३ से ३७३ तक विषम पृष्ठ पर ऊपर आई अध्याय संख्या में संशोधन करें।

प्राक्कथन

मेरा जन्म सन् १८९३ ईस्वी के अक्तूबर मास की २७ तारीख को पञ्जाबान्तर्गत अमृतसर नामक नगर में हुआ था । मेरे पिता का नाम ला० चन्दनलाल और माता का नाम श्रीमती हरदेवी है । मेरी माता इस समय जीवित हैं । सन् १९१३ में बी. ए श्रेणी मे पग रखते ही मैं ने सस्कृत भाषा का अध्ययन आरम्भ किया । उस से पूर्व मैं विज्ञान पढ़ता रहा था । सन् १९१५ में बी. ए पास कर के मैं ने वेदाध्ययन को अपने जीवन का लक्ष्य बनाया । इस का कारण श्री स्वामी लक्ष्मणानन्द जी का उपदेश था । योगिराज लक्ष्मणानन्द जी के सत्सग का मुझ पर गहरा प्रभाव पड़ा है । सन् १९१२ के दिसम्बर के अन्त में उन का देहावसान हुआ था । परन्तु उन की सारगर्भित बातें मेरे कानों में आज तक गूंज रही हैं । उन की श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी में अगाध भक्ति थी । वे योगाभ्यास में स्वामी दयानन्द सरस्वती जी के शिष्य थे ।

दयानन्द कालेज लाहौर से बी० ए० पास कर के मैं ने लगभग छः वर्ष तक इसी कालेज में अवैतनिक काम किया । तत्पश्चात् श्री महात्मा हसराज जी की कृपा से मई १९२१ में मैं इस कालेज का जीवन सदस्य बना । मास मई सन् १९३४ तक मैं इस कालेज के अनुसन्धान विभाग का अध्यक्ष रहा । इन १९ वर्षों के समय में मैं ने इस विभाग के पुस्तकालय के लिए लगभग ७००० हस्तलिखित ग्रन्थ एकत्र किए । इन ग्रन्थों मे सैकड़ों ऐसे हैं, जो अन्यत्र अनुपलब्ध हैं । मुद्रित पुस्तकों की भी एक चुनी हुई राशि मैं ने इस पुस्तकालय में एकत्र कर दी थी । इसी पुस्तकालय के आश्रय से मैं ने इन १९ वर्षों मे विशाल वैदिक और सस्कृत वाङ्मय का अध्ययन किया । यह अध्ययन ही मेरे जीवन का एकमात्र उद्देश्य बना रहा है । इस के लिए जो जो कष्ट और विघ्न-बाधाए मैं ने सही हैं, उन्हे मैं ही जानता हू ।

सन् १९३३ में कालेज के कुछ बाबू वकील प्रबन्धकर्ताओं के मन में यह धुन समाई कि अपने धन के मद में मस्त होकर वे वेदाध्ययन करने वालों को भी अपना नौकर समझें। भला यह बात मैं कब सह सकता था। संस्कृत विद्या हीन इन बाबू लोगों को आर्य संस्थाओं में धर्म और प्रबन्ध का क्या ज्ञान हो सकता है, ऐसी धारणा मेरे अन्दर दृढ थी और अब भी दृढ है। अन्तत यह विषय महात्मा हंसराज जी के निर्णय पर छोड़ा गया। उन को भी धनी लोगों की बात रुचिकर लगी। तब मेरी आंख खुली। मुझे एक दम ज्ञान हो गया। इस कलि काल में नामधारी आर्यों में वेद-ज्ञान के प्रति कोई श्रद्धा नहीं है। यह धन के साम्राज्य का युग है। पर क्योंकि महात्मा हंसराज जी की कृपा से ही मैं कालेज का सदस्य हुआ था, अत उन्हीं के निर्णय पर मैं ने कालेज की सेवा छोड़ने का संकल्प कर लिया। संसार क्या है, इस विषय का मेरा बहुत सा स्वप्न दूर हो गया है। मैं महात्मा हंसराज जी का शतश. धन्यवाद करता हूं कि मेरे इस ज्ञान का वे कारण बने हैं। पहली जून सन् १९३४ को मैं ने कालेज को त्याग दिया।

यह जीवन मैं ने वैदिक वाङ्मय के अर्पण कर रखा है। अत कालेज छोड़ने के पश्चात् भी मैं इसी काम में लग गया हूं। मेरे पास अब पुस्तकालय नहीं है। कुछ मित्रों ने ग्रन्थ भेजने का कष्ट उठाया है। मैं उन सब का आभारी हूं। मेरे मित्र और सहपाठी श्री डाक्टर लक्ष्मण स्वरूप जी ने बहुत सहायता की है। उन्हीं के और ला० लब्भूराम जी और पण्डित बालासहाय जी शास्त्री के कारण मैं पञ्जाब यूनिवर्सिटी पुस्तकालय से पूरा लाभ उठा रहा हूं।

इस इतिहास के दो भाग पहले दयानन्द कालेज की ओर से प्रकाशित हो चुके हैं। एक में है ब्राह्मण ग्रन्थों का इतिहास और दूसरे में है वेद के भाष्यकारों का इतिहास। प्रथम भाग अभी तक मुद्रित नहीं हुआ था। यह प्रथम भाग अब विद्वानों के सम्मुख उपस्थित है। इस मे

वेद की शाखाओं का ही प्रधानतया वर्णन है। वेद की शाखाओं के सम्बन्ध में मैक्समूलर, सत्यव्रत सामश्रमी और स्वामी हरिप्रसाद जी ने बहुत कुछ लिखा है। मैं ने उन सब का ही पाठ किया है। इस ग्रन्थ में इन शाखाओं के विषय में जो कुछ लिखा गया है, वह उन से बहुत अधिक और बहुत स्पष्ट है। जहां तक मैं समझता हूं, आर्षकाल के पश्चात् इतनी सामग्री आज तक किसी एक ग्रन्थकार ने नहीं दी। पाठक ग्रन्थ को पढ़ कर इस बात को जान जाएंगे।

सन् १९२१ के लगभग मेरे मित्र अध्यापक रघुवीर जी ने मेरे साथ इस इतिहास को अङ्ग्रेजी में लिखना प्रारम्भ किया था। हम ने कुछ सामग्री लिखी भी थी। परन्तु मेरा विचार उन से बहुत भिन्न था। अतः मैं ने उस काम को वहीं स्थगित कर दिया, और उन्हें अधिकार दे दिया था कि वे अपने ग्रन्थ को स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित कर लें। आशा है मेरा ग्रन्थ प्रकाशित हो जाने के पश्चात् अब वे अपना ग्रन्थ प्रकाशित करेंगे। मैं भी कुछ काल के पश्चात् इस ग्रन्थ का एक परिवर्धित संस्करण अङ्ग्रेजी में निकालूंगा। वैदिक वाङ्मय का सम्पूर्ण इतिहास तो कुछ काल पश्चात् ही लिखा जा सकता है। आए दिन वैदिक वाङ्मय के नए नए ग्रन्थ मिल रहे हैं। इन सब का सम्पादन भी अत्यन्त आवश्यक है। हो रहा है यह काम अत्यन्त धीरे धीरे। आर्य जाति का ध्यान इस ओर नहीं है। मेरे जीवन की कितनी रातें इस गम्भीर समस्या के हल करने में लगी हैं, भगवान् ही जानते हैं। भारत में वैदिक ग्रन्थों के सम्पादन की ओर विद्वानों का बहुत अल्प ध्यान है। देखें कितने तपस्वी लोग इस काम में अपनी जीवन-आहुतियां देते हैं।

मेरे पास न तो धन है, और न सहकारी कार्यकर्ता। यथा तथा जीवन निर्वाह का प्रबन्ध भगवान् कर देते हैं। फिर भी जो कुछ मुझ से हो सकेगा, वह मैं करता ही रहूंगा। बस इतने शब्दों के साथ मैं इस भाग को जनता की भेंट करता हूं। जो दो भाग पहले छप चुके हैं, वे भी

संशोधित और परिवर्धित रूप में शीघ्र ही छपेंगे । तत्पश्चात् चौथा भाग छपेगा । उस में कल्पसूत्रों का इतिहास होगा ।

इस ग्रन्थ के पढ़ने वालों से मैं इतनी प्रार्थना करता हूँ कि यदि वे इस ग्रन्थ के पूरे आठ भागों का पाठ करने के इच्छुक हैं, तो उन्हें इस की अधिक से अधिक प्रतियां बिकवानी चाहिए । यही मेरी सहायता है और इसी से मेरा काम अपने वास्तविक रूप में चलेगा ।

कई फार्मों का प्रूफ पं० शुचिव्रत जी शास्त्री एम० ए० ने शोधा है । तदर्थ मैं उन का बड़ा आभारी हूँ । यह ग्रन्थ हिन्दी भवन प्रेस लाहौर में छपा है । प्रेस के व्यवस्थापक श्री इन्द्रचन्द्र जी ने ग्रन्थ के प्रूफ शोधन में हमारी अत्यधिक सहायता की है । प्रेस सम्बन्धी अन्य अनेक सुविधाएं भी उन्हों ने हमें दी हैं । इन सब के लिए मैं उन को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ । श्रीयुत मित्रवर महावैयाकरण पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु और ब्रह्मचारी युधिष्ठिर ने हमें अनेक उपयोगी बातें सुझाई हैं । नासिकक्षेत्र वास्तव्य शुक्ल याजुष-विद्या-प्रवीण पं० अण्णा शास्त्री वारे और उन के सुपुत्र पं० श्रीधर शास्त्री जी ने भी शुक्ल-याजुष प्रकरण की कई बातें हमें बताईं थीं । इन सब महानुभावों के प्रति मैं सनम्र अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ ।

भगवद्दत्त

बृहस्पतिवार

२१ मार्च १९३५

द्वितीय संस्करण की भूमिका

यह ग्रन्थ गत आठ वर्ष से अप्राप्य हो रहा था। विना सशोधन और परिवर्धन में इस का प्रकाशन उपादेय न समझता था। इस कार्य के लिए मेरे पास समय नहीं निकला। अन्ततः चैत्र स० २०११ के मध्य में योग्य विद्वान् श्री प० युधिष्ठिर मीमांसक जी मेरे पास आ गए। उन की सम्मति के अनुसार इस ग्रन्थ के सशोधित तथा परिवर्धित सस्करण का मुद्रण आरम्भ किया गया।

प्रथम सस्करण चैत्र स० १९९१ में छपा था। देशी तथा विदेशी विद्वानों ने उस ग्रन्थ की भूरि भूरि प्रशसा की थी। पर योरोपीय विद्वानों को एक बात खटकने लग पड़ी थी। उन के ध्यान में यह बात आनी आरम्भ हो गई थी कि भगवद्दत्त उन के प्रचारित निराधार कल्पित मतों का कठोर खण्डन करेगा।

तत्पश्चात् स० १९९७ में मेरा 'भारतवर्ष का इतिहास' (प्रथम सस्करण, स० २००३ मे द्वितीय सस्करण) और स० २००८ में 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' प्रथम भाग प्रकाशित हुए। इन ग्रन्थों का प्रकाशित होना था कि योरोपीय पद्धति पर सस्कृत और भारतीय इतिहास पढने वालो म से अधिकाश व्यक्तियो ने मेरे विरुद्ध एक बवण्डर उत्पन्न करना आरम्भ किया। स्थान-स्थान पर मेरे ग्रन्थों का विरोध आरम्भ हुआ। लाहौर मे ही कलकत्ता विश्वविद्यालय के एक उच्च अधिकारी द्वारा मुझे सूचना मिल चुकी थी कि मेरा ग्रन्थ उस विश्वविद्यालय के पुस्तकालय मे रखा नहीं जा सकता। वहा के किसी विभाग का अध्यक्ष इस ग्रन्थ का विरोध कर रहा है। एक विद्वान् ने सूचना दी कि दो बगाली प्रोफेसर मेरे भारतवर्ष के इतिहास की अवहेलना करते हुए उसे एक नया पुराण कहते हैं।

उत्तर-प्रदेश-राज्य हिन्दी की श्रेष्ठ पुस्तकों पर पारितोषिक देने का विज्ञापन देता है। परिस्थिति से परिचित होने के कारण अनिच्छा होते हुए भी परिवार के लोगों के कहने से मैंने बृहद् इतिहास की छ प्रतिया तदर्थ भेजीं। परिणाम मैं जानता था। योरोपीय पद्धति के अनुसार पढे लिखे

समालोचक अपने मूलमतों पर कुठाराघात करने वाले ग्रन्थ की किस प्रकार प्रशंसा कर सकते थे ।

अन्य अनेक अड़चनें भी मेरे मार्ग में डाली गईं । अनेक पी० एच० डी० तथा डी० लिट्० घबरा उठे कि यदि भगवद्दत्त के ग्रन्थ भारतीय जनता में प्रिय होने लग पड़े, तो उन का पठित होना भी सन्देह का स्थान बन जाएगा । उन में मेरे तर्कों का उत्तर देने का सामर्थ्य तो था नहीं, पर अहम्मन्यता के कारण वे प्रलाप अवश्य करते रहे ।

उन में से अनेक ने मेरे ग्रन्थों में एकत्रित सामग्री को यथेष्ट ले लिया, मेरे संगृहीत प्रमाणों को अपने नामों से प्रकाशित करके अपनी योग्यता की डींग मारनी चाही, पर मेरे कार्य के गुरुत्व के विषय में कुछ लिखते वे कतराते रहे । यथा—

१— श्री चतुरसेन वैद्य शास्त्री ने **वेद और उन का साहित्य** नामक ग्रन्थ (सं० १९९४ = सन् १९३७) में लिखा । उस में उन्होंने अनेक स्थानों में हमारे 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' ग्रन्थ से प्रभूत सामग्री ली । विशेष कर 'ब्राह्मण ग्रन्थ' नामक छठा अध्याय हमारे इतिहास के ब्राह्मण भाग पर ही आश्रित है । यथा—

क—पृष्ठ १२०—१२३ । तुलना करो वै० वा० इ० पृष्ठ २६—३३ ।
ख—पृष्ठ १२३—१३५ । ,, ,, ,, ,, ,, ,, ६३—८६ ।
ग—पृष्ठ १७६—१७७ । ,, ,, ,, ९९, ११३, ११४, १२८ ।

शास्त्री जी ने ख निर्दिष्ट प्रकरण का शीर्षक 'ब्राह्मणों का संकलन काल' हमारा ही ले लिया है ।

हमारे ग्रन्थ से इतनी सामग्री लेने पर भी शास्त्री जी ने हमारे ग्रन्थ का निर्देश कहीं नहीं किया ।

२ —पं० बलदेव उपाध्याय ने **आचार्य सायण और माधव** नामक ग्रन्थ (सं० २००३ = सन् १९४६) में पृष्ठ २०१–२२३ तक वेद-भाष्यकार प्रसंग की अधिकांश सामग्री हमारे वैदिक वाङ्मय का इतिहास, वेदों के भाष्यकार भाग से ली है ।

३—डा० बटं कृष्ण घोष ने जर्मनी के म्यूनिक (Munich) विश्वविद्यालय से पी० एच० डी० की उपाधि प्राप्त की । उपाधि के निमित्त

उन्होंने जो निबन्ध यूनिवर्सिटी को भेंट किया उस का शीर्षक है—**Collection of the Fragments of Lost Brahmanas,** इस निबन्ध का अंग्रेजी रूपान्तर सन् १९४७ में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ। लुप्त ब्राह्मणों में से शाट्यायन ब्राह्मण के वेङ्कटमाधवकृत ऋग्भाष्य से जो उद्धरण उनके महोपाध्याय श्री वुस्ट (Wust) जी को मैंने भेजे, उनके लिए डाक्टर जी ने भूमिका पृष्ठ ६, ७ पर आभार प्रदर्शन किया है, परन्तु उन्होंने अपने निबन्ध की जो शेष सामग्री मेरे 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' ब्राह्मण भाग से ली, उस का संकेत तक नहीं किया।

उन का सारा निबन्ध मेरे लेख का जर्मन भाषा में अनुवाद मात्र है। लुप्त ब्राह्मणों के वाक्यों का अनुवाद तो उन का है, पर उन के उद्धरणों के मूल स्थान प्राय मेरे दर्शाये हुए हैं। उन को पी० एच० डी० की उपाधि मेरे ग्रन्थ के एक अध्याय के कारण मिली है।

स्मरण रहे कि वेङ्कट माधव के ऋग्भाष्य में शाट्यायन ब्राह्मण के जो वचन उन्हें परलोकगत डा० लक्ष्मण स्वरूप के द्वारा मिले थे, उन का संकलन प० शुचिव्रत शास्त्री एम० ए० ने किया था।

४—प० रामगोविन्द त्रिवेदी ने **वैदिक साहित्य** नामक ग्रन्थ (स० २००७=सन् १९५०) मे अनेक स्थानों पर हमारे ग्रन्थों से सामग्री ली है, परन्तु उस उस प्रसग में हमारे ग्रन्थ का निर्देश नहीं किया। यथा—

क—पृष्ठ ६४ पर शाम्बव्य शब्द के पाठान्तर। ये पाठान्तर हम ने महाभारत के अनेक हस्तलेखों से सगृहीत किए थे। देखो वै० वा० का इतिहास, वेदों की शाखाएं भाग, सस्क० १ पृष्ठ ११५, सस्क० २ पृष्ठ २१९।

ख—पृष्ठ ९६ पर हमारे लेख का अधिकाश लिया है।

ग—पृष्ठ २४२, २४३ का निरुक्तवार्तिक तथा बृहद्देवता सम्बन्धी लेख हमारे लेख के आधार पर है।

घ—पृष्ठ ३८८ पर निर्दिष्ट रावण कृत ऋक्पदपाठ सम्बन्धी लेख। रावण के पदपाठ का हस्तलेख हमारे अतिरिक्त ससार में अन्यत्र कहीं ज्ञात नहीं था।

ङ—पृष्ठ ३८८-३८९ पर लिखा गया पदपाठकार सबन्धी लेख हमारे लेख का सक्षेप है।

इस से स्पष्ट है कि प० रामगोविन्द त्रिवेदी ने कितनी सामग्री हमारे ग्रन्थों से ली है।

५—श्री विष्णुपद भट्टाचार्य ने **निरुक्तवार्तिक—a lost treat** शीर्षक लेख (I H Q जून १९५०) की प्रभूत सामग्री हमारे वै० वा० का इतिहास, वेदों के भाष्यकार (भाग) पृष्ठ २१३—२१७ से ली है। इस ग्रन्थ का आधुनिक काल में सर्व प्रथम परिचय हमने ही संसार को दिया था। लेखक को यह सत्य स्वीकार करना चाहिए था।

६—श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने **India as Known to Panini** (सन् १९५३) के चरण और शाखा प्रकरण (पृष्ठ ३२५) में मानव गृह्य परिशिष्ट का अभिप्राय उद्धृत किया है। इस ग्रन्थ का हस्तलेख मेरे पास ही था। उस के कुछ श्लोक मैंने वै० वा० का इतिहास भाग १ प्रथम संस्क० पृष्ठ १९२ (द्वि० संस्क० पृष्ठ २९७) पर उद्धृत किए हैं। श्री अग्रवाल जी को अपने लेख के आधार का मूल स्थान देना चाहिए था।

पाश्चात्य ढंग से पढ़े लिखे लोगों को यह बात अखरती है कि वे मेरे परिश्रम और विचारों को प्रमुखता दें।

७—श्री रजनीकान्त शास्त्री ने **वैदिक साहित्य परिशीलन** (सं० २०१० = सन् १९५३) में हमारे ग्रन्थों से अनेक बातें ली हैं। पृष्ठ ११२ पर उन्हों ने लुप्त निघण्टु ग्रन्थों के कई पाठ पढ़े हैं। यह प्रकरण हमारे वेदों के भाष्यकार भाग के पृष्ठ १६३ १६५ के लेख का संक्षेपमात्र है।

भूलें—इन के ग्रन्थ में अनेक ऐसी भूलें हैं जो मूल ग्रन्थों के स्वय परिशीलन करने वाले लेखकों से नहीं हो सकतीं। यथा—

क—पृष्ठ ७९ पर—यजुर्वेद की १०० शाखाओं ˙ ।

यजुर्वेद की १०१ शाखाएं हैं। १०० नहीं। शास्त्री जी महाभाष्य के **एकशतमध्वर्युशाखा** वचन का अर्थ नहीं समझे।

ख—पृष्ठ ८० पर—पतञ्जलि के मत से ११३० ˙ ।

पतञ्जलि के मत में ११३१ शाखाएं हैं। भूल का कारण ऊपर दर्शा चुके हैं।

ग—पृष्ठ ८४ पर—(कठ कपिष्ठल शाखा) सम्भवतः आज तक प्रकाशित नहीं हुई है।

कठ कपिष्ठल शाखा सन् १९३२ में लाहौर से प्रकाशित हो चुकी है।

८—श्री देवदत्त शास्त्री का **भारतीय वाङ्मय की भूमिका** नामक ग्रन्थ (सं० २०११=सन् १९५४) प्रकाशित हुआ है। उन के 'भूमिका के नाम पर' शीर्षक वक्तव्य से ऐसा आभास मिलता है कि इस पुस्तक में लिखे गए प्रायः सभी अंश उन के निजी परिश्रम का फल हैं (पृष्ठ २)। परन्तु वस्तुस्थिति इस से भिन्न है। उन्हों ने अपने ग्रन्थ में हमारे ग्रन्थों से विपुल सामग्री अविकल तथा संक्षिप्त रूप में ली है। यथा—

क—भारतीय वाङ्मय की भूमिका पृष्ठ ३०–३५ तक जो कुछ लिखा है, वह हमारे कल्याण, गोरखपुर के **हिन्दुसंस्कृति** नामक विशेषाङ्क (माघ सं० २००६ =जनवरी १९५०) में मुद्रित **आर्यवाङ्मय** नामक लेख (पृष्ठ २५०-२५५) का अविकल संक्षेप है।

ख—पृष्ठ ६५ पर रामायण के सम्बन्ध में जो लिखा है, उस में हमारे 'भारतवर्ष का इतिहास' ग्रन्थ से कई पंक्तियां संक्षिप्त रूप में ले ली हैं।

इसी प्रकार अन्य प्रकरणों में भी हमारे ग्रन्थों से सामग्री ली है, परन्तु हमारे ग्रन्थ का निर्देश कहीं नहीं किया।[1] हृदय की स्वच्छता का आग्रह है कि जो अनुसन्धानात्मक सामग्री जिस के ग्रन्थ से ली जाए, उस का निर्देश किया जाए।

९.—पं० बलदेव उपाध्याय ने **वैदिक साहित्य और संस्कृति** (माघ सं० २०११=सन् १९५५) में अनेक अंश हमारे 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' से लिए हैं, परन्तु उन्हों ने अनेक स्थानों पर हमारे ग्रन्थ का निर्देश नहीं किया। यथा—

क—पृष्ठ १०० पर लौगाक्षि स्मृति का उल्लेख किया है। ध्यान रहे कि इस का हस्तलेख केवल हमारे पास था।

ख—पृष्ठ ३२१ पर निरुक्तवार्तिक विषयक लेख।

---

१. भारतीय वाङ्मय की भूमिका पृष्ठ ५६–६० तक का 'व्याकरण शास्त्र' शीर्षक लेख पं० युधिष्ठिर मीमांसक जी के 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' प्रथम भाग अध्याय २ से संक्षेप किया गया है।

निरुक्तवार्तिक ग्रन्थ का सर्व प्रथम परिचय हम ने ही दिया था, यह ऊपर लिख चुके हैं।

भूलें—भूल ग्रन्थों का ध्यान पूर्वक अनुशीलन न करने से इन के ग्रन्थ में भी कई भयानक भूलें हो गई हैं। यथा—

क—पृष्ठ १०३—यजुर्वेद की १०१ शाखाओं ... ।

सम्भव है पं० जगदीश उपाध्याय ने यह पंक्ति पूर्व-निर्दिष्ट पं० चन्द्रकान्त शास्त्री के वैदिक साहित्य परिशीलन (पृष्ठ ७६) से ली हो। इस भूल का निदर्शन ऊपर कर चुके हैं।

ख—पृष्ठ ३२४ पर—निरुक्त निचय—इस ग्रन्थ में एक सौ श्लोकों की स्वतन्त्र व्याख्या है।'

इस लेख में दो अशुद्धियां हैं। प्रथम—ग्रन्थ का नाम 'निरुक्त समुच्चय' है, 'निरुक्त निचय' नहीं। दूसरी—इस ग्रन्थ में १०० मन्त्रों की व्याख्या है, श्लोकों की नहीं। प्रतीत होता है, ग्रन्थकार ने बिना ग्रन्थ का अवलोकन किए ये पंक्तियां लिखी हैं।

१०—**चतुरसेन**—नामक [illegible] (विक्रम सं० २०१२=१९५५) के 'राम' शीर्षक लेख पृष्ठ १७, १७, १८ पर कई पंक्तियां तथा प्रमाण हमारे 'भारतवर्ष का इतिहास' (संस्क० २) पृष्ठ २ तथा 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' पृष्ठ ७७ ७८ से प्रतिलिपि किए हैं।

११—**धर्मयुग**—इसी प्रकार धर्मयुग नामक साप्ताहिक पत्र में गत वर्ष हमारे 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' प्रथम भाग के चन्द्रगुप्त मौर्य के काल विषयक सम्पूर्ण तर्कों का संक्षेप छपा। लेखक ने उसे अपनी खोज के रूप में छपवाया।

इसके विपरीत श्री० टी० आर चिन्तामणि श्री के० एम० शर्मा, श्री हरिहर नरसिंहाचार्य और पेरिस के अध्यापक श्री लूई रेनो आदि ने स्पष्ट हमारे ग्रन्थों और हमारे विचारों का उल्लेख करते हुए हमें अनुगृहीत किया।

रेनो जी ने जर्नल आफ ओरियण्टल रिसर्च, मद्रास, भाग १८ सन् १९५० के लेख में शाखाओं का उल्लेख करते हुए लिखा—

After Bhagavaddatta who has written in Hindi a primary history of Vedic schools, I have myself undertaken the task in a book recently published

अपने शाखा-विषयक पुस्तक (सन् १९४७) के आरम्भ में उन्हों ने स्पष्ट मेरे ग्रन्थ के प्रति आभार माना है।

एक आश्चर्य की बात और है। सन् १९४२ में पूना से **Progress of Indic Studies (1917—1942)** नामक ग्रन्थ छपा। उस में वैदिक अध्ययन का इतिवृत्त प्रथम स्थान पर छपा है। उस में जहा हमारे बैजवाप गृह्य (पृष्ठ १२), माण्डूकी शिक्षा (पृष्ठ १८) और पञ्चपटलिका (पृष्ठ १९) के सस्करणों का उल्लेख है, वहा हमारे वैदिक वाङ्मय का नाम मात्र नहीं। इसे भूल समझें, वा पाश्चात्य प्रभाव के कारण अवहेलना का सस्कार, इसे लेखक डाण्डेकर स्वय समझें।

अब वैदिक वाङ्मय के विषय में नए ग्रन्थों में प्रकाशित मतों का सक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

I इन्हीं दिनों (सन् १९५६) '**भारतीय संस्कृति का विकास**' नामक एक पुस्तक प्रकाशित हुई है। इस के लेखक डा० मङ्गलदेवजी शास्त्री हैं। इस पुस्तक में पाश्चात्य विचारधारा का प्रभाव स्पष्ट है। भारतीय वाङ्मय के कालक्रम का लेखक को अणुमात्र ज्ञान नहीं। उन्होंने मिथ्या भाषा मत के आधार पर जो प्राग्वैदिक काल (पृष्ठ १३) माना है, उस का इतिहास में साध्य नहीं। इस पुस्तक में कई भूलें अक्षन्तव्य हैं। उदाहरणार्थ यथा—

१—सस्कृत वाङ्मय के ब्राह्मण, उपनिषद् आदि अनेकानेक ग्रन्थ ऐसे हैं, जिन पर उन के कर्त्ताओं के नाम नहीं मिलते। इसी लिए उनके विषय मे पौरुषेयत्व अपौरुषेयत्व का विवाद चिर काल से चला आया है। पृष्ठ २३३।

२—सस्कृत साहित्य में एक ही ग्रन्थ के अनेक सस्करणों का जो वेदों के समान नहीं हैं—प्राय उल्लेख मिलता है, जैसे मनुस्मृति, वृद्ध मनुस्मृति आदि। पृष्ठ २३४।

समीक्षा=ब्राह्मण और उपनिषद् आदि ग्रन्थ प्रोक्त ग्रन्थ हैं। इन में कर्तृत्व है ही नहीं। तब इन के साथ कर्ता का नाम कैसे जोड़ा जा सकता है। प्रवचन ग्रन्थ होने से प्रवक्ता का नाम इन के साथ सम्बद्ध हैं। डाक्टर जी ने

भाव काम करता रहा । वह भाव था—क्रमिक विकास (**Development**) का । आज तक भी यही विचारधारा उन के मनों पर प्रभाव जमाए बैठी है । सत्य इस के विपरीत है । सतयुग में मानव मस्तिष्क में विकास हुआ । वह संसार के इतिहास का उषा काल था । संसार का स्वच्छ मण्डल उस में सहायक था। त्रेता से पृथिवी मण्डल अनेक रूपों में दूषित होने लगा । विशेषकर विचार-तरङ्गों के कारण । तब से आज तक प्राय: बहुविध ह्रास ही ह्रास हुआ । हमारा ग्रन्थ इस बात का साक्ष्य उपस्थित करता है । वाङ्मय में और उस के अन्तर्गत स्वर-पूर्वक उच्चारण के क्षेत्र मे जो परम उन्नत प्रकार पहले था, वह आज सम्पूर्ण संसार में दृष्टिगोचर नहीं होता । विज्ञान के विषय में हम अन्यत्र लिखेंगे ।

अत एव सर्वत्र विकास ढूढने वाले को अपना विश्वास बदलना पडेगा । वस्तुत. सामूहिक विचार-विकास की रट एक रोग है, जिस के कारण पाश्चात्य लेखक और उन के उच्छिष्ट-भोजी अनुगामियों ने प्राचीन इतिहास को कलुषित किया है । इस ग्रन्थ को पढने वाले अपना अध्ययन विस्तृत करके इस सत्य की परीक्षा करें ।

इस संस्करण के प्रथम तीन तथा मध्य के ८,९ और १३ अध्याय सर्वथा नए हैं । अन्य पुराने अध्यायों में भी कहीं कहीं परिवर्धन तथा संशोधन हुआ है । इस प्रकार यह संस्करण पूर्वापेक्षया पर्याप्त परिवर्धित तथा परिष्कृत है ।

इस संस्करण के छपने में मित्रवर श्री ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु का विशेष उत्साह-प्रदर्शन है । श्री पं० युधिष्ठिर मीमांसक जी ने तो इस के परिवर्धन तथा संशोधन में पूरा सहयोग दिया है । श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट अमृतसर ने इस के मुद्रण का भार स्वीकार करके मेरा भार बटाया है । श्री बाबू प्रीतम चन्द्र जी कमलानगर, देहली ने इस के संशोधन-व्यय में ५००) पांच सौ रुपयों की बड़ी सहायता देने की कृपा की है । मैं इन सब का हृदय से आभारी हूँ ।

१ अगस्त १९५६, बुधवार
पूर्व पटेल नगर, नई दिल्ली

भगवद्दत्त

अथ

वैदिक वाङ्मय का इतिहास

प्रथम भाग

वेद, आम्नाय और शाखाएं

प्रथम अध्याय

वेद-वाक् और संस्कृत-वाक्

प्रयोजन—अगणित शतियां चली गईं। काल व्यतीत होता गया। किसी भारतीय विद्वान् को सन्देह नहीं हुआ कि वेद सृष्टि के आदि में प्रकाशित नहीं हुए, अथवा संस्कृत पुराकाल में संसार-मात्र की भाषा न थी। वर्तमान युग में पश्चिम के कथित-विद्वानों ने यह मत चलाया कि "लोक-भाषा संस्कृत वेद-काल के बहुत पश्चात् चली, तथा वेद-वाक् पुरानी बोलियों का रूपान्तर है।" ऐसे मत सुन्दर शब्दों में प्रकट किए गए और कतिपय पाठकों को रुचिकर भी लगे। पर थे ये मत कल्पित और तर्क-शून्य। तथापि आधुनिक शिक्षा प्रणाली के एकदेशीय होने के कारण वर्तमान शिक्षा-प्राप्त अनेक भारतीय लोगों के हृदयों में इन विचारों ने सन्देह उत्पन्न कर दिए। इसलिए इन मिथ्या मतों के निराकरण और परम्परागत वेद वादों के विषय में इतिहास सिद्ध यथार्थ पक्ष को उपस्थित करने के लिए वैदिक वाङ्मय का इतिहास लिखा जाता है।

आर्ष परम्परा—आर्ष परम्परा में मानव की सृष्टि के आरम्भ से यह तथ्य सुरक्षित रहा है कि वेद-वाक् दैवी-वाक् है। यह वाक् मानव की उत्पत्ति से बहुत पूर्व अन्तरिक्षस्थ तथा द्युलोकस्थ देवों और ऋषियों अर्थात् ईश्वर की भौतिक विभूतियों द्वारा प्रकट हो चुकी थी। ओम्, अथ, व्याहृतियां और मन्त्र हिरण्यगर्भ आदि से तन्मात्रारूप वागिन्द्रिय द्वारा उचारे जा चुके थे। वह वाक् क्षीण नहीं हुई, परम व्योम आकाश में स्थिर रही। मानव सृष्टि के आरम्भ में जब ऋषियों ने आदि-शरीर धारण किए, तो वह दैवी वाक् ईश्वर-प्रेरणा से उन में प्रविष्ट हुई। उसे उन्होंने सुना। इस कारण वेद-वाक् का एक नाम श्रुति हुआ।

उसी काल मे वेद-शब्दों के आधार पर ऋषियों ने व्यवहार की भाषा को जन्म दिया। ब्रह्मा, स्वायम्भुव मनु[१] और सप्तर्षि आदि ऋषियों के उपदेश, आगम-ग्रन्थ तथा मूल सिद्धान्त उसी व्यावहारिकी भाषा में थे। आश्चर्य है कि उन के कतिपय अंश अब भी सुलभ हैं।[२] वह भाषा आदि में मानव-मात्र की भाषा थी और थी अत्यन्त विस्तृत और समृद्ध। तब भूमि पर ब्राह्मण ही था। इसलिए वह भाषा शिष्ट-भाषा थी, ग्रामीण बोली न थी। उस में उच्चारण की परम सावधानता थी। दीर्घ काल के पश्चात् संसार में लोभ के कारण कुछ अधर्म प्रवृत्त होने लगा। उस समय क्षत्रिय आदि वर्ण बन चुके थे। उच्चारण के भेद आरम्भ हो गये थे। इस के बहुत उत्तर काल में देश, काल, परिस्थिति के भेद, उच्चारणशक्ति की विकलता और अशक्तिजानुकरण आदि के

---

१. श्री पाण्डुरंग वामन काणे सदृश पाश्चात्य रंग में रंगा हुआ लेखक थोड़ा सा विवेचनात्मक अध्ययन करके इस परिणाम पर पहुंचा कि अनुष्टुप् छन्द में आमूलचूल लिखे गए ग्रन्थ आवश्यक नहीं कि सूत्रों के उत्तरवर्ती हों। वह लिखता है—

The present writer does not subscribe to the view of Max Muller (H A S L p 68) and others that works in continuous Anushtubh metre followed sutra works (Kane, H Dh Vol 1, p 10)

काणे ने प्रकट किया है कि वह मैक्समूलर आदि का प्रतिपादित मत कि "आद्यन्त अनुष्टुप् छन्द में लिखे गये ग्रन्थ सूत्र ग्रन्थों के उत्तरवर्ती हैं" नहीं मानता।

उपलब्ध धर्म सूत्रों में प्राचीन श्लोक-बद्ध धर्म-शास्त्रों के शतश वचन यत्र-तत्र उद्धृत हैं। इस के विपरीत किसी भी प्राचीन श्लोकबद्ध धर्मशास्त्र में धर्मसूत्रों के वचन उद्धृत नहीं हैं। अतः गौतम और आपस्तम्ब आदि के धर्मसूत्र, भृगु प्रोक्त आमूलचूल अनुष्टुप् छन्दोबद्ध मानव धर्म-शास्त्र के उत्तरवर्ती हैं। मैक्समूलर आदि पाश्चात्य लेखक कितनी निर्मूल कल्पनाएं करते हैं, यह स्पष्ट है।

२. हिरण्यगर्भ ब्रह्मा के योगशास्त्र के दो श्लोक विष्णुपुराण २।१३। ४२,४३ में, तथा दो अन्य श्लोक सनत्सुजात शांकरभाष्य २।४१ तथा ४२ पर उद्धृत हैं। ब्रह्म गीत गाथाएं महाभारत शान्तिपर्व में २७०।१० से आगे उद्धृत हैं।

कारण उस व्यावहारिकी सस्कृत भाषा के विकार म्लेच्छ भाषाओं, प्राकृतों और अपभ्रंशों में प्रकट हुए, अर्थात् अतिप्राचीन व्यावहारिकी मानव-वाक् अथवा पाणिनि से सहस्रों वर्ष पूर्व की सस्कृत भाषा ससार की सपूर्ण भाषाओं की जननी है। उस काल में अनेक क्षत्रिय जातियां शूद्र और म्लेच्छ बन चुकी थीं। मिश्र, पितर देश, काल्डिया, ईरान के असुर, यूनानी तथा अरब के लोग उन्हीं प्राचीन क्षत्रिय जातियों की सन्तान में हैं। उन सब की भाषाएं इसी तथ्य का संकेत करती हैं। इस से बहुत काल के पश्चात् भारत-युद्ध हुआ। उस के दो सौ वर्ष पश्चात् पाणिनि ने उस भाषा के अपने काल में अवशिष्ट तथा प्रचलित अति-सकुचित रूप का अपने व्याकरण में अनुशासन किया। यह पाणिनि-निर्दिष्ट भाषा आज तक ग्रन्थों और शिष्टों में व्यवहृत रही। पाणिनि निर्दिष्ट भाषा और उस से पूर्व की भाषा में जो भेद प्रतीत होता है उसका कारण भाषा का ह्रास अर्थात् बहुविध शब्दों और उनके अर्थों का लुप्त तथा सकुचित होना है।

प्रतिज्ञा—गम्भीरतम प्राचीन मत का यह सार हमने सक्षेप से दे दिया है। भाषा की उत्पत्ति और भाषा के उत्तरोत्तर इतिहास का यह एक-मात्र वैज्ञानिक पक्ष औदुम्बरायण, यास्क, कृष्ण द्वैपायन व्यास, व्याडि, उपवर्ष, पाणिनि, पतञ्जलि और भर्तृहरि को सर्वथा ज्ञात था। भर्तृहरि के पश्चात् गत दो सहस्र वर्षों में यह लुप्त-प्रायः रहा। अब पुन. उसी तर्कयुक्त प्राचीन पक्ष का स्पष्टीकरण और विपरीत मतों का निराकरण किया जाएगा।

संसार की प्राचीन जातियों का मत—मिश्र और यूनान आदि के अति प्राचीन लोग देवों और उन की विभूतियों को थोड़ा सा समझते थे। देव-ज्ञान और अधिभूत-ज्ञान[1] की थोड़ी सी मात्रा उन के पास आ रही थी। उन के पुराने विद्वान् दैवी और मानुषी वाक् का भेद कुछ कुछ समझते थे।

(क) मिश्र के प्राचीन विश्वास के विषय में मर्सर लिखता है—

Egyptians had their "sacred writing" ...."writings of the words of the Gods," often kept in a "house of sacred writings."[2]

---

१. तुलना करो, निरुक्त पर दुर्गवृत्ति—१३। ६॥

2 S A B Mercer, The Religion of Ancient Egypt, A D 1949, p 12.

अर्थात्-मिश्र के लोग अपने पवित्र लेख रखते थे "देवों के शब्दों का लेख" जिसे वे प्राय "पवित्र लेखों का घर" में रखते थे।

(ख) मिश्री विद्वान् इस लेख के लिए ndw-ntr (न्द्व–न्त्र)[1] (दि स्पीच आफ दि गाड्स) शब्द प्रयुक्त करते थे। निस्सन्देह मिश्री भाषा के 'न्द्व' पद में 'द्व' शब्द देव शब्द का सकेत करता है और 'न्त्र' पद वाग्वाची वैदिक शब्द 'मन्द्रा' का बोध कराता है। अर्थात् मिश्री लोग देवों की वाणी को 'देवमन्द्रा' कहते थे। मिश्री 'न्द्व–न्त्र' का जो मूल रूप होगा वह देवमन्द्रा के अधिक समीप होगा।

(ग) यूनान के प्रसिद्ध प्राचीन लेखक होमर (ईसा से ८०० वर्ष पूर्व ?) के लेख का भाव है—

The language of Gods and of men [2]

अर्थात्—देवो की भाषा और मानवी भाषा।

अरस्तू देवों आदि के विषय को पूरा नहीं समझ पाया।[3] तत्पश्चात् देव-विद्या योरोप से सर्वथा विलुप्त हो गई।

मिश्र और यूनान के प्राचीन ग्रन्थकारों ने "देवो की वाक्" वा "देव-मन्द्रा" शब्द ही प्राचीन आर्यों से लिए हैं। यह कल्पना कि उन्होंने स्वतन्त्र ऐसा लिखा भ्रममात्र है।

इसी तथ्य को इरश जेहागीर सोराबजि तारापुरवाला ने निम्नलिखित शब्दों में दोहराया है—

The ancient peoples all ascribed their speech to the Gods.[4]

जो वाक् की उत्पत्ति का वास्तविक मत वेदों से मिश्र और यूनान आदिवालों ने लिया उसे अणुमात्र न समझ कर पक्षपाती हर्डर[5] आदि ने जो कल्पित पक्ष खड़े किए, उन का निदर्शन आगे होगा।

पाश्चात्य मत—अब नवीन कल्पनाओं और यत्किंचित् परीक्षणों

---

१ मेर्यो पाई, स्टोरी आफ लैंग्वेज, पृष्ठ ८७।

2 Ramsay, Asianic Elements in Greek Civilisation, pp 299-300

3 The works of Aristotle, Eng tr Vol VIII Metaphysics, Oxford, 1948, Book A–3, p 983B, 997B, 1000A

4 Elements of the Science of Language, 1951, p 10

५ तुलना करो Herder's Schriften, 1807, मैक्समूलर कृत H A S L पृ० ५ पर उद्धृत।

का युग योरोप में आरम्भ हुआ। इसे scientific age वा विज्ञान युग का नाम दिया गया। महान् आत्मा के अस्तित्व को माने बिना भौतिक आधार-मात्र द्वारा सब बातें समझ में आएं, यह इस युग की नस नस में रम रहा था। इस रुचि के अनुसार गत दो शतियों में योरोप के कुछ लोगों ने विभिन्न भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन आरम्भ किया। प्राचीन इतिहास को अणुमात्र न जानते हुए उन्होंने लिखा—

The chief innovation of the beginning of the nineteenth century was the historical point of view.[1]

जब पाश्चात्य लोगों के पास संस्कृत पहुंची तो उन में से कई एक ने मुक्त-कण्ठ से कहा कि संस्कृत योरोपीय भाषाओं की जननी है। उस से संसार के पुरातन इतिहास पर अभूतपूर्व प्रकाश पड़ेगा। फ्राईड्रिश श्लैगल ने इन्हीं भावों का ओजस्वी शब्दों में उल्लेख किया—

"F. Schlegel. . . ., wrote that he expected nothing less from India than ample information on the history of the primitive world, shrouded hitherto in utter darkness."[2]

अर्थात्—फ्राईड्रिश श्लैगल ने लिखा, वह भारत से एक महती आशा रखता है। भारत द्वारा, अब तक पूर्ण अन्धकार-आवृत संसार के पुरातन इतिहास का ज्ञान मिलेगा।

फ्रैंज़ बॉप ने लिखा—

"I do not believe that the Greek, Latin and other European languages are to be considered as derived from the Sanskrit in the state in which we find it in Indian books. I feel rather inclined to consider them altogether as subsequent variations of one original tongue, which, however, the Sanskrit has preserved more perfect than its kindered dialects"[3]

अर्थात्—जिस रूप में वर्तमान भारतीय ग्रन्थों में संस्कृत उपलब्ध

---

1 Jesperson, p 32

2 Zimmerman, A second selection of Hymns from the Rigveda, 1939, Appendix I, p x

3 Analytical Comparison of the Sanscrit, Greek, Latin and Teutonic Languages Quoted in—Language, Its Nature , by Otto Jesperson, 1950 A D, p 48

है, उस से ग्रीक, लैटिन अथवा अन्य योरोपीय भाषाएं निकलीं, इस में मेरा विश्वास नहीं। मैं इस बात की ओर अधिक झुक रहा हू, कि ये सब एक मूल-भाषा की रूपान्तर हैं, जिसे संस्कृत ने अपनी सम्बन्धिनी भाषाओं की अपेक्षा अधिक पूर्ण रूप से सुरक्षित रखा है।

यह बात ईसाई पादरियों और ईसाई संस्कृताध्यापकों को रुचिकर न हुई। उन्होंने बॉप सदृश विद्वान् पर भी आक्षेप किया कि वह संस्कृत को योरोपीय भाषाओं की माता सिद्ध कर रहा है। भय-भीत बॉप को लिखना पड़ा—

I cannot, however, express myself with sufficient strength in guarding against the misapprehension of supposing that I wish to accord to the Sanscrit universally the distinction of having preserved its original character. I have, on the contrary, often noticed in the earlier portions of this work and also in my system of conjugations and in the Annals of Oriental Literature for the year 1820, that the Sanscrit has, in many points, experienced alterations where one or other of the European sister idioms has more truly transmitted to us the original form.[1]

अर्थात्–मेरे पास पर्याप्त शक्ति नहीं कि मैं उस धारणा की भ्रान्ति के विपरीत सावधान करू कि मैं व्यापकरूप से संस्कृत को मूल-भाषा के मूल-रूप को सुरक्षित रखने वाला समझता हू। मैंने सन् १८२० में भी लिखा था कि अनेक स्थानों पर संस्कृत में बहुत परिवर्तन हो गया है और उन्हीं स्थानों पर दूसरी योरोपीय भाषाओं ने सत्यता से मूलरूप को हम तक अधिक सुरक्षित पहुचाया है। इति।

बॉप ने स्वीकार किया कि योरोपीय भाषाओं के उच्चारण में ह्रस्व 'ए' और ह्रस्व 'ओ' का भारतीय संस्कृत में लिपि की अपूर्णता से 'अ' मात्र रहा। अन्त में ग्रिम के प्रभाव से उसने संस्कृत के 'अ' 'इ' 'उ' को मूल स्वर माना और गाथिक, ग्रीक आदि के ह्रस्व ए और ओ को उनका ध्वनिविकार। बॉप लिखता है:—

संस्कृत 'अ' ग्रीक में अर्ध अ, ए, ओ हो गया।[2]

---

1 Comparative Grammar of Greek, etc —, 1845, Vol II, p 709.

2. Com Gramm preface, p XIII पूरा वचन आगे दिया जाएगा।

सक्सेना जी की घबराहट—योरोपीय ईसाई लेखकों के उच्छिष्टभोजी श्री बाबूराम सक्सेना को यह सत्य चुभा और उन्होंने लिखा कि यह दुर्भाग्य की बात थी।[1]

भाषा अध्ययन के क्षेत्र में डैनमार्क का रास्क (सन् १७८७–१८३२) आगे आया। उसने अनेक तर्कहीन बातें प्रारम्भ कीं।[2] भारतीय इतिहास के अति पुरातन होने का भय योरोपीय लेखकों को आरम्भ से लग रहा था। मार्ग निकलता न देखकर उन्होंने लिखना आरम्भ किया के भारत में इतिहास लिखा ही नहीं गया। आर्य लोग भारत मे बाहर से आए। उनका भारत-आगमन ईसा से २५०० वर्ष पूर्व से अधिक पूर्व का नहीं है। डार्विन के असिद्ध विकास-मत ने उन्हें सहायता दी।

इन कल्पनाओं का आधार सर्वथा अपूर्ण और निराधार "भाषा विज्ञान" पर रक्खा गया। विज्ञान का गन्धमात्र न रखने वाले तर्क-हीन मतों का विज्ञान का नाम दिया गया, और इस प्रकार सिद्ध करने का यत्न किया गया कि एक मूल भारोपीय (इण्डोयोरोपीयन) भाषा थी। संस्कृत उसकी दूसरी पीढ़ी में उत्पन्न हुई। सन् १९१५ से हित्ती भाषा का अध्ययन अधिक हुआ। इस के इतिहास को भी कल्पित रंग में रंगा गया। तब संस्कृत को भारोपीय भाषा-वर्ग की तीसरी पीढी में कर दिया गया।

एतन्मत-परीक्षा—वेद की शाखाओं का इतिहास लिखने से पूर्व यह आवश्यक प्रतीत होता है कि योरोप के अर्हंमन्य अध्यापक-ब्रुवों के इस 'भाषा-विज्ञान' की कुछ परीक्षा की जाए। इस कथित 'भाषा-विज्ञान' के अतिव्याप्ति और अव्याप्ति-दोषपूर्ण कल्पित नियमों की समालोचना करने से पूर्व 'दैवी-वाक् और मानुषी-वाक् का भेद तथा संस्कृत ही सृष्टि के आरम्भ में सप्तद्वीपा वसुमती की व्यावहारिकी भाषा थी' इन विषयों को जान लेना अत्यावश्यक है।

यद्यपि हमने इस इतिहास के ब्राह्मण-भाग के प्रथम संस्करण पृष्ठ

---

१. सामान्य भाषाविज्ञान, पृष्ठ १५०, संस्क० ४, सं० २०१०।

२ यथा—द्राविड़ भाषाएं संस्कृत से सम्बन्ध नहीं रखतीं। अरविन्द घोष ने लिखा है कि द्राविड़ भाषाएं भी संस्कृत से ही निकली हैं। महाभारत अनु० पर्व ६१।२२ तथा १४६।१७ में द्राविड पुराने क्षत्रिय कहे गए हैं।

१०४–१०८ पर तथा भारतवर्ष का बृहद् इतिहास पृष्ठ ४२–५५ तथा ७२ ७६ पर इस पृथिवी पर लोक-भाषा और वेद वाक् की समकालिकता के कतिपय तर्क दिए थे, तथापि उत्तरवर्ती रीनो और बरो आदि योरोपीय तथा बटकृष्ण घोष आदि उनके अनुयायियों ने उनका स्पर्शमात्र नहीं किया और अपनी रट लगाते रहे। उनके अधूरे ज्ञान की यही अभिव्यक्ति है।

अब हम इस विषय पर कुछ अधिक विस्तार से प्रकाश डालने वाली सामग्री प्रस्तुत करते हैं।

दैवी-वाक्

संसार की पुरातन जातियों ने दैवी-वाक् का जो सिद्धान्त ग्रहण किया, वह शुद्ध वैदिक सिद्धान्त है। इस को समझने के लिए दैवी वाक् और देवों के स्वरूप को, जिस के विषय में योरोप ने अनेक भ्रान्तियां फैलाई हैं, यत्किंचित् समझना अत्यावश्यक है। उसके लिये अगली पंक्तियां लिखी जाती हैं।

भाषा की उत्पत्ति का आर्षवाद

१ **भर्तृहरि और वाक् सिद्धान्त**—महान् वैयाकरण और व्याकरण आगम के उद्धारक भर्तृहरि (लगभग प्रथम शती विक्रम) ने अपने बहुमूल्य ग्रन्थ वाक्यपदीय के आगमकाण्ड का आरम्भ निम्नलिखित श्लोक से किया है—

अनादि-निधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥१॥

अर्थात्—अनादि और निधन-रहित, अविनाशी शब्दतत्त्व रूप जो ब्रह्म है, वह अर्थ के भाव से विवर्त को प्राप्त होता है, उस से जगत् की प्रक्रिया निकली।[1]

इस का भाव यह है कि शब्द ब्रह्म अनादि है। ब्राह्मण ग्रन्थ में भी यही भाव अभिव्यक्त किया है—

न वै वाक् क्षीयते। ऐ० ब्रा० ५।१६॥

अर्थात्—वाक् नष्ट नहीं होती।

आगम काण्ड की समाप्ति पर सूक्ष्म-दार्शनिक भर्तृहरि उपसंहार के रूप में लिखता है—

दैवी वाग् व्यतिकीर्णेयम् अशक्तैरभिधातृभिः।

---

१. तुलना करो—शत० ब्रा० ८।१।२।६॥

अनित्यदर्शिनां त्वस्मिन् वादे बुद्धिविपर्यय· ॥१५५॥[1]

अर्थात्—यह दैवी वाक् [बहुरूपों में] बिखरी, अशक्त बोलने वालों के कारण [अर्थात् बोलने वालों की सामर्थ्यहीनता से बहुविध अपभ्रंशों में बिखरी]। [वाक् को] अनित्य मानने वालों का इस वाद में बुद्धि का विपर्यास है।

आदि सृष्टि से लेकर कृतयुग के अन्त तक ससार की वाक् शुद्ध थी। तत्पश्चात् बोलने वालों की अशक्ति के कारण प्राकृतों का प्रादुर्भाव हुआ।

२. व्याडि और दैवी वाक्—भर्तृहरि से पूर्व व्याडि ने दैवी वाक् के विषय में क्या लिखा था, यह अज्ञात है। था व्याडि भी शब्दब्रह्मवादी। कृष्णचरित में महाराज समुद्रगुप्त ने लिखा है—

रसाचार्यः कविर्व्याडि शब्दब्रह्मैकवाङ्मुनिः ॥१६॥

अर्थात्—आचार्य व्याडि शब्दब्रह्मैकवाद का प्रतिपादक था।

३ शौनक और सौरी वाक्—व्याडि के समकालिक शौनक मुनि (विक्रम से २८०० वर्ष पूर्व) ने अपने बृहद्देवता ४।११२–११४ में सौरी वाक का विलक्षण प्रकार से वर्णन किया है—

सौदासस्य महायज्ञे शक्तिना गाथिसूनवे।
निगृहीतं बलाच्चेत सोऽवसीदद् विचेतन· ॥
तस्मै ब्राह्मीं तु सौरीं वा नाम्ना वाचं ससर्परीम्।
सूर्यक्षयाद् इहाहृत्य ददुस्ते जमदग्नयः ॥
कुशिकानां ततः सा वाग् अमतिं तामपाहनत्।

अर्थात्—सौदास के महायज्ञ में [वसिष्ठ-पुत्र] शक्ति द्वारा गाथि-पुत्र [विश्वामित्र] के चित्त के बलपूर्वक निगृहीत होने पर, वह गाथिपुत्र सज्ञा-हीन हो कर गिरा। उस [विश्व] के लिए ब्राह्मी अथवा सौरी नाम की ससर्परी[2] वाक् को, सूर्य-गृह से इस पृथ्वी पर ला कर उन जमदग्नियों ने उस के लिए

---

१. तथा तुलना करो – वाक्यपदीय १।१२१—शब्दस्य परिणामोऽयम् इत्याम्नायविदो विदु·। छन्दोभ्य एव प्रथमम् एतद् विश्वं व्यवर्तत ॥

२. लोकों की गति बहुविधा है। पक्षि-सदृश गति करने वाले लोक, वयासि और सर्प-सदृश गति वाले सर्प कहाते हैं। सर्प सदृश गति करने वाले लोकों की वाक् ससर्परी है।

दिया। उस वाक् ने कुशिकों की उस अमति [=सज्ञा-हीनता] को नष्ट कर दिया।

ब्राह्मी अथवा सौरी नामिका ससर्परी वाक् सूर्यगृह से पृथ्वी पर कैसे लाई गई, वह नष्ट-चेतना को किस प्रकार परे हटाती है, जमदग्नियों ने किस प्रकार प्रेम के कारण विश्वामित्रों को चेतना युक्त कर दिया, इन गम्भीर विषयों के स्पष्टीकरण का यहा स्थान नहीं है। ये श्लोक यहां इस लिए उद्धृत किए गये हैं, कि जिस वाक् को अन्यत्र देवी अथवा दैवी कहा गया, उसे ही यहां ब्राह्मी अथवा सौरी कहा है, इस पर पाठक का ध्यान आकृष्ट हो।

सौरी का अर्थ—सौरी का अर्थ है, सुरों अर्थात् देवों की। देवों की वाक् होने से इसे दिव्य-वाक् भी कहते हैं।

४. आपस्तम्ब और दैवी वाक्—आपस्तम्ब श्रौतसूत्र का वचन है—

अथ यजमानो व्रतमुपैति वाच यच्छत्यनृतात् सत्यमुपैमि मानुषाद् दैव्यमुपैमि दैवीं वाचं यच्छामि। ५।२।८।१॥

इस पर धूर्तस्वामी का भाष्य है —

दै [दि] वाभिधानाद् दैविकी—दैवी वाक्।

अर्थात्—मानुष वाक् है और दैवी वाक्।

५. व्यास और दिव्या वाक्—महाभारत शान्तिपर्व अ० २३१ में कृष्ण द्वैपायन व्यास मुनि (विक्रम से ३००० वर्ष पूर्व) ने निम्नलिखित श्लोक कहा है—

> **अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा।**
> **आदौ वेदमयी दिव्या यत. सर्वा. प्रवृत्तयः॥**

अर्थात्—आदि और निधन रहित नित्य वाक् स्वयभू ब्रह्म ने उत्सृष्ट की। आदि में वेदमयी दिव्य वाक् थी। उस वाक् से ससार की सब प्रवृत्तियां हुईं।

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय का पूर्वोद्धृत प्रथम श्लोक, इसी श्लोक की छाया पर रचा है।

भाषा-शास्त्र का महान् तथ्य—इस श्लोक में ऐसे वैज्ञानिक तथ्य का सकेत है, जो ससार में अन्यत्र नहीं मिलता। उत्सृष्टा का अर्थ है—त्यागी, मुक्त की, बाहर निकाली। यह उत्सृष्टा-वाक् दिव्य अर्थात् देवों की वाक् थी।

किस प्रकार के देवों की वाक्, यह आगे स्पष्ट करेंगे। इस वाक् को विराट्रूप में स्थित श्री भगवान् ब्रह्मा अथवा प्रजापति पुरुष ने उत्सृष्ट किया। उसे ही मानुषों के आदि-पुरुष ब्रह्मदेव ने पृथिवी पर पुनः प्रकट किया।

६ यास्क और दैवी वाक्—शौनक के पूर्ववर्ती और भारत युद्ध के आस-पास अपने निरुक्त को लिखने वाले उदारधी मुनि यास्क ने लिखा है—

तेषां मनुष्यवद् देवताभिधानम्।

अर्थात्—उन [शब्दों] से मनुष्य के समान देवताओं का भी अभिधान=कथन होता है।

शब्दों के द्वारा ही इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि आकाशस्थ देवताओं ने कथन किया है।

७ ब्राह्मण ग्रन्थ और दैवी वाक्—काठक और मैत्रायणी संहिता (विक्रम से ३२०० वर्ष पूर्व) अन्तर्गत ब्राह्मण पाठों में लिखा है—

देवा वै नानैव यज्ञान् अपश्यन्। इमम् अहम् इम त्वम् इति। .... अथैतं प्रजापतिः आहरत्। तस्मिन् देवा अपित्वम् ऐच्छन्त। तेभ्य. छन्दांसि उज्जितीः प्रायच्छद्।.....यावन्तो हि देवा सोम-मपिबन् ते वाजमगच्छन्। तस्मात् सर्व एव सोमं पिपासति। वाग्वै वाजस्य प्रसव.। सा वाग् सृष्टा चतुर्धा व्यभवत्। एषु लोकेषु त्रीणि तुरीयाणि, पशुषु तुरीयम्।

या दिवि सा बृहति सा स्तनयित्नौ।
या-अन्तरिक्षे सा वाते सा वामदेव्ये।
या पृथिव्यां साग्नौ सा रथन्तरे।

या पशुषु तस्या यद् अतिरिच्यत तां ब्राह्मणे न्यदधुः।

तस्माद् ब्राह्मण उभे वाचौ वदति दैवीं च मानुषीं च। करोति वाचा वीर्यं य एवं वेद। काठक सं० १४।५॥[1]

अर्थात्—[आकाशस्थ] देवों ने नाना यज्ञ देखे। इस [यज्ञ] को मैं [करूंगा] इस को तुम। .. फिर इस को प्रजापति ने किया। उसमें देवों ने भाग चाहा। [प्रजापति ने] उन [देवों] के लिए छन्द-रूपी विजय को दिया। ......जितने देवों ने सोम [द्युलोकस्थ] आपों का सार पिया, वे वाज=शक्ति

१. तुलना करो—श० ब्रा० ४।१।३।१६॥

अथवा बल को प्राप्त हुए। इसलिए सब सोम को पीने की इच्छा करते हैं। वाणी ही शक्ति का उत्पत्ति स्थान है। वह वाणी दर्शन में आई, चार प्रकार से विस्तृत हुई। इन लोकों में तीन चौथाइया। पशुओं म एक-चौथाई। ..
इसलिए ब्राह्मण दोनों वाणियों को बोलता है, दैवी को और मानुषी को।

इस लम्बे उद्धरण के देने का यही प्रयोजन है कि इस ब्राह्मण वचन में भी दैवी वाक् का उल्लेख उपलब्ध होता है। काठक संहिता के पाठ से लगभग मिलता जुलता पाठ मैत्रायणी-संहिता १।११।५ मे भी दृष्टिगत होता है। इन दोनों पाठों से बहुत कुछ मिलता, पर किसी अन्य ब्राह्मण का सर्वथा स्वतन्त्र पाठ निरुक्त १३।८ में भी मिलता है। यथा—

तस्माद् ब्राह्मण उभयीं वाच वदति। या च देवानां या च मनुष्याणाम्॥

अर्थात्—इस लिए ब्राह्मण दोनों प्रकार की वाक् को बोलता है, जो देवों की और जो मनुष्यों की।

इस से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण-प्रवक्ता ऋषि मनुष्यों की वाणी के अतिरिक्त देवों की वाक् का भी ज्ञान रखते थे।

मनुष्यों की वाक् थी लौकिक संस्कृत, और देवों की वाक् थी वेदवाणी।

वैष्णवी वाक्—अधियज्ञ के विचार में एक अन्य तथ्य भी ध्यान देने योग्य है। यज्ञ के समय यजमान और याज्ञिकों के मौन रहने का विधान है—**स वै वाचयम एव स्यात्**। शत० १।७।४।१६॥ इस रहस्य का आधार स्पष्ट है। यज्ञ मन्त्रों द्वारा सम्पन्न होता है। मन्त्र दैवी-वाक् हैं। उनके द्वारा कर्म की सम्पन्नता के काल में मानुषी वाक् का प्रयोग कर्म का ध्वंसकारी हो जाता है। दो विभिन्न वाक् अन्तरिक्ष में विरोध की जनक हो जाती हैं। अत यदि यज्ञ में मानुषी वाक् बोल बैठे, तो उसके प्रायश्चित्त के निमित्त दैवी वाक् का जप करे। देवों में विष्णु [=सूत्रात्मा वायु][2] अन्तिम है। तदुच्चरित ऋक् अथवा यजुरूपी वाक् के बोलने से प्रसंग विशेष में वह प्रायश्चित्त सम्पन्न होता है। अत शतपथ १।७।४।२० में आगे कहा है—

स यदि पुरा मानुषीं वाचं व्याहरेत्।
वैष्णवीमृचं वा यजुर्वा जपेत्॥

---

२ इसका स्पष्टीकरण पुनः होगा। तुलना करो—सूतसंहिता १।११।६—
तत्रस्थो भगवान् विष्णु. सूत्रात्मेति प्रकीर्तितः।

इस से स्पष्ट है कि आरम्भ से ऋक् और यजु मानुषी वाक् से भिन्न हैं।

८ **दैवी वाक् और मन्त्र-समाम्नाय**— इस विषय के स्पष्टीकरण के लिए हम ऋग्वेद के कुछ मन्त्र अथवा मन्त्रांश आगे उद्धृत करते हैं—

(क) उप यो नमो नमसि स्तभायन् इयर्ति वाचं जनयन् यजध्यै ॥४।२१।५॥

अर्थात्—जो [अन्तरिक्षस्थ इन्द्र, लोकों को] उप स्तभायन्=स्थिर करता हुआ, अन्न को हवि में प्रेरित करता है, वाणी को उत्पन्न करता हुआ, यज्ञार्थ।

(ख) ब्राह्मणास. सोमिनो वाचमक्रत। ७।१०३।८॥

अर्थात्—ब्राह्मण सोम पीने वालों ने वाणी को किया

(ग) यद्वाग् वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा।
चतस्र ऊर्जं दुदुहे पयांसि क्व स्विदस्याः परमञ्जगाम॥

ऋ० ८।१००।१०॥

यह मन्त्र निरुक्त ११।२८ में माध्यमिका वाक् के व्याख्यान में उद्धृत है।

अर्थात्—जब वाणी, बोलती हुई अस्पष्ट—अविज्ञात [पदों] को, राष्ट्री=ईश्वरी मध्यमस्थानी देवों की, बैठी चित्ताकर्षक बोली वाली। चारों [अनुदिशाओं] के अन्न-जल को [इस वाणी ने] दोहन किया। कहां इस [वाणी का] अति सुन्दर रूप [अब] गया।

स्मरण रखना चाहिए कि इस मंत्र में वाणी को मध्यस्थानी देवों की राष्ट्री अथवा उन पर राज्य करने वाली कहा है।

(घ) ऋग्वेद के वाक्-सूक्त में वाणी स्वयं कहती है—

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्॥

ऋ० १०।१२५।३॥

अर्थात्—मैं राष्ट्री, एकत्र करने वाली वसुओं की, ज्ञानवती, प्रथमा[1] यज्ञिय पदार्थों में। ऐसी मुझे देवों ने बनाया बहुत स्थानों में, अनेक स्थानों में प्रवेश करने वाली को।

---

१. भर्तृहरि—यतः सर्वाः प्रवृत्तयः। वाक्य० १।१॥

इस मन्त्र में पुनः स्पष्ट उल्लेख है कि वाक् राष्ट्री है। इसे देवों ने रखा वा बनाया है।

अथर्ववेद ४।१।२ में निम्नलिखित मन्त्र है—

इयं पित्र्ये राष्ट्र्येत्वग्रे।

यह मन्त्र ऐतरेय ब्राह्मण में (अ० ४ ख० २) में प्रतीक-मात्र से पढ़ा गया है। अतः निश्चित ही वह कभी ऋग्वेदीय ऐतरेय संहिता में सुरक्षित था। इस मन्त्र की व्याख्या में ऐतरेय ब्राह्मण में "**वाग्वै राष्ट्री**" कहा है।

अगला मन्त्र अति स्पष्ट रूप से दैवी वाक् का वर्णन करता है—

(ङ) **देवीं वाचमजनयन्त देवास् तां विश्वरूपा पशवो वदन्ति।**
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना[1] **धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु॥**

ऋ० ८।१००।११॥

अर्थात्—देवी वाक् को उत्पन्न किया देवों ने। उस को सब प्रकार के पशु=मनुष्य आदि बोलते हैं। वह चित्ताकर्षक बोली वाली, हमारे लिये अन्न और रस को दुहाती हुई धेनु-रूपी वाक्, भले प्रकार स्तुता, हमें प्राप्त हो। माध्यमिका वाक् अन्न और रस के दुहाने का क्या काम करती है, यह विज्ञान का गंभीर विषय है।

यदि वह देवी वाक् आकाशीय मध्यस्थान में उत्पन्न न होती तो संसार मात्र में कोई ध्वनि उत्पन्न न हो सकती। इस माध्यमिका वाक् का रूपान्तर व्यक्त और अव्यक्त वाक् है। जिस प्रकार महान् मन तथा दिव्य-चक्षु का मानव-मन और प्राणीमात्र के नेत्र से सम्बन्ध है, उसी प्रकार दैवी वाक् का सम्पूर्ण वाक् से सम्बन्ध है। जिस प्रकार पहले अग्नि उत्पन्न हुआ और तत्पश्चात् सूर्य आदि बने, इसी प्रकार पहले शब्दगुण धारण करने वाला आकाश उत्पन्न हुआ और तदनन्तर माध्यमिका वाक् बनी। तत्पश्चात् मानुषी वाक् बनी।

(ग) से (ङ) तक मन्त्रों को यहां उद्धृत करने का हमारा केवल इतना प्रयोजन है कि इन मन्त्रों में वाक् को **देवों की ईश्वरीय**, देव-निर्मिता तथा देवी कहा है।

---

१ इस मन्त्रस्थ पद की छाया पर मनु ने 'दुदोह' (१।२४) पद का प्रयोग किया और वाणी की धेनु से तुलना की।

आकाशस्थ ऋषि वाक्-कर्ता

(च) वसिष्ठासः पितृवद् वाचमक्रत देवाँ ईळाना ऋषिवत् स्वस्तये ।
ऋ० १०।६६।१४॥

अर्थात्—[आकाशस्थ] वसिष्ठों ने पितरों के समान वाणी को किया, देवों की स्तुति करते हुओं ने, ऋषि के समान कल्याण के लिए[1] ।

पूर्वलिखित पङ्क्तियों में भर्तृहरि, शौनक, व्यास, यास्क और कठ आदि मुनियों के वचनों से यह दर्शाया गया है कि वे दैवी वाक् के अस्तित्व को स्वीकार करते थे । तत्पश्चात् यह भी स्पष्ट किया गया है कि मन्त्रों में भी दैवी वाक् का उल्लेख पाया जाता है ।

निरुक्तकार यास्क यह भी लिखता है कि मानुष वाक् से सर्वथा भिन्न देवों की वाक् होती है । यही नहीं, निरुक्त में उद्धृत ब्राह्मण-पाठ से स्पष्ट ज्ञात होता है कि आकाशस्थ **देवों की वाक्** भी है ।

इन सब प्रमाणों से निम्नलिखित बातें ज्ञात होती हैं—

१ सारा जगत् दैवी वाक् का विवर्त है ।

२. संसार मात्र की अपभ्रंश भाषाएं दैवी वाक् की व्यतिकीर्णता से उत्पन्न हुईं ।

३. दैवी अथवा सौरी वाक् को ब्राह्मी वाक् भी कहते हैं ।

४ दिव्या वाक् को आदि में स्वयम्भू ब्रह्म ने उत्सृष्टा ।

५ वाणी उस समय विस्तृत हुई, जब आकाशस्थ देव नाना यज्ञ करने लगे ।

६. आकाशस्थ यज्ञार्थ इन्द्र वाणी को उत्पन्न करता है ।

७. आकाशस्थ ब्राह्मण और वसिष्ठ वाणी को उत्पन्न करते हैं ।

८. आकाशस्थ ऋषि और पितर वाणी को उत्पन्न करते हैं ।

ये विषय इतने गम्भीर और विज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले हैं कि इन में से प्रत्येक पर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा जा सकता है । हम यहां सर्वप्रथम वाणी के उत्पादक देव कौन थे, इस का वर्णन करेंगे ।

---

१. (ख) और (च) की तुलना करो—**यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत** (ऋ० १०।७१।२) । यह मन्त्र पातञ्जल व्याकरण महाभाष्य के पस्पशाह्निक में उद्धृत है ।

वाणी के उत्पादक देव

सृष्टि उत्पत्ति के सूक्ष्म ज्ञान के बिना यह विषय समझा नहीं जा सकता। अतः जगद् उत्पत्ति का कुछ वर्णन आगे किया जाता है।

सृष्टि-क्रम सांख्य शास्त्रों में—आर्य शास्त्रों में सृष्टि उत्पत्ति का अति सुन्दर और वैज्ञानिक वर्णन सुरक्षित है। यरोपीय लोगों ने इस विषय पर जितने भी ग्रन्थ लिखे हैं, उनमें सृष्टि उत्पत्ति का वर्णन आंशिकरूपेण ठीक है, पर अधिकांश में निराधार और कल्पित है।

ज्ञान की उत्तरोत्तर उन्नति (progress) का अभिमान करने वालों को हमारा अगला लेख ध्यान से पढ़ना चाहिये। यह विषय प्रधानता से सांख्य शास्त्र का है, पर उपलब्ध सांख्य दर्शन और सांख्य-सप्तति से इस विषय का पूरा ज्ञान नहीं होता। विशद ज्ञान होता है, मनुस्मृति, महाभारत और पुराणों के सर्ग-प्रतिसर्ग-उल्लेख तथा ब्राह्मण ग्रन्थों से। इन ग्रन्थों में प्राचीन सांख्य की सृष्टि-उत्पत्ति-विषयक पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती है।

सृष्टि-क्रम—तदनुसार प्रकृति का गुण-साम्य ईश्वर-प्रेरणा से रजोगुण के प्रधान होने पर भग हुआ। गुणों में वैषम्य आया (वायु ५।६), तब महान् उत्पन्न हुआ। यह महान् ईश्वर-प्रेरणा से प्रेरित सृष्टि करता है। भूतचिन्तक अथवा स्वभाववादी इस महान् से पूर्व की दशा को नहीं जानते। योरोपीय साइण्टिस्ट्स जो सृष्टि का कारण स्वभाव [nature] में ही ढूंढते हैं, वे भूतों तक यत् किञ्चित् सोच पाए हैं। इन से पूर्व की अवस्थाएं उनके लिए अभी स्वप्नमात्र हैं। महान् से अहंकार उपजता है।

अहंकार=मन—अहंकार व्यापक मन है। यह सारा विकृति को प्राप्त नहीं होता। केवल इसका एक अंश विकृति को ग्रहण करता है। जब मन्त्रों में—

मनसा वाचमकृत । ऋ० १०।७१।२॥

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह । अथर्व० १।१।२॥

आदि पद मिलते हैं, तो उनका संकेत इस व्यापक मन से होता है। इसी मन से देवी वाक् सम्बन्ध रखती है।

तन्मात्रा और महाभूत—अहंकार के पश्चात् क्रमशः भूतों की तन्मात्राएं उत्पन्न होती हैं। यह भूतों का अति सूक्ष्म रूप है। यहां तक की सृष्टि **अविशेष**-सृष्टि कहाती है। इसके पश्चात् महाभूत अथवा स्थूल भूत उत्पन्न होते हैं।

विशेष—स्थूल भूतों को विशेष कहते हैं। विशेष इन्द्रियग्राह्य हो जाते हैं। इन विशेषों का अद्भुत ज्ञान प्रदर्शन करने के कारण भी कणाद मुनि के शास्त्र को **वैशेषिक** शास्त्र कहते हैं। वर्तमान पश्चिमीय साइंस इस ज्ञान की तुलना में बहुत अधूरा है।

आप-सृष्टि—इस सृष्टि में आप प्रधान और व्यापक हो गई। शतपथ-ब्राह्मण ६।१।३।१ से प्रजापति द्वारा **आपों** से सृष्टि-उत्पत्ति का कथन है। मनुस्मृति १।८ में भी यहीं से उत्पत्ति क्रम कहा है।

ब्राह्मण ग्रन्थों के सृष्टि-उत्पत्ति विषयक सब प्रकरणों में आपः सदा स्त्री-स्थानी हैं। **योषा वा आप**। शत० १।१।१।१८॥ इसलिए दैवी-वाक् और उसकी अनुकरणकर्त्री संस्कृत भाषा में **आपः** शब्द नियत स्त्रीलिङ्ग में ही व्यवहृत होता है।

आप का स्वरूप—आप पद से यहां जलों का अभिप्राय नहीं। **आप** तन्मात्राओं और महाभूत जल के मध्य की अवस्था का नाम है।

मैकडानल की भ्रान्ति—मन्त्रगत विद्या को अणुमात्र न समझता हुआ, आक्सफोर्ड का परलोकगत अध्यापक आर्थर एन्थनि मैकडानल—**सलिलस्य मध्यात्** ऋ० ७।४९।१ का अर्थ करता है—**from the midst of the sea** । सलिल का यह अर्थ नहीं बनता। पुन.—**अप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्** ऋ० १०।१२९।३ में वह सलिल का अर्थ **water (Vedic Reader p. 21)** करता है। यह भी सर्वथा अयुक्त है। सृष्टि उत्पत्ति के प्रकरणों में **सलिल** पारिभाषिक शब्द है।

हमने शतपथ ब्राह्मण के आगे-उद्धृत-वचन में सलिल का अर्थ—एकार्णवी भूतावस्था वाला किया है। मन्त्रों में इसे ही अर्णव समुद्र कहा है। यह महाभारत और वायुपुराण (१०।१७८) की व्याख्या के अनुसार है।

मैकडानल ने आप का अर्थ **Aerial Water** किया है। वस्तुत अंग्रेजी भाषा और पश्चिमीय साइन्स में सलिल और आप के लिए कोई शब्द नहीं है। योरोपीय साइंस इस ज्ञान तक नहीं पहुंचा।

आप से प्रजापति पर्यन्त—बृहदारण्यक में अत्यन्त सुन्दर और संक्षिप्त रूप से इस क्रम का उल्लेख है—

आप एवेदमग्र आसु । ता आप सत्यमसृजन्त । सत्यं ब्रह्म, ब्रह्म प्रजापतिम्, प्रजापतिर्देवान् ।५।५।१॥

अर्थात्—आप ही पहले थे। उन आपों ने सत्य (=बीज ?) को सृजा, सत्य ने ब्रह्म (=अण्ड) को, अण्ड ने प्रजापति (=पुरुष) को। प्रजापति ने देवों को।

देवों की उत्पत्ति का यह क्रम समझे बिना वेदमन्त्रों का अभिप्राय स्पष्ट नहीं हो सकता।

अण्ड की उत्पत्ति—वायुपुराण अध्याय ४ में लिखा है—

पुरुषाधिष्ठितत्वाच्च अव्यक्तानुग्रहेण च ।
महदाद्यो विशेषान्ता अण्डमुत्पादयन्ति ते ॥७४॥
एककालं समुत्पन्नं जलबुद्बुदवच्च तत् ।
विशेषेभ्योऽण्डमभवद् बृहत्तदुदकं च यत् ॥७५॥

अर्थात्—पुरुष के अधिष्ठान के कारण और अव्यक्त प्रकृति की कृपा से महत् से विशेषपर्यन्त पदार्थ अण्ड को उत्पन्न करते हैं। जल के बुलबुले के समान अण्ड सहसा उत्पन्न हुआ [इसमें समय नहीं लगा]।

वेद में गर्भ=अण्ड की उत्पत्ति—मन्त्र में कहा है—

तमिद् गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे ।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः ॥
ऋ० १०।८२।६॥

अर्थात्—उस गर्भ (अथवा अण्ड) को पहले धारण करते थे आप, जहां विश्वे देवाः एकत्रित थे। अज अर्थात्-सत्त्व, रज और तम की साम्यावस्था की नाभी [=मध्य] में। वह एक था जिसमें सम्पूर्ण भुवन ठहरे थे।

अजस्य नाभौ—पद अति गम्भीर विचार योग्य है।

एक दूसरी ऋचा भी इस अर्थ को प्रकट करती है—

आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम् ।
ऋ० १०।१२१।७॥

अर्थात्—आप निश्चय से जो महान् [थे], विश्व में व्यापक थे। (अण्ड अथवा) गर्भ को धारण करते हुए, [और] उत्पन्न करते हुए अग्नि को।

वेदमन्त्रों में वर्णित इस आश्चर्यजनक वैज्ञानिक सत्य को वायुपुराण (अ० ४) भी कहता है—

अन्तस्तस्मिन् त्विमे लोका अन्तर्विश्वमिदं जगत् ॥८२॥
चन्द्रादित्यौ सनक्षत्रौ सग्रहौ सह वायुना ।
लोकालोकं च यत् किञ्चिच्चाण्डे तस्मिन् समर्पितम् ॥८३॥
अद्भिर्दशगुणाभिस्तु बाह्यतोऽण्डं समावृतम् ॥८४॥

अर्थात्—अन्दर उसके ये लोक, अन्दर सम्पूर्ण जगत् । चन्द्र, आदित्य, नक्षत्र, ग्रह साथ वायु के (उसमें थे) । प्रकाशयुक्त और अन्धकारयुक्त जो कुछ था, उस अण्ड में था । आपों से जो दश गुणा थे, बाहर से वह अण्ड आवृत था ।

पूर्व उद्धृत वेद मन्त्रों का यह सुन्दर भाष्य है ।

हिरण्यगर्भ = महदण्ड—इस क्रमिक परिणाम के पश्चात् अथवा महाभूतों के सृजन के अनन्तर, तथा आपों के प्रधान होने पर, उन आपों में हिरण्यगर्भ का प्रादुर्भाव हुआ ।

पूर्व-प्रदर्शित विषय का कुछ विस्तार करते हुए शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—

आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास । ता अकामयन्त । कथं नु प्रजायेमहि इति । ता अश्राम्यन् । तास्तपोऽतप्यन्त । तासु तपस्तप्यमानासु हिरण्यमाण्डं सम्बभूव । तदिदं हिरण्यमाण्डं यावत् संवत्सरस्य वेला तावत् पर्यप्लवत । ततः संवत्सरे पुरुष. समभवत् । स प्रजापतिः ।११।१।६।१॥

अर्थात्—आप निश्चय ही आरंभ में सलिलावस्था[1] (एकार्णवीभूतावस्था) में ही थे । उन में (स्वयंभू ब्रह्म द्वारा) कामना हुई । कैसे हम प्रजारूप में फैलें । उन्होंने श्रम किया । उन्हों ने तप तपा । उन तप तपते हुओं में हिरण्याण्ड उत्पन्न हुआ । (वह) हिरण्याण्ड जब तक (एक देव) वर्ष का काल, तब तक चक्र में तैरता रहा । तब सवत्सर (के बीत जाने) पर पुरुष प्रकट हुआ ।[2] वह प्रजापति था ।

हिरण्याण्ड की उत्पत्ति का यह वर्णन कितना वैज्ञानिक है ।

---

१. जहां सब लीन था ।　　२. पुरुष सूक्त इस पुरुष का वर्णन करता है ।

वह अण्ड अग्नि के प्रभाव के कारण **हैमवर्ण** और **सहस्रांशु समप्रभ** (मनु १।६) हो गया। इस हिरण्यगर्भ को स्वयभू ब्रह्म ने अपना, महान् विराट् शरीर बनाया। ब्राह्मण ग्रन्थों में इस हेमाभ महान् अण्ड को बहुधा पुरुष अथवा **प्रजापति** भी कहा है।

आपों से आवृत—यह अण्ड **आपों** में उत्पन्न हुआ, अतः **आपों** से घिरा था। ये **आप** नारायण के निवास थे।

हिरण्यगर्भ स्थिर नहीं था, पर आपो में तैरने अथवा डोलने के अतिरिक्त, किस गति में था, इस का प्रमाण अभी ढूंढा नहीं जा सका।

पृथिवी, ग्रह और नक्षत्रों की आदि-गति का मूल-कारण—हिरण्यगर्भ स्थिर नहीं था, पर आपों मे चक्ररूप में तैरता था। यह चक्र में तैरना केवल महान् आत्मा की प्रेरणा से हुआ, अथवा इस का कारण भौतिक नियम भी हैं, इस का विश्लेषण हम अभी नहीं कर पाए। यह मूल गति है जो हिरण्याण्ड=प्रजापति की प्रजाओं अर्थात् पृथिवी आदिकों और सम्पूर्ण ग्रह-नक्षत्रों में चलती गई।

प्रजापति का प्रासर्पण—ताण्ड्य ब्राह्मण १६।१।१ में लिखा है—

प्रजापतिर्वा इदमेक आसीत्। नाहरासीन्न रात्रिरासीत्। सोऽस्मिन्नन्धे तमसि प्रासर्पत्।

अर्थात्—प्रजापति=पुरुष एक ही था, न दिन था न रात्रि थी। वह अन्धे [करने वाले] अन्धेरे में आगे आगे सरकता था।

अनेक लोक सर्प क्यों कहाए—जितने लोक-लोकान्तरों में यह प्रसर्पण गया, वे सर्प कहाते हैं।

अधिदैवत पक्ष में—**हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे** (ऋ० १०।१२१।१) मन्त्र का अर्थ भी इस हिरण्यगर्भ से सम्बन्ध रखता है।

आपों का फेन—आपों के तपने पर फेन उत्पन्न हुआ था। यथा—**ताऽअतप्यन्त ताः फेनमसृजन्त**। शत० ६।१।३।२॥ इस से आगे कहा है कि इन फेनों से मृत् अश सृजे गये।

महदण्ड फटा—यह अण्ड **आत्मनो ध्यानात्** (मनु० १।१२) अर्थात्—स्वयभू ब्रह्म के ध्यान से, तथा वायु के वेगयुक्त होने से दो टुकड़े हुआ। स्वयभू ने ध्यान से वायु मे बल उत्पन्न किया। वायुपुराण अ० २४ में लिखा है—

अन्ते वर्षसहस्रस्य वायुना तद् द्विधा कृतम् ॥७४॥

वायु का प्रभञ्जन नाम श्रति प्रसिद्ध है।

पुराण के पूर्वलिखित पाठ में कहा है कि उस अण्ड में वायु भी था। स्वयभू ने अपने ध्यान द्वारा वायु को प्रेरित किया। वायु के प्रकोप से यह घटना सम्पन्न हुई।

योरोप के वैज्ञानिकों के ग्रन्थों में इस घटना-तत्त्व का स्पष्ट शब्दों मे उल्लेख नहीं मिलता।

देवोत्पत्ति—प्रजापति पुरुष से देवों की उत्पत्ति हुई, यह बृहदारण्यक के पूर्व प्रमाण से स्पष्ट है। ये देव अनेक प्रकार के प्राण आदि हैं। इन का वैज्ञानिक स्वरूप समझने में कुछ काल लगेगा। ऋषि और पितर आदि भी इन के साथ साथ आकाश में उत्पन्न हुए। इस का अधिक विस्तार शतपथ काण्ड ६ के आरम्भ में किया गया है।

देव इन्द्र कौन है—शतपथ के इस प्रकरण में इन्द्र का स्वरूप स्पष्ट किया है। वह पांच प्राणों में मध्य का प्राण है। ये प्राण क्या हैं, इस रहस्य का ज्ञान वैदिक-विज्ञान के खुलने पर अधिक समझ आएगा। दूसरे देव भी इस प्रकार की भौतिक शक्तियां हैं। वे एक महान् भूतात्मा के रूप हैं। उसी महान् भूत का निःश्वास वेद आदि हैं।

लोक-निर्माण—महदण्ड के फटने पर तमोमय, गुरु, अधोभागरूपी शकल से अन्धकारयुक्त पृथिवी आदि लोक तथा सत्त्वमय लघु, प्रकाशयुक्त, उपरि भाग से प्रकाशमय लोक बने। सत्त्व भाग लघु होने से सदा ऊपर बना रहता है (तुलना करो, सांख्यसप्तति, कारिका १३)।

भूमि की प्राथमिकता—मनु० १।१३ के अनुसार हिरण्याण्ड के दो शकलों से दिव और भूमि का निर्माण हुआ।

तदनुसार भूमि तो पहले बनी और दिव के सूर्यग्रह आदि अनेक ग्रह पीछे सविता से अस्तित्व मे आए। ग्रह आदि के अस्तित्व मे आने के पश्चात् सूर्य का स्वतन्त्र अस्तित्व स्थिर हुआ। इस लिए भूमि के विषय में शतपथ ब्रा० में लिखा है—

इयमु [भूमि] वा एषां लोकानां प्रथममसृज्यत। ६।५।३।१॥

अर्थात्—यह भूमि इन लोकों में प्रथम उत्पन्न हुई। दैवी सृष्टि में

भू व्याहृति की उत्पत्ति के समय ही भूमि बनी थी—**स भूरिति व्याहरत। स भूमिमसृजत।** तै० ब्रा० २।२।४।२॥

इसी भाव को जैमिनि ब्राह्मण ने भी स्पष्ट किया है—

प्रजापतिर्यदग्रे व्याहरत् स भूरित्येव व्याहरत्। स इमाम् असृजत् १।१०१॥

बाईबल में इस सत्य की प्रतिध्वनि—कभी वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों का ज्ञान भूमण्डल पर फैला था। उत्तरवर्ती मतों में जो थोड़ा सा ज्ञान है, वह उसी मूल ज्ञान का रूपान्तर है। आरम्भ में हिरण्यगर्भ के दो भाग हुए। अधोभाग से भूमि बनी और उपरि भाग से द्युलोक। इस वैदिक भाव को यहूदी बाईबल ने निम्नलिखित शब्दों में सुरक्षित रखा है—

In the beginning God created the heaven and the earth.

इसी प्रकार सप्त महाव्याहृतियों के द्वारा सप्त लोक उत्पन्न हुए। उन्हीं के साथ ग्रह, नक्षत्र, चन्द्र और तारागण भी पृथक् हुए। तब प्रजापति प्रजा उत्पन्न करके निवृत्त हो कर सो गया।[1] इस उत्पत्ति का विस्तृत उल्लेख 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' भाग द्वितीय के प्रारम्भ में प्रकाशित कर रहे हैं।

दैवी यज्ञ—सृष्टि बन रही थी। आकाश में दैवी यज्ञ हो रहे थे। ये यज्ञ विचित्र थे। इन्हीं यज्ञों का प्रतिरूप पृथिवी पर किये जाने वाले मानुषी-यज्ञ हैं। इन यज्ञों में मन्त्र उच्चरित हो रहे थे। ये मन्त्र दैवी वाक् थे। मन्त्रों और ब्राह्मणों में लिखा है—

(क) **यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा.।** ऋ० १।१६४।५०॥

(ख) **प्रजापतिर्वा एक आसीत्। सोऽकामयत। यज्ञो भूत्वा प्रजा. सृजेय इति।** मै० स० १।६।३॥

अर्थात्—प्रजापति[= विराट्स्थ स्वयभू ब्रह्म] एक था। उसने कामना की, यज्ञरूप होकर प्रजाएं उत्पन्न करूं।

(ग) **असौ वा आदित्य इन्द्रः। रश्मय क्रीडय।**

मै० स० १।१०।१६॥

---

१. तै० ब्रा० १।२।६।१ ॥ तुलना करो बाईबिल—

And on the seventh day God ended his work. , which he had made, and he rested

(घ) असौ आदित्यः स्रुचो द्यौर्जुहूः । अन्तरिक्षम् उपभृत् । पृथिवी ध्रुवा । मै० सं० ४।१।१२॥

(ङ) असौ वै चन्द्रः पशुस्तं देवाः पौर्णमास्यामालभन्ते ।
शत० ६।२।२।१७॥

(च) इयं वा अग्निहोत्रस्य वेदिः । मै० सं० १।८।७॥

(छ) इन्द्रं जनयामेति । तेषां पृथिवी होता आसीत् । द्यौः अध्वर्युः । त्वष्टा अग्नीत् । मित्र उपवक्ता । का० सं० ।१।८।७॥

(ज) पुरुषो वै यज्ञः······ तस्य इयमेव जुहूः । शत० १।२।३॥

(झ) स वा एष संवत्सर एव यत् सौत्रामणिः ·········· ।
शत० १२।८।२।३६॥

(ञ) तदु होवाच वारुणिः, द्यौर्वा अग्निहोत्री । तस्या आदित्य एव वत्सः । जैमिनि ब्रा० १।६०॥

अर्थात्—इन यज्ञों में इन्द्र आदि देव, पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ-आदि लोक, ग्रह तथा नक्षत्र, पितर और ऋषि सब भाग ले रहे थे।

यह वेद की अपरिमिता महिमा है, जिसमें विज्ञान का समुद्र भरा है। वर्तमान साइंस इस विद्या के समीप भी पहुंच नहीं पाया।

बलि-रहित यज्ञ—ब्राह्मण ग्रन्थों में कभी अग्नि[1], कभी पृथिवी, कभी चन्द्र और कभी ग्रह आदि को पशु कहा है। आकाशस्थ यज्ञों में ये पशु वेदियों के समीप रहते थे। इन का वध नहीं हुआ। यज्ञ करने वाले देव अपने साथी देवों की बलि कैसे देते। इसलिए कृतयुग में इस पृथिवी पर जो यज्ञ मनुष्यों द्वारा हुए, उनमें कहीं बली नहीं दी गई। महाभारत, चरक-संहिता और वायुपुराण में ऐसा ही लिखा है। उत्तर-काल में पिष्ट-पशु का विधान हुआ। यज्ञों में पशु-वध सर्वथा नवीन कल्पना है।

यज्ञों में मन्त्र-पाठ—इन यज्ञों में ऋषि और देवता दिव्य वाणी में मन्त्र-पाठ करते थे। पञ्चभूतों, देवों और आकाशी ऋषियों में लोक-निर्माण

---

१. अग्निः पशुरासीत् तमालभन्त । तेनायजन्त । निरुक्त १२।४१ में उद्धृत ब्राह्मण पाठ। तुलना करो—अग्नि पशुरासीत्, तेनायजन्त । वायुः पशुरासीत् तेनायजन्त । सूर्यः पशुरासीत्, तेनायजन्त । शत० १३।२।७।१३, १४, १५ ॥

समय की विचित्र गतियों से जो ध्वनियां उठतीं और जो दैवी-गान होते थे, वे ही ये वेद-मन्त्र हैं। इनका आदि प्रेरक भगवान्, परमपुरुष है, जिस की सत्ता से अग्नि तपता है, वायु बहता है, सूर्य प्रकाश देता है। वह परब्रह्म इस सारी कला का प्रेरक है। इस लिए मन्त्र मनुष्य-निर्मित नहीं हैं। ये अपौरुषेय हैं। देवों और ऋषियों द्वारा ही आकाश में पहले सामगान हुए। पार्थिव ऋषियों को इन्हीं ध्वनियों का तदनु ज्ञान हुआ। ये ध्वनियां उन में ईश्वर कृपा से प्रविष्ट हुईं। मन्त्र कहता है—

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।

ऋ० १०।७१।३॥

अर्थात्—यज्ञ के द्वारा वाक् की समर्थता को प्राप्त हुए। उस वाक् को उन्हांने [देवों के] पश्चात् प्राप्त किया, ऋषियों में प्रविष्ट हुई को।

स्पष्ट है कि पार्थिव ऋषियों में इस प्रविष्ट हुई वाणी को पश्चात् प्राप्त किया गया। पहले वह आकाशी ऋषियों में थी। ये आकाशी ऋषि मन्त्रों में पूर्व ऋषि कहे गए हैं। इनकी तुलना में पार्थिव ऋषि नूतन ऋषि थे। देवा यज्ञ से जो मन्त्र पहले उच्चरित हुए, वे पुरातन और पूर्व मन्त्र थे। पश्चात् गाई गई स्तुतियां नई थीं।

मन्त्रों अथवा वाक् की उत्पत्ति का यह आधिदैवत-पक्ष अन्यत्र भी पाया जाता है। ऋग्वेद का प्रसिद्ध मन्त्र है—

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋच. सामानि जज्ञिरे, यजुस्तस्माद् अजायत। १०।९०।९॥

अर्थात्—उस [दैवी] यज्ञ से जो सर्वहुत था, ऋचाएं साम उत्पन्न हुए, यजु उससे उत्पन्न हुआ।

प्रविष्ट वाणी बाहर निकली—पृथिवी पर यह ज्ञान आदि पार्थिव-ऋषियों में ईश्वर-कृपा से प्रविष्ट हुआ। तब ज्ञान के प्रेम में निमग्न उन ऋषियों की हृदय-गुहा से यह व्यक्त दैवी-वाक् में बाहर निकला। यथा—

प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः। ऋ० १०।७१।१॥

छन्द उत्पत्ति—ब्राह्मण ग्रन्थों में यह तत्त्व भी बड़ा स्पष्ट है। इस महती-विद्या से ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण वैदिक छन्द सबसे पूर्व आकाश में उत्पन्न हुए थे। सम्भव है भविष्य के आर्य विद्वान् इस तत्त्व को परीक्षण द्वारा

द कर सकें। इस विषय पर प्रकाश डालते हुए आगम के विद्वान् भर्तृहरि अपने वाक्यपदीय के आगम-काण्ड में किसी लुप्त ऋक् शाखा का एक न्त्र पढ़ा है—

इन्द्राच्छन्दः प्रथम प्रास्यदन्नं तस्मादिमे नामरूपे विषूची।
नाम प्राणाच्छन्दसो रूपमुत्पन्नमेकं छन्दो बहुधा चाकशीति ॥[1]

अर्थात्—इन्द्र से छन्द प्रथम निकला।

अन्यत्र लिखा है, वृत्र-वध के समय इन्द्र महानाम्नी ऋचाओं की तरंग त्पन्न कर रहा था (कौ० ब्रा० २३।२), मरुत् उसके सहायक थे।

श्रौषट्-वौषट्-हिम्—याज्ञिक कर्मों में जहां कहीं, श्रौषट् वौषट् था हिंकार आदि ध्वनियां बोली जाती हैं, वे आकाशी ध्वनियों का अनुकरण मात्र हैं।

बृहदारण्यक में वाग् रूपी धेनु के चार स्तन कहे हैं—स्वाहाकार, वषट्-कार, हन्तकार और स्वधाकार। यथा—

वाचं धेनुमुपासीत। तस्याश्चत्वारः स्तनाः। स्वाहाकारो वषट्कारो हन्तकारः स्वधाकारः। बृह० उ० ५।८।१॥

आनुपूर्वी नित्य—ऋषियों ने मूल-मन्त्रों की आनुपूर्वी आज तक सुरक्षित रखी। आज तक अग्नि के स्थान में वह्नि शब्द कभी प्रयुक्त नहीं हुआ। हां, शाखाओं में कुछ परिवर्तन हुए, पर मूल का ज्ञान सदा ध्यान में रहा। इसी प्रकार संहिता-पाठ में **अग्निमीळे** के स्थान में **ईळेऽग्निम्** कभी नहीं हुआ। कारण स्पष्ट है, जो ध्वनि देवों ने आकाश में पैदा की, वही ध्वनि आज भी यज्ञ में उन पूर्व-घटित अवस्थाओं के साथ मनुष्य-मन को जोड़ सकती है। अतः आनुपूर्वी सदा स्थिर रखी गई। यह एक कारण है जिस से ज्ञात होता है कि वेद-वाणी मनुष्य रचित नहीं है। यह दैवी वाक् है और नित्य है। यदि चुम्बक की आकर्षण शक्ति और विद्युत् की तरंगों में नियम नित्य हैं, तो प्रति सृष्टि-उत्पत्ति में भौतिक शक्तियों का उद्गार होने से ये ही वेद-मन्त्र उत्पन्न होंगे। सृष्टि-क्रम सदा यही रहेगा, और मन्त्र आदि भी।

वेद में मानुष इतिहास का अभाव—वेद की वाणी आकाशी,[2]

---

१. देखो आगे, 'ऋग्वेद की ऋक् संख्या' प्रकरण।

२. मुसलमान इसी के अनुकरण पर कुरान को आस्मानी किताब कहते हैं।

वेद के देव आकाशी, मन्त्रगत ऋषि आकाशी, छन्द आकाशी, वेद में सृष्टि उत्पत्ति का ऐसा असाधारण ज्ञान, जो साइंस का अभिमान करने वाले योरोप में आज भी नहीं, फिर यदि ऐसे वेद को मनुष्य-रचित कहा जाए, और इस आकाशी वाणी में पार्थिव मनुष्यों और ऋषियों का इतिहास ढूंढा जाए, तो क्या यह अज्ञान की बात नहीं है ।

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने यह महान् सत्य प्रकाशित किया था कि वेद में इतिहास नहीं। निस्सन्देह वेदार्थ करने वाले को पहले वेद की प्रक्रिया समझनी चाहिए ।

ध्यान रहे कि वेद का अध्यात्म-परक अर्थ वेद के पूर्वोक्त अधिदैवत अर्थ के समझे बिना कदापि समझ नहीं आ सकता। जो भाष्यकार अधिदैवत अर्थ को यथार्थ नहीं समझ पाए, उन्होंने वेदार्थ नष्ट किया है। योरोपीय लेखकों को तो शब्दार्थ भी समझ नहीं आया। अतः ब्राह्मण और निरुक्त म कहे अधिदैवत और अधियज्ञ परक अर्थ अवश्य जानने चाहिए ।

मानवी भाषा की उत्पत्ति—दैवी वाक् का पक्ष अति संक्षिप्त रूप मे कह दिया। प्रसंगत. देव-विद्या भी थोड़ी सी लिख दी। अब यह स्पष्ट हो गया होगा कि दैवी वाक् मनुष्य-वाक् नहीं है। मनुष्य-वाक् संस्कृत है। आदि में वेद शब्दों के आश्रय पर यह भाषा बनी। इसीलिये स्वायंभुव मनु ने कहा—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥

अर्थात्—आदि में ब्रह्मा ने वेद-शब्दों से सब नाम आदि रखे।

प्रभातचन्द्र का प्रलाप—वेदवाक् और लोक-वाक् के विषय से सर्वथा-अनभिज्ञ, डार्विन के ज्ञानशून्य विकासमत के अनुयायी, भाषा-विषयक योरोपीय मिथ्या-ज्ञान के उच्छिष्ट-भोजी कलकत्ता के प्रभातचन्द्र चक्रवर्तीजी ने मनु के पूर्व-लिखित मत के खण्डन में लिखा—

It does not require a Herder or a Grimm to point out the absurdity and inconsistency of an unscientific view like this. To bring in the idea of God for explainig the origin of language . [1]

---

1 Linguistic Speculations of the Hindus, Calcutta University, 1933, p 21
ग्रन्थकार आर्य सिद्धान्तों का स्पर्श भी नहीं कर पाया है।

अर्थात्—मनु का मत कितना भद्दा और विज्ञानशून्य है, इसको बताने के लिए जर्मन-लेखक हर्डर[1] (सन् १७७२ अथवा) ग्रिम की आवश्यकता नहीं है। भाषा की उत्पत्ति के स्पष्टीकरण में ईश्वर को घसीटना युक्ति-सगत नहीं।

प्रभातचन्द्र जी भारतीय हैं। जब वे ही भाषा विषयक भारतीय मत नहीं समझ सके, तो संस्कृत-ज्ञान-शून्य हर्डर क्या समझ सकता था। हा एक बात सत्य है कि प्रभातचन्द्र जी ने बिना समझे अपना ग्रन्थ लिखा और पत्रे काले किए। हम ने हर्डर और ग्रिम के तर्क भी पढ़े हैं। ये लोग विज्ञान से कोसों दूर हैं। इन्होंने वस्तुत विज्ञान की अवहेलना की है।

प्रजापति, पुरुष, यज्ञ, आकाशीय ऋषियों और देवों की उत्पत्ति कह दी। आकाशीय यज्ञों की ओर भी संक्षिप्त संकेत कर दिया। ब्राह्मण-ग्रन्थों के गम्भीर अभ्यास से यह विषय अनायास स्पष्ट हो सकता है। पाश्चात्य लेखकों ने ब्राह्मण-ग्रन्थों की भरपेट निन्दा की है। उसका उल्लेख आगे ब्राह्मण भाग में होगा। हमारी विद्वानों से इतनी प्रार्थना है कि वे ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा यास्क की सहायता से 'वाक्' की उत्पत्ति को समझने का प्रयास करें।

आर्ष परम्परागत वाक्पद को समझने के लिए सत्य इतिहास पर आश्रित मानव की आदि भाषा के विभिन्न नामों का उल्लेख अत्यावश्यक है। अत. इस विषय का उत्थापन आगे करते हैं—

---

१. यह वही हर्डर है, जिस के विषय में जैस्पर्सन लिखता है—

One of Herder's strongest arguments is that if language (Hebrew) had been framed by God, and by him instilled into the mind of man, we should expect it to be much more logical, much more imbued with pure reason than it is as an actual matter of fact. p 27.

प्रतीत होता है, हर्डर को इबानी भाषा का भी अति स्वल्प ज्ञान था।

यही हर्डर शकुन्तला नाटक को वेद की अपेक्षा अधिक "Useful" (उपयोगी) समझता है। (मैक्समूलर कृत, H A. S L. पृ० ५) ऐसे निरक्षर लोग ही योरोप में ज्ञानी समझे जाते हैं।

आदि भाषा के नाम

मानव की आदि भाषा के लिए प्राचीन भारतीय वाङ्मय में निम्न शब्दों का व्यवहार हुआ है—

१—**वाक्**—यह शब्द वेद में प्राय. मन्त्रों के लिए प्रयुक्त हुआ है, परन्तु लौकिक साहित्य में यह पद मानवी-भाषा के लिए व्यवहृत हुआ है। यथा—

(क) रामायण (भारत-युद्ध से २००० वर्ष पूर्व) में प्रयोग है—

वाग्विदां वरम् ।१।१।१॥

अर्थात्—वाणी के जानने वालों में श्रेष्ठ।

यहां 'वाक्' शब्द स्पष्ट ही व्यावहारिक संस्कृत भाषा के लिए प्रयुक्त हुआ है। भूमण्डल-भ्रमण करने वाला देवर्षि नारद वाणी का असाधारण ज्ञाता था। उसके ग्रन्थ नारद शिक्षा तथा संगीत मकरन्द आदि आज भी उपलब्ध हैं। ये ग्रन्थ लौकिक संस्कृत में हैं और वर्तमान ब्राह्मण ग्रन्थों से प्राचीन हैं।

(ख) तैत्तिरीय संहिता (भारत युद्ध से १०० वर्ष पूर्व) में लिखा है—

वाग् वै पराच्यव्याकृतावदत् । ६।४।७॥

अर्थात्—वाणी निश्चय ही पुराकाल की अव्याकृता (= प्रकृति प्रत्यय आदि व्याकरण की पारिभाषिक कल्पनाओं से रहित) [अपने अभिप्राय को] कहती थी।

'पराची, वाक्, अव्याकृता' ये शब्द वाणी की उस अवस्था का निर्देश करते हैं जब मूल वाक् से न अपभ्रंश हुए थे और न ही अभी साधु शब्दों के व्याकरण आदि रचे गए थे। यहां उसी अवस्था का निर्देश है, जिसका हमने अपनी प्रतिज्ञा के आरम्भ में संकेत किया है। जो अज्ञानी लोग आर्यों का भारत–आगमन ईसा से २५०० वर्ष पूर्व का मानते हैं और कहते हैं कि आर्य लोग कल्पित भारोपियन भाषा का बहुत उत्तररूप लेकर भारत में प्रविष्ट हुए, वे पूर्वप्रदर्शित सचाई का अनुभव नहीं कर सके।

(ग) गौतम धर्मसूत्र (३१०० विक्रम पूर्व) के श्राद्ध प्रकरण में निम्नलिखित पाठ है—

श्रोत्रियान् वाग्रूपवयःशीलसम्पन्नान् ।१५। ९॥

इस की व्याख्या करता हुआ मस्करी[1] लिखता है—

१ मस्करी प्राचीन भाष्यकार है। पाण्डुरङ्ग वामन काणे ने उस के

वाक्सम्पन्नान् संस्कृतभाषिण।

अर्थात्—वाक्सम्पन्न का अर्थ है संस्कृत-भाषण में समर्थ।

(घ) पतञ्जलि मुनि (विक्रम से १४०० वर्ष पूर्व) कृत व्याकरण महाभाष्य में एक प्राचीन वचन उद्धृत है—

वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः। कील० संस्क० भाग १, पृष्ठ २।

अर्थात्—वाणी के योग को जानने वाला अपशब्दों [के प्रयोग] से दूषित होता है। [अतः विद्वान् सदा साधु शब्दों का प्रयोग करे।]

(ङ) वाग्मी—वाग्मी शब्द का अर्थ है—उत्कृष्ट भाषा बोलने वाला। यहां भी 'वाक्' का अर्थ व्यावहारिक भाषा है। यदि ऐसा न होता तो यह प्रयोग न बनता।

२—मानुषी वाक्—

मानवी भाषा के लिए सामान्य नाम 'वाक्' है, परन्तु जब इस का निर्देश दैवी-वाक् की तुलना में अथवा वानरी आदि म्लेच्छ भाषाओं के प्रतिपक्ष में किया जाता है तब 'वाक्' के साथ 'मानुषी' विशेषण अवश्य प्रयुक्त होता है। यथा—

(क) तस्माद् ब्राह्मण उभे वाचौ वदति दैवीं च मानुषीं च।[1] का० सं० १४।५॥

काल-विषय में बड़ी भूल की है। कृत्यकल्पतरु का कर्ता लक्ष्मीधर (विक्रम संवत् ११६०) उसे उद्धृत करता है।

१. तुलना करो—

(क) तस्माद् ब्राह्मणा उभयीं वाचं वदन्ति या च देवानां या च मनुष्याणाम्। निरुक्त १३।६ में उद्धृत किसी प्राचीन ब्राह्मण का पाठ।

(ख) तस्माद् ब्राह्मण उभयीं वाचं वदति यश्च वेद यश्च न। मै० सं० १।११।५॥

(ग) तेषां मनुष्यवद्देवताभिधानम्। निरुक्त १।२॥

पूर्वोक्त वचनों में ब्राह्मण ही दो प्रकार की वाक् का बोलने वाला कहा गया है। वस्तुतः ब्राह्मण ही आदि सृष्टि से सस्वर यथार्थ वेदवाक् को कण्ठस्थ करके सुरक्षित रखने वाला है।

अर्थात्—इस कारण ब्राह्मण दोनों [प्रकार की] वाणियों को बोलता है [यज्ञ में स्वर-सहित वेद-मन्त्रों के उच्चारण द्वारा] दैवी वाक् और [यज्ञ से अन्यत्र लौकिक व्यवहार में] मानुषी को।

इस प्रमाण से निश्चित होता है कि वर्तमान ब्राह्मण ग्रन्थों से बहुत पूर्व भी ब्राह्मण मानुषी अथवा लोकभाषा बोलते थे और वह दैवी-वाक् से भिन्न थी।

(ख) आपस्तम्ब[1] श्रौत (भारत-युद्ध समकालिक) का वचन है—

अथ यजमानो व्रतमुपैति। वाचं यच्छत्यनृतात् सत्यमुपैमि। मानुषाद् दैव्यमुपैमि। दैवीं वाचं यच्छामि।४।२।८।१॥

इस पर धूर्तस्वामी का भाष्य है।

दै [दे] वाभिधानाद् दैविकी–दैवी वाक्।

यहां भी मानुष और दैवी वाक् का भेद स्पष्ट है।

आर्य लोग वेद-वाक् की अपूर्वता का इतना मान करते थे कि उन्होंने मनुष्य वाक् को अनृतवाक् अथवा मूल प्रकृति (=वेद वाक्) से परिणाम को प्राप्त हुई वाक् कहा है।

(ग) माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण (भारत-युद्ध समकालिक) १।४।३।३५ में लिखा है—

तदु हैकेऽन्वाहुः—होता यो विश्ववेदस इति। नेदरमित्यात्मानं ब्रवाणीति तदु तथा न ब्रूयात्। मानुषं ह ते यज्ञे कुर्वन्ति। व्यृद्धं वै तद् यज्ञस्य यन्मानुषम्। नेद् व्यृद्ध यज्ञे करवाणीति तस्माद् यथैवर्चानूक्तमेवमेवानुब्रूयात् होतारं विश्ववेदसमिति।

अर्थात्—तो निश्चय कुछ लोग [यज्ञ समय] पढ़ते हैं—'**होता यो विश्ववेदसः**' ऐसा। वैसा न बोले। मानुष [पाठ] निश्चय वे यज्ञ में करते हैं। व्यृद्ध=हीनता ही [है] वह यज्ञ की जो मानुष [पाठ है,] नहीं व्यृद्ध यज्ञ में करूं, इस लिए जैसा ऋचा ने कहा, वैसा ही पढे—'**होतारं विश्ववेदसम्**' इति।

इस से स्पष्ट है कि दैवी वाक् मनुष्य-सम्बन्ध से रहित है अर्थात् मन्त्र मनुष्य रचित नहीं हैं।

---

१. महाभारत, अनुशासनपर्व १०६।१२ में आपस्तम्ब के दिवगत होने का उल्लेख है।

(घ) रामायण सुन्दर काण्ड में लिखा है—

वाच चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम् ।३०।१७॥

अर्थात्—वाणी को बोलूंगा मानुषी को यहां और सस्कृता को।

रामायण के इस वचन से भी स्पष्ट है कि मानुषी भाषा का ही दूसरा नाम सस्कृत है। इस का सस्कृत नाम क्यों पड़ा, इस की विवेचना आगे की जाएगी।

३—भाषा—

(क) पाणिनि (विक्रम से २८०० वर्ष पूर्व[1]) अष्टाध्यायी में लिखता है—

विभाषा भाषायाम् । ६।१।७८॥

अर्थात्—भाषा में षट् सञ्ज्ञक, त्रि और चतुर् शब्द से परे झलादि विभक्ति विकल्प से उदात्त होती है।

(ख) यास्क (भारतयुद्ध से ५० वर्ष पूर्व) निरुक्त में लिखता है—

नूनमिति विचिकित्सार्थीयो भाषायाम् । उभयमन्वध्यायम्, विचिकित्सार्थीयश्च पदपूरणश्च ।१।५॥

अर्थात्—'नूनम्' यह विचिकित्सा=सशय अर्थ वाला भाषा में [प्रयुक्त होता है]। दोनों प्रकार का अन्वध्याय=वेद में, विचिकित्सा अर्थ वाला और पदपूरक।

उत्तर-काल में अपभ्रंश-आत्मिक प्राकृत के उत्पन्न होने पर उसे प्रकृति=सस्कृत से, अपभ्रष्ट होकर बनने के कारण प्राकृत भाषा कहा गया है।

यद्यपि ब्रह्मा ने मानव को लिपि प्रदान की, और वह ब्राह्मी कहाई, तथापि आदि में स्मृति के अत्युत्कृष्ट होने से लेख का प्रचार हेय समझा जाता था। मनु, प्रजापति और सप्तर्षियों के सम्पूर्ण उपदेश बोले गए। यथा—

स्वायम्भुवो मनुरब्रवीत । प्रजापतिरब्रवीत । वे इसी लोक भाषा में थे।

ओटो जैस्पर्सन आदि पाश्चात्य इस तथ्य का एक अंश समझ पाए हैं। यथा—

---

१. देखो प० युधिष्ठिर मीमांसक कृत 'सस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' भाग प्रथम, पृष्ठ १३५ से १४०।

all language is primarily spoken and only secondarily written down, ... real life of language is in the mouth and ear.[1]

अर्थात्—सब भाषा मूल में बोली जाती है।

कृतयुग में जिसे युक्त प्रकार से उपदेश-युग भी कहा जा सकता है, सब ससार में सस्कृत ही बोली जाती थी, इसलिए इसे 'भाषा' कहना स्वाभाविक था। उस काल में सब विद्वान् थे, अत. वह भाषा अनपढ़ ग्रामीण लोगों की नहीं थी। उत्तर-काल में उसका अपभ्रंश और सकोच हुआ।

पहले डायलेक्ट = बोलियां थीं और उत्तरकाल में साहित्यिक भाषाए बनीं, इस तर्कहीन अनुमान का खण्डन आगे होगा।

४–लोक भाषा—भूमण्डल के सातों द्वीपों की भाषा—

(क) भाषा-शास्त्र का अद्वितीय विद्वान् पतञ्जलि मुनि लिखता है—

सप्तद्वीपा वसुमती त्रयो लोकाश्चत्वारो वेदाः । कील० संस्कृ० भा० १ पृ० ९।

अर्थात्—[पाणिनि ने जिस भाषा के शब्दों का अनुशासन किया] वह सप्तद्वीपयुक्त पृथिवी पर बोली जाती थी··· ।

(ख) पतञ्जलि और पाणिनि के पूर्ववर्ती भरत मुनि ने भी आर्य भाषा का निर्देश करते हुए इसी तथ्य का प्रतिपादन किया है—

अतिभाषा तु देवानामार्यभाषा तु भूभुजाम्।
सस्कार-पाठ्य-सयुक्ता सप्तद्वीपप्रतिष्ठिता ॥१७।१८,२९॥

अर्थात्—अतिभाषा तो देवों की और आर्य-भाषा राजपुरुषों की। प्रकृति प्रत्यय के पूर्ण संस्कार से युक्त सातों द्वीपों में प्रचलित।

यह पाणिनि द्वारा अनुशिष्ट भाषा केवल भरत खण्ड की नहीं थी, प्रत्युत सप्तद्वीपा वसुमती पर बोली जाती थी। पूर्व आचार्यों द्वारा परम्परा-प्राप्त इस अति प्राचीनकालिक तथ्य का निर्देश भरत तथा पतञ्जलि ने उक्त वचनों में किया है। ससार की समस्त भाषाए इसी सस्कृत से विकृत होकर बनी हैं, इस तथ्य का उपपादन आगे होगा।[२]

(ग) भारत-युद्ध के २०० वर्ष पश्चाद्भावी, पाणिनि से किञ्चित् पूर्ववर्ती बृहद्देवता का रचयिता शौनक मुनि लिखता है—

---

1 p 23 २ देखो, अध्याय ३।

यद्यत् स्याच्छान्दसं वाक्यं तत्तत्कुर्यात्तु लौकिकम्। २।१०१॥

अर्थात्—[मन्त्र की व्याख्या करते हुए] जो जो हो छान्दस वाक्य उसे उसे बनावे लौकिक।

बृहद्देवता शौनकमुनि की कृति है। उसी शौनक की, जिसने छन्द का प्रवचन किया और जिसने शिक्षा, प्रातिशाख्य आदि लिखे। पाणिनिने इसी शिक्षा रचना और छन्द-प्रवचन के भेद को व्यक्त करने के लिए **शौनकादिभ्यश्छन्दसि** (४।३।१०६) सूत्र में 'छन्दसि' पद जोड़ा है। निस्सन्देह छन्द के प्रवचनकर्ता अपने से पूर्वकाल में लोक-भाषा का अस्तित्व मानते थे।

(घ) आपस्तम्ब धर्मसूत्र में लिखा है—

विकथां चान्यां कृत्वैवं लौकिक्या वाचा व्यावर्तते ब्रह्म। १।१३।६।८॥

अर्थात्—प्रसग से विपरीत अन्य कथा करने से लौकिक व्यावहारिक वाणी से ब्रह्म व्यावृत हो जाता है अर्थात् वेद का फल नष्ट हो जाता है।

५—व्यावहारिकी—

(क) यास्कमुनि निरुक्त १३।९ में वेद के 'चत्वारि वाक्' पद के विषय में अपने से पूर्ववर्ती नैरुक्त आचार्यों का मत लिखता है—

ऋचो यजूंषि सामानि, चतुर्थी व्यावहारिकी।

अर्थात्—[तीन प्रकार की वाक्] ऋक् यजुः और साम हैं और चौथी व्यावहारिकी [=लोक व्यवहार में प्रयुक्त होने वाली]।

(ख) यास्क के कथन को पुष्ट करता हुआ पतञ्जलि महाभाष्य में किसी प्राचीन आचार्य के मत का उल्लेख करता है—

शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले। कील० संस्क० भा० १ पृ० २।

अर्थात्—[विद्वान्] शब्दों का यथावत् = उचितरूप में [प्रयोग करता है] व्यवहार काल में।

(ग) पुनः वही लिखता है—

चतुर्भिः प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति ... व्यवहारकालेनेति। कील० संस्क० भा० १ पृष्ठ ५,६।

अर्थात्—चार प्रकार से विद्या का उपयोग होता है [आगम काल, स्वाध्याय काल, प्रवचन काल और] व्यवहार-काल से।

(घ) महाराज शूद्रक-रचित (विक्रम से ४०० वर्ष पूर्व)[1] पद्मप्राभृतक भाण में प्रसङ्गवश पाणिनि की परम्परा[2] में आने वाले एक वैयाकरण का उल्लेख सन्निविष्ट है। जब वैयाकरण कठिन भाषा बोलने लगा तो उस से प्रार्थना की जाती है कि—

साधु व्यावहारिकया वाचा वद। चतुर्भाणी पृष्ठ ९।

अर्थात्—[साधारण] व्यवहार में प्रयुक्त सरल संस्कृत बोलो।

उस काल में व्यावहारिकी में शिष्ट प्रयुक्त कठिन प्रयोग अवश्य न्यून हो गए होंगे।

६-जाति भाषा—

भरत नाट्यशास्त्र में रूपक में व्यवहृत भाषाओं का चतुर्विधवर्गीकरण करते हुए जाति भाषा का लक्षण किया है—

द्विविधा जातिभाषा च प्रयोगे समुदाहृता।
म्लेच्छदेशप्रयुक्ता च भारतं वर्षमाश्रिता॥
जातिभाषाश्रयं पाठ्यं द्विविधं समुदाहृतम्।
प्राकृतं संस्कृतं चैव चातुर्वर्ण्यसमाश्रयम्॥१७।२९-३२॥

अर्थात्—दो प्रकार की जाति भाषा प्रयोग में बोली जाती है, म्लेच्छ देश में प्रयुक्त और भारतवर्ष में आश्रित। भारतवर्ष में चारों वर्णों की पाठ्य भाषा के दो रूप हैं, एक संस्कृत और दूसरा प्राकृत।

यहां जाति भाषा का संस्कृत पाठ्य ही पूर्वनिर्दिष्ट व्यावहारिकी के अन्तर्गत है।

व्यवहार की यह भाषा शुद्ध थी, ग्रामीण नहीं थी। अत एव पाणिनि ने इस व्यावहारिकी भाषा के शब्दों के लिए नियम बनाए। ये ही शब्द पुरातन व्याकरणों में भी अन्वाख्यात थे और पुरातन काल में प्रचलित थे। यदि यह प्राचीन वैयाकरणों से अन्वाख्यात व्यावहारिकी भाषा मूर्खों की

---

१. कीथ प्रभृति पाश्चात्य लेखक शूद्रककृत मृच्छकटिक प्रकरण का काल ईसा की छठी शताब्दी मानते हैं।

२ जो लोग पाणिनि को ईसा-पूर्व तीसरी, चौथी अथवा पांचवीं शती में रखते हैं, वे पहले महाराज शूद्रक का निश्चित काल जान लें, तो अच्छा हो।

'डायालेक्ट' 'बोली' मात्र होती तो उस के नियम बनाना अनावश्यक था।

इस विषय में आज्ञानियों का कुतर्क

पूर्वपक्ष—डा० सुनीतिकुमार का मत है—

"वैसे तो संस्कृत देश के किसी भी भाग में घर की भाषा नहीं थी। हां हम यों मान सकते हैं कि केवल ईसा पूर्व की कुछ शताब्दियां में पञ्जाब तथा मध्यदेश की बोलियों पर इस का प्रारम्भिक रूप आधारित था। फिर भी, संस्कृत एक अत्यन्त सजीव प्राणयुक्त भाषा थी, क्योंकि थोड़े बहुत फेर बदल के साथ इस का व्यवहार विद्वज्जनों एवं धर्माचार्यों द्वारा ही नहीं होता था, बल्कि प्रवासी साधारण जन भी जो निरक्षर ग्रामीण मात्र नहीं थे, इसका समुचित उपयोग करते थे।"[1]

इस उद्धरण की सूक्ष्म विवेचना करने पर सुनीतिकुमार जी के चार कल्पित-पक्ष सामने आते हैं—

(१) संस्कृत कभी परिवार की भाषा न थी।

यास्क, शौनक और पाणिनि की तुलना में सुनीतिकुमार जी भारतीय इतिहास का सहस्रांश भी ज्ञान नहीं रखते। जब यास्क, शौनक और पाणिनि संस्कृत को लोक-भाषा कहते हैं तब सुनीतिकुमार जी का कल्पित उपर्युक्त कथन कैसे प्रामाणिक कहा जा सकता है।

(२) ईसा से कुछ शताब्दी पूर्व की पञ्जाब और मध्यदेश की बोलियों पर संस्कृत का रूप आधारित था।

यह ऐसी गप्प है जो प्रमत्तालय में ही लिखी जा सकती है। भारत के अनवच्छिन्न इतिहास के अनुसार ईसा से १० सहस्र वर्ष पूर्व संसार की भाषा संस्कृत थी। उसे यूनानियों, अरबों और यहूदियों के पूर्वज बोलते थे। इस के प्रमाण आगे देंगे। उस संस्कृत से बोलियों का विकार हुआ।

(३) विद्वज्जन और धर्माचार्य संस्कृत का प्रयोग करते थे।

न केवल विद्वज्जन अपितु साधारण लोग भी संस्कृत बोलते थे। साधारण लोगों की बोलचाल में आने वाले शतशः शब्दों का पाणिनि ने अपने व्याकरण में अन्वाख्यान किया है। यथा—

(क) शाक बेचने वालों (कूंजड़ों) के व्यवहार में आने वाले मूलक-

१ भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी पृष्ठ १७४।

पण', शाकपण.[१] आदि शब्द, (अष्टा० ३।३।६६)।

(ख) वस्त्र रंगने वाले (रञ्जकों) के व्यवहार के **काषायम् लाक्षिकम्** आदि शब्द, (अ० ४।२।१—२)।

(ग) कृषकों में व्यवह्रियमाण **व्रैहिकम्, तैलिकम्, प्रैयङ्गवीनम्** आदि विभिन्न प्रकार के धान्यों के उत्पादन योग्य क्षेत्रों (खेतों) के नाम, (अष्टा० ५।२।१—४)।

(घ) पाचकों (पुराकाल के शूद्रवर्णस्थ लोगों) के व्यवहार में आने वाले **दाधिकम्, औदश्वितकम्, लवणः सूपः** आदि विभिन्न प्रकार के सस्कृत अन्नों के नाम, (अष्टा० ४।२।१६—२०॥ ४।४।२२-२६)।

(ङ) शूद्रों के अभिवादन प्रत्यभिवादन के नियम, (अष्टा० ८।२।८३)।

(च) चौर आदि के भर्त्सन-विषयक नियम, (अष्टा० ८।२।९५)।

इत्यादि अनेक प्रकार के ऐसे शब्दों के विषय में पाणिनि ने नियम बनाए हैं जो साधारण लोगों के नित्यप्रति के व्यवहार में प्रयुक्त होने वाले हैं। अत' स्पष्ट है कि पाणिनि द्वारा अन्वाख्यात सस्कृत पुराकाल में जन-साधारण की व्यावहारिक भाषा थी।

(४) प्रवासी जन भी संस्कृत का प्रयोग करते थे।

यहां सुनीतिकुमार जी ने 'वदतो व्याघात' दोष किया है। जिस भाषा को प्रवासी जन परस्पर अभिप्राय-सूचन का माध्यम बनावें उस भाषा को अति विस्तृत और साधारण बोल-चाल की भाषा मानना ही होगा।

यदि सस्कृत कभी मनुष्यमात्र की भाषा न होती तो ससार की प्रमुख भाषाओं में सस्कृत शब्दों के विकार उपलब्ध न होते। भाषा मत के विचारक जर्मन लोगों ने इस बात से डर कर भाषाओं का जो लगड़ा वर्गीकरण प्रस्तुत किया है, उस की परीक्षा आगे होगी।

७—**संस्कृत**—यह नाम भी अति प्राचीन है।

(क) भरत नाट्य-शास्त्र (भारत युद्ध से ४५०० वर्ष पूर्व) में सस्कृत शब्द भाषा के लिए प्रयुक्त हुआ है—

द्विविधं हि स्मृतं पाठ्यं सस्कृतं प्राकृतं तथा। १४।५॥

---

१ सव्यवहाराय मूलकादीनां य परिमितो मुष्टिर्बध्यते, तस्येदमभिधानम्। काशिका० ३।३।६६॥ मुष्टि अर्थात् गड्डी।

एवं तु संस्कृत पाठ्य मया प्रोक्त समासतः ॥१७।१॥

(ख) भरत की उत्तरवर्तिनी रामायण संहिता सुन्दर काण्ड में लिखा है—

वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम् ॥३०।१७॥

(ग) अष्टाङ्ग संग्रह (४र्थ शती विक्रम से पूर्व) के भूतविज्ञान प्रकरण में लिखा है—

तत्रापि विकृतस्वर भाषयन्तमुत्त्रासयन्त ब्रह्मवादिनं संस्कृत-भाषिण बहुशस्तोयं याचन्त यक्षसेनेन । उत्तरस्थान अ० ७ ।

वाग्भट्ट की प्रतिज्ञा है कि उस का अष्टाङ्गसंग्रह पूर्व-प्रणीत आर्षतन्त्रों का संक्षेपमात्र है । अतः यदि यह वचन उस ने किसी प्राचीन आर्षतन्त्र से लिया है तो भाषा के लिए संस्कृत शब्द का पुराने काल में प्रयोग अन्यत्र भी दिखाई दे जाएगा ।

(घ) वररुचि (विक्रम साहसाङ्क का सभ्य, प्रथम शती) प्राकृत प्रकाश में लिखता है—

शेषः संस्कृतात् ९।१८॥

पूर्वपक्ष—डा० मंगलदेव का मत है—

"संस्कृत भाषा के लिये 'संस्कृत' शब्द का प्रयोग प्राचीन समय में नहीं होता था । पाणिनीय व्याकरण तथा निरुक्त में…… लौकिक संस्कृत के लिये 'भाषा' शब्द का ही प्रयोग किया है ।" भाषा-विज्ञान पृष्ठ ८७ ।

उत्तर पक्ष—तो क्या भरत नाट्य शास्त्र और वाल्मीकि रामायण आदि अर्वाचीन हैं ? कीथ प्रभृति और उनके उच्छिष्टभोजी मनोमोहन घोष आदि ऐसा मानते हैं । जब विक्रम साहसांक के कई सौ वर्ष पूर्व का मातृगुप्त भरत-नाट्य-शास्त्र पर व्याख्या लिखता है तो भरतमुनि के (महाभारत शान्तिपर्व में स्मृत) ग्रन्थ को नए काल का मानना सर्वथा अज्ञान प्रकट करना है । स्पष्ट है कि डा० मंगलदेव जी ने प्राचीन इतिहास का अध्ययन नहीं किया, अतः ऐसा लिखा है ।

इसी प्रकार महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भी संस्कृत भाषा के 'वाक्', 'भाषा' और 'व्यावहारिकी' आदि नामों के इतिहास को बिना समझे केवल संस्कृत नाम के आधार पर जो अनुमान किया है कि "परिमार्जित संस्कृत भी (जिने

आज कल हम केवल संस्कृत कहते हैं) पुरानी बोल-चाल की संस्कृत से निकली है,[1] सर्वथा हेय है।

संस्कृत नाम का कारण

त्रेता युग के प्रारम्भ में देश, काल, परिस्थिति, उच्चारण शक्ति की विकलता और अशक्तिजानुकरण आदि के कारण भाषा के प्राकृतरूप की सृष्टि हो चुकी थी। यह रूप विपर्यस्त = विकृत था और प्रकृति प्रत्यय का संस्कार उस से पर्याप्त लुप्त हो गया था,[2] अतः संस्कार-युक्त भाषा का नाम स्वभावत. संस्कृत और प्रकृति अर्थात् संस्कृत अथवा धातुमात्र से विनि.सृत होने के कारण विकृत भाषा का स्वाभाविक नाम प्राकृत हुआ।

इस सत्य का निर्देश भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में निम्न शब्दों में किया है—

एतदेव विपर्यस्तं संस्कारगुणवर्जितम् ।
विज्ञेयं प्राकृतं पाठ्यं नानावस्थान्तरात्मकम् ॥१८।२॥

अर्थात्—इस [संस्कृत] को ही विकृत अवस्था को प्राप्त हुई को [और] संस्कार (प्रकृति प्रत्यय विभाग) तथा गुण (प्रकृति प्रत्यय रूपी भाग में होने वाले विकार) से रहित को जानना चाहिये। प्राकृत [रूपक के अभिनय में] पढने योग्य नाना अवस्थान्तरों वाली (अर्थात् शौरसेनी, मागधी, पैशाची आदि) को [भी जानना चाहिये]।

यास्क द्वारा संस्कार और गुण शब्द का स्पष्टीकरण

यास्क मुनि ने भी संस्कार और गुण शब्द का निरुक्त में इसी पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग किया है—

(क) तद्यत्र स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्याताम् ॥१।१२॥

(ख) अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारे पदेभ्य. पदेतरार्धान् संचस्कार शाकटायन. ॥१।१३॥

(ग) न संस्कारमाद्रियेत विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति ।२।१॥

---

१ हिन्दी-भाषा की उत्पत्ति, भूमिका पृष्ठ ५, सन् १६११, इण्डियन प्रेस, प्रयाग।

२ तुलना करो—'तदप्यसंस्कारयुतं ग्राम्यवाक्योक्तिमत्श्रितम्'। विष्णुपुराण अंश २ अ० १३ श्लो० ४०। तथा देखो, तै० प्राति० ११।१–३॥

अर्थात्—(क) जहां स्वर (उदात्त आदि) संस्कार (प्रकृति प्रत्यय विभाग) अर्थ के अनुकूल हों, प्रदेश (प्रकृति प्रत्यय) में होने योग्य गुण (विकार) से अन्वित (युक्त) हों।

(ख) अनन्वित अर्थ और प्रदेश (प्रकृति प्रत्यय) में होने के अयोग्य विकार होने पर भी पदों से अन्य पदावयवों का संस्कार किया शाकटायन ने।

(ग) संस्कार (व्याकरण शास्त्रोक्त प्रकृति प्रत्यय विभाग) का आदर=अनुसरण न करे। संशयवाली निश्चय ही वृत्तियां (व्याकरणशास्त्र का कार्य) होती हैं।

अब यदि यास्क के इन उद्धरणों का सूक्ष्म विवेचन किया जाए तो ज्ञात होता है कि यास्क भाषा के शब्दों को संस्कार-युक्त मानता है। जिस भाषा के शब्द संस्कार युक्त थे, उसे उन दिनों संस्कृत भाषा कहा गया, इस में कोई सन्देह नहीं।

उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि लौकिक संस्कृत अति प्राचीन काल से व्यावहारिकी भाषा के रूप में प्रयुक्त हो रही थी। और क्या, ब्रह्मा जी और स्वायम्भुव मनु आदि का उपदेश भी इसी भाषा में था।

श्री सुनीतिकुमार का पूर्वपक्ष—केवल गप्पों का आश्रय लेने वाले सुनीतिकुमार चटर्जी ने लिखा है—

"पाणिनि स्वयं पश्चिमोत्तर पञ्जाब का निवासी था और सम्भवत. पूर्वी शती ईसा-पूर्व प्रतिष्ठित हुआ था। परन्तु लौकिक संस्कृत भाषा का आरम्भ पाणिनि के काल से दो एक शताब्दी प्राचीनतर गिना जाता है।[1] इति।

उत्तर पक्ष—उपलब्ध ब्राह्मण ग्रंथों में ऐतरेय ब्राह्मण प्राचीनतम है। जब उस में लोक भाषा की अनेक गाथाएं इति पद से उद्धृत मिलती हैं तो यह कहना कि लौकिक संस्कृत पाणिनि से दो एक शताब्दी पहले प्रवृत्त हुई, सर्वथा भूल है। पाणिनि, व्यास और अत एव वर्तमान ब्राह्मण से पूर्वकालिक काशकृत्स्न लोकभाषा का व्याकरण रच चुका था। डाक्टर क्षितीशचन्द्र चट्टोपाध्याय ने इसी डर के मारे बिना प्रमाण काशकृत्स्न को पाणिनि का उत्तरवर्ती लिख दिया है।[2] इस काशकृत्स्न ने पूर्व

---

१. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृष्ठ १०७, सन् १९५४, देहली।
2. Technical Terms of Sanskrit Grammar p 2, 77

भारद्वाज अपना व्याकरण रच चुका था। शालिहोत्र, पालकाप्य, पञ्चशिख और बृहस्पति आदि के ग्रन्थ पाणिनि से सहस्रों वर्ष पूर्व रचे जा चुके थे। उस लोक-भाषा को पाणिनि से दो सौ वर्ष पूर्व प्रवृत्त हुआ मानना आंखों पर पट्टी बांधना है। अब वह युग गया कि शालिहोत्र और स्वायम्भुव मनु आदि को "मिथिकल" कह कर कोई काम चल जाएगा।

संस्कृत भाषा के पर्याय नामों का उल्लेख हो गया। लोक-भाषा की प्राचीनता सिद्ध हो गई। लोक-भाषा वेद-वाक् के साथ ही साथ चल पड़ी, इस के ऐतिहासिक प्रमाण दे दिये गये। पाश्चात्यों की प्रमाण रहित गप्पों का सङ्केत कर दिया गया। अब पाश्चात्य भाषाज्ञानमानियों की एक और प्रतिज्ञा की परीक्षा की जाएगी।

टिप्पण—जब ईरान में अवेस्ता की भाषा के साथ साथ पुरानी फारसी प्रयुक्त होती थी, तो वेद-प्रवचन के साथ पाणिनि से पूर्वकाल की लोकभाषा संस्कृत का अस्तित्व क्यों न माना जाए।

द्वितीय अध्याय

योरोपीय भाषा-मत परीक्षा

योरोप के अनेक ईसाई और यहूदी पक्षपातियों ने संसार को मिथ्यात्व की ओर ले जाने का एक और परिश्रम किया। योरोप के भाषा-मत जो न शास्त्रपदवी को प्राप्त हुए और न विज्ञान के आदर्श तक पहुंच पाए, वृथा ही विज्ञान घोषित किए जाने लगे। यदि दस मिथ्यावादी किसी मिथ्या बात को कह कर उसे सत्य बना सकते होते तो योरोपीय लेखकों की चाल चल जाती, परन्तु थी वह सम्पूर्ण प्राचीन इतिहास के विरुद्ध। हमने योरोपीय 'युवक वैयाकरणों' के भाषा विषयक मत की परीक्षा की। उस से सिद्ध हुआ कि योरोप-प्रदर्शित भाषा-मत विज्ञान के समीप भी नहीं पहुच पाए। उन में वदतो व्याघात दोष बहुत अधिक हैं। इन दोषों को बताने वाली उस परीक्षा का निष्कर्ष आगे दिया जाता है।

भाषा-विज्ञान अथवा भाषा-मत

पूर्वपक्ष—वर्तमान जर्मन लेखकों का साभिमान कथन है कि—

१—वे ही "भाषा-विज्ञान" के जन्मदाता हैं। यथा—

(a) Germany is far more than any other country, the birth place and home of language.[1]

अर्थात्—किसी अन्य देश की अपेक्षा जर्मनी सब से अधिक भाषा का घर और जन्म-स्थान है।

(b) Germans of today are the undisputed leaders in all fields of philology and linguistic science.[2]

अर्थात्—आज के जर्मन "भाषा-विज्ञान" के सब क्षेत्रों में निर्विवाद नेता हैं।

२—उन के पूर्वज ग्रिम और बॉप आदि विद्वानों ने सर्व-प्रथम अनेक भाषाओं के तुलनात्मक व्याकरण लिखे।

३—उन के सतत परिश्रम से यह विषय विज्ञान की पदवी को प्राप्त हो गया और मतमात्र नहीं रहा।

---

1 Language and the Study of Language, W. D. Whitney, 1867, Lect. I.

2. Winternitz, H. I. L., 1927 p 8

उत्तरपक्ष—हम इन स्थापनाओं को स्वीकार नहीं करते। कारण—

१—पाश्चात्य देशों में अपभ्रंश-भाषा विवेचन का कार्य यद्यपि डेन्मार्क आदि देशों में भी हुआ तथापि जर्मनी में बहुत अधिक हुआ, यह हम स्वीकार करते हैं। यह विवेचन यूनान के पाईथेगोरस, अफलातून, डेमोक्रीटस् और अरस्तू से थोड़ा अधिक था, इस के स्वीकार करने में भी हमें सङ्कोच नहीं। परन्तु यह विवेचन भर्तृहरि, पतञ्जलि, पाणिनि, व्याडि, कृष्ण द्वैपायन व्यास, यास्क, आपिशलि, काशकृत्स्न, औदुम्बरायण और भरतमुनि के विवेचन से अधिक व्यापक और स्थिर है, यह हम कदापि मान नहीं सकते। भाषा विज्ञान की जो चरम सीमा भारत में पहुंच चुकी थी, जर्मनी ने अभी तक उसका शतांश भी नहीं जाना।

२—यह सत्य है कि बॉप आदि ने कतिपय योरोपीय अपभ्रंश भाषाओं के तुलनात्मक व्याकरण ग्रन्थ लिखे, परन्तु संस्कृत और वेद के यथेष्ट व्याकरण वे नहीं लिख सके। जिस वाकर्नागल के संस्कृत व्याकरण ज्ञान की प्रशंसा पाश्चात्य लोग पदे पदे करते हैं, वह संस्कृत भाषा के स्वरूप को भी भले प्रकार न समझ सका। इस कारण उसने अनेक भयङ्कर भूलें की हैं। यथा—

(क) वाकर्नागल लिखता है—'भाषा के आधार पर तैत्तिरीय, पञ्चविंश और जैमिनीय ब्राह्मण ऐतरेय ब्राह्मण से पूर्वकाल के हैं।'[1]

जिस ऐतरेय ब्राह्मण का कर्ता महीदास जैमिनि उपनिषद् ब्राह्मण और छांदोग्य उपनिषद् के प्रवचन काल में अतीत का व्यक्ति हो चुका था,[2] उसकी भाषा को यथार्थ रूप में न समझकर वाकर्नागल ने सर्वथा प्रमाण शून्य और इतिहास-विरुद्ध कथन किया है। अधिक से अधिक वाकर्नागल यह लिख सकता था कि तित्तिरि और जैमिनि आदि ब्राह्मण प्रवचन-कर्ता यद्यपि महिदास ऐतरेय से उत्तर-काल के हैं, तथापि उन्होंने अति प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थों से भाषा के ऐसे प्रयोग ले लिए हैं, जिन्हें महिदास ऐतरेय ने नहीं लिया।

(ख) वाकर्नागल का कथन है—"चारणों और भाटों की भाषा ही जो

---

१ वाकर्नागल, ओल्ड इण्डीश ग्रामेटिक, भाग १, पृष्ठ ३०।

२ छा० उप० ३।१६।७॥

न पुरोहित थे और न विद्वान् महाभारत की भाषा है। यह अधिक जन-प्रिय और अनियमित थी।"[1]

व्यास और उन के शिष्य लोमहर्षण, उग्रश्रवा तथा वैशम्पायन आदि पण्डित अथवा विद्वान् नहीं थे, अथवा महाभारत को किन्हीं ग्रामीण भाटों ने गाया, यह कथन भारतीय इतिहास से अपरिचय प्रदर्शन मात्र है। ऐसा लिखने वाले व्यक्ति को अभी संस्कृत का क, ख, पुनः पढ़ना चाहिये।

पुराण और इतिहासों के लिखने वाले, कवि, विद्वान् और सत्यवादी थे।

३—यद्यपि जर्मन लोगों का परिश्रम स्तुत्य है तथापि उन के प्रतिपादन "मत" की सीमा का उल्लंघन नहीं कर सके। विज्ञान की पदवी से वे कोसों दूर हैं। कारण, विज्ञान के नियम स्थिर, निश्चयात्मक, अपवाद-शून्य और देश-काल के बंधन से रहित होते हैं। वायु, विद्युत्, और वर्षा आदि के नियम देशकाल के बंधन से रहित होकर सर्वत्र समान रूप से लागू होते हैं, परन्तु तथाकथित "भाषा-विज्ञान" के नियमों की अवस्था इस के सर्वथा विपरीत है। यथा—

योरोप के भाषा-विषयक अनुसंधान ने ध्वनि-परिवर्तन संबंधी जो नियम निर्धारित किये हैं वे **अधूरे, एकदेशी** और **अपवाद-बहुल** हैं।[2] अतः भाषा शास्त्र का जानने वाला कोई सूक्ष्म-दर्शी विद्वान् भाषा तथा ध्वनि-विषयक योरोपीय पक्षों को मत ही कहेगा, विज्ञान नहीं।

जो ध्वनि परिवर्तन नियम योरोप की सब भाषाओं पर ही एक समान लागू नहीं हो सके और केवल योरोप के कुछ देशों की भाषाओं पर ही स्वल्प

१, वही, भाग १, पृष्ठ ४५।

२. विज्ञान का लक्षण करते हुए बाबूराम सक्सेना जी ने स्वयं स्वीकार किया है कि—

जब उस (वाद) की अपवाद-रहित सत्ता स्थिर हो जाती है तब उस को विज्ञान कहते हैं। इति।

ऐसा लिखकर उन्हों ने अपने ग्रन्थ में वर्णित अनेक अपवाद-बहुल-नियमों को अपवाद बहुल नहीं समझा, यह आश्चर्य है। प्रतीत होता है उन्हों ने स्वतन्त्र विचार नहीं किया और योरोप का उच्छिष्ट भोजी बनने में ही श्रेय समझा है।

से लागू होते हैं तथा भारतीय भाषाओं पर अधिकाश लागू नहीं होते, उन्हें धक्का जोरी (बलात् अथवा साहस) से सामान्य रूप देकर सारी भाषाओं पर लागू करना वृथा है, यह विज्ञान का काम नहीं है।

(ख) ध्वनि परिवर्तन नियमों के अतिरिक्त दूसरे अनेक नियम तो ध्वनि-नियमो से भी अत्यधिक दोष पूर्ण हैं।

(ग) पाश्चात्य तथाकथित "भाषा-विज्ञान" द्वारा स्वीकृत भाषा तथा भाषा-समूहों का वर्गीकरण महान् दोषयुक्त तथा पक्षपात-पूर्ण है।

(घ) भाषा के सकोच अथवा विकार को विकास=उन्नति का नाम देना मतान्ध लोगों का स्वभाव है। विज्ञान का इस से कोई सम्बध नहीं। देखिए, बॉप तथा मतवादी कीथ लिखते हैं—

(a) The language in its stages of being and march of development.[1]

(b) Zend —for this remarkable language, which in many respects reached beyond, and is an improvement on, the Sanskrit[2]

(c) From the language of the Rigveda we can trace a steady development to classical Sanskrit.[3]

(d) The Sanskrit of the grammarians is essentially a legitimate development from the Vedic speech.[4]

अर्थात्—भाषा के अस्तित्व के पड़ाव हैं और वह प्रगति की ओर यात्रा कर रही है।

अवेस्ता की भाषा संस्कृत की अपेक्षा अधिक उन्नत अथवा परिमार्जित है।

ऋग्वेद की भाषा से कालिदास आदि की सस्कृत तक की उन्नति हम स्पष्ट जान सकते हैं।

वैयाकरणों की सस्कृत निश्चय ही वेद-वाक् से अधिक प्रौढ है।

योरोपीय लोगों का अनुगामी पारसी वशोत्पन्न तारापुरवाला लिखता है—

Like every thing else in the universe, languages are also

---

1 Bopp F, Comp grammar, 1845, London, p V.

2. तथैव, p IX

3 Keith A B, H S L. p 4

4 तथैव p 8

the product of a fairly complex, though perfectly ordered, evolution. From simple types they have become more and more complex in exact proportion as the race evolved from its primitive simplicity into the complexity of civilised life.[1]

अर्थात्—संसार की प्रत्येक अन्य वस्तु के समान भाषाएं भी पर्याप्त जटिल तथापि सर्वथा क्रमिक-विकास की उपज हैं। सरल रूपों से वे अधिकाधिक जटिल हुई हैं। उसी प्रकार, जिस प्रकार जाति अपनी प्रारम्भिक सरल अवस्था से सभ्यता की ओर जटिल होती गई है।

यदि उपर्युक्त पाश्चात्य मत स्वीकार किया जाए तो अंग्रेजी के 'सुपरिण्टेण्डेण्ट, शब्द से "प्रयत्नलाघव" द्वारा निष्पन्न "सुटण्ट" (पंजाब में पूर्वीय चपरासियों द्वारा उच्चरित) रूप अधिक विकसित होना चाहिये। परन्तु इस "सुटण्ड" रूप को कौन शिष्ट-अंग्रेज स्वीकार करेगा और विश्व में 'सुटण्ड' बोलना प्रारम्भ करेगा।

(इ) डायालेक्ट्स (बोलियों) से भाषा वर्तमान अवस्था में भी सर्वत्र नहीं बनती। जो इस के विपरीत सदा डायालेक्ट्स से भाषा की उत्पत्ति को सर्वतन्त्र सिद्धान्त मानता है, वह विज्ञान नहीं। वर्तमान काल में भी कई भाषाओं में बोलियों की ओर जाने वाला ह्रास प्रत्यक्ष देखा जाता है। अतः सदा डायालेक्ट्स से भाषा की उत्पत्ति मानना सर्वथा निराधार है।

४—विज्ञान में तथ्य (facts) वर्णित करके नियम बनाए जाते हैं। योरोपीय भाषा-मतों में अनुमान अधिक और तथ्य अपवाद-बहुल हैं। इन दोनों कारणों से ये मत विज्ञान की पदवी को प्राप्त नहीं कर सकते।

अतः मैक्समूलर प्रभृति ने भाषा-मत के लिए "भाषाविज्ञान" शब्द का जो व्यवहार किया है[2] वह आज भी उतना ही असिद्ध है जितना पहले था। इसी प्रकार मैक्समूलर प्रभृति के चरण चिन्हों पर चलने वाले मङ्गलदेव जी और बाबूराम जी ने भी बिना गम्भीर विवेचना किए योरोपीय भाषा मतों के लिए "भाषा-विज्ञान" संज्ञा स्वीकार की है।[3] यह उनकी अदूरदर्शिता की परिचायक है।

---

1 Taraporewala, Elements of Language p 11.

2 The Science of Language is a science of very modern date. "Lectures on the Science of Language', London, 1885, Intro p 3.

३. श्री मङ्गलदेव जी ने अपने ग्रन्थ का नाम ही "भाषा-विज्ञान"

योरोप के आविष्कृत वर्ण-ध्वनि परिवर्तन-नियम

सन् १८८२ में जेकब ग्रिम के जर्मन भाषा व्याकरण का दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ। उस में उन्हों ने जर्मन वर्णध्वनि परिवर्तन का एक नियम बनाया, जिसे मैक्समूलर आदि 'ग्रिम नियम' कहते हैं। ग्रिम के अनुसार एक मूल भारोपीय (इण्डोयोरोपीय) भाषा थी,[१] जिस का 'प'वर्ण गाथिक, जर्मन, अंग्रेजी और डच में 'फ' (F) वा 'व' (V) वर्ण हुआ और ग्रीक, लैटिन तथा संस्कृत में 'प' ही बना रहा।

ग्रिम-नियम की त्रुटि

ग्रिम का यह नियम त्रुटि-पूर्ण है। कारण, यह एकदेशीय है। यथा—

(क) ग्रिम नियम के अनुसार संस्कृत शब्दों में श्रूयमाण 'प' श्रुति लैटिन में भी 'प' ही रहनी चाहिए, परन्तु इस के सर्वथा विपरीत, वह कहीं कहीं 'फ' (F) ध्वनि में परिवर्तित देखी जाती है। यथा—संस्कृत का 'पलाशक' शब्द लैटिन में [**Butea**] **Froidosa** हो गया है।

(ख) इसी प्रकार संस्कृत पदों के आदि और मध्य में होने वाली 'प' ध्वनि अंग्रेजी में 'फ' ध्वनि रूप में परिवर्तित होनी चाहिए, परन्तु अंग्रेजी में वह अनेक स्थानों पर 'फ' रूप में परिवर्तित न हो कर 'प' रूप में ही उपलब्ध होती है। यथा—

रखा है। इस के अन्दर असिद्ध कल्पनाओं की भरमार है, फिर उस का नाम 'विज्ञान' कैसे? श्री बाबूराम जी ने भी अपने ग्रन्थ का नाम इसी अन्ध-परम्परा के अनुसार "सामान्य भाषा-विज्ञान" रखा है।

१ योरोपीय भाषाओं की कोई एक माता थी, ऐसा विचार लाइबनिज (१७६० ईसा सन्) के काल से परिपक्व हो रहा था। पीछे संस्कृत योरोप में जा पहुँची। अनेक योरोपीय अध्यापक संस्कृत को ही यह पदवी देने के लिए उद्यत हो गए। ईसाई और यहूदी पादरियों को यह बात अखरी। उन्हों ने अपने लिए एक मार्ग निकाला। तदनुसार इस कल्पित इण्डोयोरोपियन (भारोपीय) भाषा का अस्तित्व येन-केन प्रकारेण स्वीकार कर लिया गया, और संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, जर्मन और अंग्रेजी आदि भाषाओं को उस कल्पित भारोपीय भाषा के रूपान्तर कहा गया।

	संस्कृत	अंग्रेज़ी		पंजाबी	अन्य यो० भाषा
१.	पराग	pollen	(पोलन)		
२.	परिक्री	purchase	(पर्चेज)		
३.	परित्रातृ	protector	(प्रोटैक्टर)		
४	पीत	pale	(पेल)	पीला	
५.	पीडा	pain	(पेन)		
६.	कल्पन	clipping			
७	कल्पक				Lith karpikas
८	स्पश	spy	(स्पाई)		Lat. spex
६	प्लीहन्	spleen	(स्प्लीन)		

इन उदाहरणों से ग्रिम नियम की अव्यापकता स्पष्ट है।

भारतीय अपभ्रंशों में 'प' के रूपान्तर।

यदि भारतीय प्राकृतों तथा अपभ्रंशों में ध्वनि-परिवर्तन का व्यवहार देखा जाए तो पता लगता है कि संस्कृत पदों में विद्यमान 'प' वर्ण संस्कृत से विकार को प्राप्त हुई प्राकृत आदि भाषाओं में कुछ स्थानों पर, विशेष कर पदादि में 'फ' और अन्यत्र 'व' हो जाता है, तथा कहीं कहीं 'प' ही रहता है। यह तथ्य भारत युद्ध से बहुत पूर्व भरत मुनि ने जान लिया था। पर शोक है कि पक्षपाती योरोपीय लेखकों ने कभी इस सत्य का नाम तक नहीं लिया।

ग्रिम यत्किंचित् अंश में भरत मुनि के चरण चिह्नों पर

ग्रिम से सहस्रों वर्ष पूर्व भरत मुनि ने (भारत युद्ध से ४५०० वर्ष पूर्व) नाट्यशास्त्र के १७वें अध्याय में संस्कृत से विकार को प्राप्त हुई प्राकृत भाषा के वर्णों का उल्लेख करते हुए निम्नलिखित कारिकांश कहे हैं—

आपान आवाण भवति पकारेण वत्व (नत्व) युक्तेन।
परुष फरुस विद्यात् पकारवर्णोऽपि फत्वमुपयाति ॥१५.१६॥

अर्थात्—संस्कृत के 'आपान' शब्द का प्राकृत में 'आवाण' रूप हो जाता है। 'परुष' का फरुस बनता है और कहीं कहीं 'प' अपने रूप में भी रह जाता है।

अन्तिम तथ्य 'अपि' शब्द से स्पष्ट है।

भरत मुनि-प्रदर्शित रूपान्तरों के कतिपय उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

'प' को 'फ' हुआ

१, परशु	फरसा	पञ्जाबी
२. परिखा[१]	फडिहा	रावणवहो १२।७५॥
३. परिघ[१]	फडिह	,, ,, ५।५४॥
४. परुष[१]	फरुस	नाट्य शास्त्र १७।२६॥
		धम्मपद, रावणवहो।
५ परुषासि	फरुसासि	लीलावई ११८८।
६. परूषक	फालसा	सुश्रुत डल्हण टीका
७ पर्शुका	फासुका	धम्मपद (पाली)
८. पलित	फलित	धम्मपद
६ पाश	फासी, फास्नु	नेपाली

भविसियत्त कहा के बड़ोदा संस्करण का सहकारी सम्पादक पाण्डुरङ्ग दामोदर गुणे (सन् १६२३) 'फस' का मूल 'स्पर्श' बताता है[२]। यह भ्रान्ति रावणवहो (इण्डेक्स पृष्ठ १७३) के सम्पादक सीगफ्राईड गोल्डश्मिट के अन्धाधुन्ध अनुकरण का फल है। गुणे का भाषा-ज्ञान अपने गुरुओं से विभिन्न कैसे हो सकता था।

१०. पांसन	फसण	भविसियत्त कहा पृष्ठ १४६
११ पृषत	फुसी फुसरो	नेपाली
१२. प्रुषित	,, ,,	,,
१३. स्पर्श	फरिस	रावणवहो
१४ पाट	फाड़ (हिन्दी)	(पाड़–पञ्जाबी)
१५. पाटन	फाड़ना ,,	

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि 'प' के आगे जब प्रायः 'र' और 'ल' की श्रुति होती है तब 'प' को 'फ' हो जाता है।

---

१. परुष-परिघ-परिखासु फः। वररुचि प्राकृत सूत्र २।३६॥

२ पृष्ठ १४६। ३. पाटयति का घञन्तरूप।

४ विपाटनात्। निरुक्त ६।२६॥

'प' को 'व' हुआ

१. त्रिपथगा	तिवहगा	रावणवहो सूची पृष्ठ १६३
२. त्रिटप	विडव	,, ,, ,, ,, १८५
३. व्यपदेश	ववएस	,, ,, ,, ,, १८५
४. व्यापार	वावार	,, ,, ,, ,, १८५
५. पादप	पाअव	,, ,, ,, ,, १७१
६. भिन्दिपाल	भिण्डिवाल	वररुचि प्राकृत सूत्र ३।४६
७. कपिल	कविल	सन्मतितर्क कारिका

'प' का 'व' रूपान्तर प्राकृत आदि में अभी तक हमें पदादि में नहीं मिला।

आश्चर्य है कि संस्कृत 'पितृ' शब्द के लिए जर्मन Vater शब्द में ध्वनि यद्यपि 'फ' की है, पर लिपि में V(=व) ही है।

हमारे ऊपर दर्शाए उदाहरणों से स्पष्ट है कि ग्रिम की अपेक्षा उससे सहस्रों वर्ष पूर्व लिखा गया भरत मुनि का नियम अधिक व्यापक तथा यथार्थ है। भरत का नियम प्राकृत–भाषा विषयक है। यह नियम सब अपभ्रंशों पर समान रूप से चरितार्थ न हो सकेगा।

भरत की महत्ता

(ग) इसी प्रकार ग्रिम ने लिखा है कि भारोपीय भाषा के 'क' वर्ण को गाथिक, जर्मन और अंग्रेजी भाषा में 'ह' वा 'ह' होता है, और ग्रीक लैटिन और संस्कृत में 'क' ही रहता है। तथा भारोपीय भाषा का 'त' वर्ण गाथिक जर्मन, अंग्रेजी में 'थ' हो जाता है, परन्तु ग्रीक, लैटिन तथा संस्कृत में 'त' ही रहता है।

ग्रिम का यह नियम भी ठीक नहीं। अंग्रेजी आदि भाषाओं के बहुत से पदों में 'क' का संस्कृतवत् क ही रहा है, 'ह' वा 'ह' नहीं हुआ। यथा—

संस्कृत	अंग्रेजी	
१. क्रूर	cruel	=क्रूएल
२. कपाल		=कप
३. क्रमेल	amel	=कैमल

पाश्चात्य विकृत-बुद्धि मोनियर विलियम्स अपने संस्कृत-अंग्रेजी कोश में ,क्रमेल' शब्द पर लिखता है—

Borrowed from Greek

अर्थात्—संस्कृत का 'क्रमेल' शब्द ग्रीक भाषा से उधार लिया गया है।

अपने कल्पित भाषा-नियमों को सच्चा सिद्ध करने के लिए पाश्चात्य लेखक इसी प्रकार की गप्पें हाकते हैं।

संस्कृत	अंग्रेजी
४ कर्तन	cutting= कटिंग
५ क्रुक्त	crooked

इन उदाहरणों में 'क' का 'क' ही बना रहा, 'ह' वा 'ह्व' नहीं हुआ।

इसी प्रकार 'त' को भी अंग्रेजी आदि में सर्वत्र 'थ' नहीं होता। यथा—

१ तटाक=तडाक	tank=टैङ्क
२ तरु	tree=ट्री

स्मरण रहे कि संस्कृत के व्यापक प्रभाव से भयभीत होकर योरोपीय लेखकों ने शनैः शनैः इस बात का यत्न आरम्भ कर दिया था कि योरोपीय भाषाओं के अनेक शब्दों की सादृश्यता संस्कृत से न मानी जाए। अतः योरोपीय भाषाओं के जो नए कोश बने, उन में बहुत थोड़े शब्दों की संस्कृत शब्दों से तुलना की गई। यथा—आक्सफोर्ड कोष में।

वस्तुतः अपभ्रंश भाषाओं के वर्ण परिवर्तन नियम कभी भी व्यापक नहीं होंगे।

ग्रिम-नियमों के अपवादों पर उत्तरोत्तर काम

ग्रिम की तीन प्रधान भूलें हमने दिखा दीं। अधिक परीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि ग्रिम-नियम अपवाद-बहुल हैं।[1] कालान्तर में ग्रासमैन ने इन का कुछ संशोधन किया। इस से अपवाद कुछ न्यून हुए, पर अधिक न्यून नहीं। पश्चात् डेनिश विद्वान् कार्ल अडोल्फ वर्नर (सन् १८४६ से १८९६) ने सन् १८७५ में एतद्विषयक एक और संशोधन मुद्रित कर विशेष ख्याति प्राप्त की।[2] पर अपवादों को वे भी न्यून नहीं कर पाए।

---

१ भाषा-विज्ञान, डॉ० मंगल देव कृत, सन् १९५१ पृष्ठ २६५, २६६।

२ जैस्पर्सन लिखता है—

It was Verner who first made men properly observe the sweeping

तदनन्तर तालव्य-नियम का आविष्कार घोषित किया गया। इस की डिण्डिमी बहुत पीटी गई। योरोप के भाषाविदों को इस पर बड़ा गर्व है। इस लिए इस एक नियम की परीक्षा करने से ध्वनि परिवर्तन के सारे इतिहास पर और योरोपीय अन्वेषकों की योग्यता पर विशेष प्रकाश पड़ेगा। अतः वह परीक्षा आगे की जाती है।

तालव्य-नियम की विवेचना

तालव्य-नियम का मूलाधार (प्रथम भाग)

पूर्वमत—आरम्भ में योरोप के कुछ लेखकों का विचार था कि संस्कृत के जिन शब्दों में 'अ' स्वर का प्रयोग है और उसी 'अ' के स्थान में ग्रीक और लैटिन में जहां 'ए, ओ' का रूप मिलता है, वहां निश्चय ही ग्रीक और लैटिन में संस्कृत 'अ' का ही विकृतरूप 'ए, ओ' है।

उत्तरकालीनमत—तत्पश्चात् नव आविष्कृत तालव्य-नियम के अनुसार योरोप के भाषाविदों ने यह मत चलाया कि संस्कृत से पूर्व एक भारोपीय भाषा थी, उस में वर्तमान अ, ए और ओ ध्वनियों का संस्कृत में केवल 'अ' रूप रह गया और 'ए, ओ' ध्वनियों का लोप अथवा अ-ध्वनि में निमज्जन हो गया। इस के विपरीत ग्रीक और लैटिन ने मूल भाषा की ए और ओ ध्वनियों को भी सुरक्षित रक्खा।[1]

इन मतों में से पुरातन विचार ही वस्तुतः सत्य था। इस के अनेक प्रमाण हैं कि ग्रीक लोग संस्कृत की 'अ' ध्वनि को बहुधा 'ए' और 'ओ' के रूप में बोलते थे। अतः योरोपीय भाषाविदों की नवीन कल्पना प्रमाण-शून्य है। निम्नलिखित उदाहरण इस नवीन कल्पना का खण्डन करते हैं—

---

role which accent plays in all linguistic changes, as he himself put it a few years later "We are at last on the way to recognize that accent does not like the accentuation marks, hover over words in a careless apathy but as their living and life-imparting soul lives in and with the word and exerts an influence on the structure of the word and thereby of the whole language, such as we seem hitherto to have only had the faintest conception of" Linguistics 1933, p 16.

1 Uhlenbeck C C, p 63

	सस्कृत नाम	प्राकृत	ग्रीक रूप
१.	मधु[1]		मेथु (methu)[2]
२.	मथुरा	महुरा	मेथोरा (Methora)[3]
३.	शतद्रु		हेजिड्रस (Hesidrus,[4] Zadadros)
४.	दशार्ण[5]	दसोन धसन	दोसोर्न (Dosorna,[6] Dosaron,[6] Dosarene[7]
५	माही[8]		मोफिस (Mophis)[9]

१. यदि कोई कहे कि ग्रीक भाषा के 'मेथु' शब्द का किसी प्राचीन भारोपीय भाषा से सम्बन्ध है और संस्कृत भाषा के 'मधु' शब्द के उच्चारण में उसी की 'ए' ध्वनि की 'अ' ध्वनि हुई है, तो यह कहना उपहास-जनक होगा, क्योंकि भारतीय मथुरा शब्द का ग्रीक-उच्चारण 'मेथोरा' स्पष्ट ही योरोपीय विचार पर तुषारापात है।

2 Uhlenbeck, C C, M S Ph. 1948, p 87.

3 Megasthenes, p 142.

4. Megas p. 130

५ योरोपियन लेखकों के अनुसार यदि कल्पित भारोपीय भाषा का अस्तित्व ससार के सिर पर मढा ही जाए तो सस्कृत भाषा के 'दशार्ण' शब्द से पहले किसी और भाषा में 'दोसोरोन' रूप मानना पड़ेगा। यह उपहास की पराकाष्ठा होगी।

6 Ptolemy, p 252. 253.

7 Periplus E Sea. p, 47,

८. टालेमी के ग्रन्थ का सम्पादक सुरेन्द्रनाथ मजमुदार शास्त्री अपने टिप्पण पृष्ठ ३४३ पर लिखता है—"इस शब्द के ग्रीक रूप से अनुमान है कि पुरातन नाम "मामी था"। शास्त्री जी को ज्ञात नहीं कि टालेमी से ३३०० वर्ष पहले जैमिनि ब्राह्मण में 'माही' रूप ही है। योरोपियन मिथ्या प्रभाव के कारण सत्य की कितनी अवहेलना हुई। इसमें दूसरी अड़चन भी है कि "मामी" शब्द की कल्पना कर लेने पर भी "मा" के "आ" का ग्रीक में "ओ" कैसे हो गया। वगीय सुनीतिकुमार जी को ही अल्पाध्ययन के कारण ये बातें समझ में नहीं आईं, तो उन के चेले–चांटों को कैसे समझ में आ सकती थीं।

9. Ptolemy p. 38, 343.

	संस्कृत	प्राकृत	ग्रीक रूप
६	यमुना	जउणा (भवि० कहा) जमना (हिन्दी)	जोमनेस (Jomanes,[1] Diamuna,[2] Iomanes)[3]

पूर्व-निर्दिष्ट उदाहरणों में प्रथम दो शब्द **मधु** और **मथुरा** हैं, उन के म-वर्ण के उत्तरवर्ती 'अ' को ग्रीक में 'ए' हो गया है। और **शतद्रु** शब्द के श को ह और उस से उत्तरवर्ती 'अ' को 'ए'। इसी प्रकार दशार्ण शब्द के द के उत्तरवर्ती 'अ' और श के उत्तरवर्ती 'अ' को ओकार होगया है। तथा माही शब्द के म-वर्ण के उत्तरवर्ती 'आ' और यमुना के य वर्ण के उत्तरवर्ती 'अ'को 'ओ' हुआ है। ग्रीक 'जोमनेस' प्राकृत जउणा का रूपान्तर नहीं है। ग्रीक रूप में मवर्ण विद्यमान है। अतः वह स्पष्ट संस्कृत शब्द यमुना का रूपान्तर है।

संस्कृत पदों में प्रयुक्त 'अ' ध्वनि के 'ए' और 'ओ' रूपान्तर केवल ग्रीक भाषा में ही नहीं होते, अपितु उच्चारण-दोष के कारण संस्कृत से साक्षात् विकृत भारतीय अपभ्रंशों में भी देखने में आते हैं। यथा—

अ को ए

	संस्कृत	प्राकृत आदि	
१	अत्र	एत्थ	
२.	अत्रान्तरे	एत्थतरि	भविसि० कहा, पृष्ठ ३६।
३.	अरे	ए	
४	कदली	केला	
५.	त्वत्त.	तेत्थों	(पजाबी)
६.	मत्तः	मेत्थों	,,
७.	यथा	जेम	भविसि० कहा, पृष्ठ ६।

अ को ओ

१.	असौ	ओ, ओह	
२.	अवपतन	ओवअण	रावणवहो
३.	अवकाश	ओआस	,,
४.	अवश्याय	ओस	
५.	महत्	Mohat[4]	

---

1 Megas p 130　　2 Ptolemy, Notes, p 358

3 Megas p 145.

4 Thomas Maurice, History of Hindostan, MDCCCXX=1820, p 49.

उनका कथन है कि 'अव' में अ के उत्तरवर्ती व के योग से प्राकृत में 'ओ' हुआ है। वस्तुत. यह ठीक नहीं। यहां 'अ' को ही 'ओ' हुआ है और उत्तरवर्ती 'ओ' सदृश 'व' ध्वनि का लोप। क्योंकि अनेक स्थानों मे 'अ' के उत्तर 'व' न होने पर भी 'अ' को 'ओ' देखा जाता है, और जहां अ से पूर्व 'व' ध्वनि होती है वहा 'अ' को 'ओ' हो जाने पर भी 'व' ध्वनि का लोप नहीं होता और वह कहीं कहीं 'ब' मे परिवर्तित हो जाती है। यथा—

६. वट बोड़ (पजाबी)
७ यष्टि सोटी
८ खनन खोदना
९ खर खोता (पजाबी)

कौन नहीं जानता कि बगाली लोग आज भी अकार का उच्चारण बहुधा ओकार सदृश करते हैं

ध्वनि-शास्त्र का असाधारण ज्ञाता आपिशलि

वस्तुत एक 'अ' ध्वनि ही देश काल और परिस्थिति के कारण उत्पन्न हुई उच्चारण-विकलता से इ, उ, ए और ओ आदि ध्वनियों में परिवर्तित हो जाती है। इस तथ्य के कारण का निर्देश आज से लगभग ५००० पाँच सहस्र वर्ष मे पूर्ववर्ती आपिशलि ने अपने शिक्षा ग्रन्थ में स्पष्ट रूप से किया है। वह अकार के विभिन्न उच्चारण-स्थानो का निर्देश करता हुआ लिखता है—

सर्वमुखस्थानमवर्णमित्येके।

अर्थात्—मुखान्तर्गत उच्चारण के सब स्थान अवर्ण के स्थान होते हैं। ऐसा कई एक आचार्यों का मत है।

इस से स्पष्ट है कि जब उच्चारण विकलता के कारण 'अ' का उच्चारण तालु, ओष्ठ, दन्ततालु अथवा दन्तोष्ठ से होगा तब वह निस्सन्देह क्रमशः इ, उ, ए और ओ ध्वनि के समान ही उच्चरित होगा।

इस के लिए निम्न उदाहरण विशेष ध्यान देने योग्य हैं—

क—सस्कृत में 'अग्निः' शब्द है, लैटिन में 'इग्निस्', पुरानी लिथूएनियन में 'उह्निम्' और स्लेवोनिक मे 'ओग्नि'।

ख—इसी प्रकार सस्कृत में 'रथ' शब्द है, लिथूएनियन में 'रतस्' और लैटिन में 'रोथ' हो गया है।

ग—अंग्रेजी के दो शब्द हैं। एक Octapody (ओक्टापोडी)=अष्टा-पदी और दूसरा Quadruped (क्वाड्रुपेड)=चतुष्पदी। इन शब्दों में पद के पवर्ग के उत्तरवर्ती 'अ' को एक स्थान में 'ओ' हुआ है और दूसरे स्थान में 'ए'।

घ—संस्कृत पद शब्द के लिए लैटिन में 'पेडिस्' और ग्रीक में 'पोद्' है।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि संस्कृत की अध्वनि ही उच्चारण विकलता के कारण इ उ ए और आ आदि विभिन्न ध्वनियों का रूप धारण कर रही है। जो योरोपियन अपने "ध्वनि शास्त्र" के ज्ञाता होने की बड़ी बड़ी डींग मारते हैं उन्होंने यह नियम क्यों उद्धृत नहीं किया?

बॉप का मत—संस्कृत की अध्वनि के विषय में बॉप का भी यही मत था। सन् १८४५ में लण्डन में मुद्रित तुलनात्मक व्याकरण के पृष्ठ १३ पर लिखा है—

The simple maxim laid down elsewhere by me, and deducible only from the Sanscrit, that the Gothic O is the long of a [1]

अर्थात्—सरल सूत्र जिस का मैंने अन्यत्र उल्लेख किया है और जिसका अनुमान संस्कृत से ही हो सकता है कि गाथिक भाषा का 'ओ' संस्कृत अ का ही लम्बा रूप है।

इस से अधिक आवश्यक बात बॉप ने आगे लिखी है।

the Indian system of vowels, pure and consonantal and other altering influences, is of extraordinary importance for the elucidation of the German grammar. on it principally rests my own theory of vowel changes which differs materially from that of Grimm—[2]

अर्थात्—शुद्ध और व्यञ्जन मिश्रित और दूसरे परिवर्तन-कारी प्रभाव वाला स्वरों का भारतीय प्रकार जर्मन व्याकरण की व्याख्या के लिए असाधारण महत्त्व का है। इसी पर स्वर-परिवर्तन का मेरा मत प्रधानता से आश्रित है। मेरा मत ग्रिम से बहुत अधिक भिन्न है।

ग्रीक उच्चारण में संस्कृत के मूल स्वरों के सन्धि-स्वर

संस्कृत के मूल अ इ उ स्वरों को ग्रीक उच्चारण में सन्धिस्वर बनाए

1 p. XIII.   2. p XIII, note.

जाने की रुचि बहुधा देखी जाती है। यथा—

भारतीय ग्रीक

a को oi

१ कन्तल Kantalas = kandaloi

a को ai

२. अम्बष्ठ Ambastha = Ambastai

u को ou

३ पुलिन्द—Pulinda Poulindai

a को oe

४. उदुम्बर— Odomboeroe

i को ei

५. अहिच्छत्र— Adeisathra

इस विवेचना से स्पष्ट है कि संस्कृत की 'अ' ध्वनि और ग्रीक तथा लैटिन की 'ओ' ध्वनि की उत्पत्ति के लिए किसी मूल भारोपीय भाषा की कल्पना की कोई आवश्यकता नहीं। वस्तुत. संस्कृत की मूल 'अ' ध्वनि ने ही ग्रीक और लैटिन आदि में उच्चारण-विकलता के कारण प्राय. 'ए' और 'ओ' रूपों को धारण किया है।

बॉप इस सत्य को भाँप गया था—जर्मन लेखक फ्रैञ्ज बॉप लिखता है—

in Greek the Sanscrit a becomes a, e, or o, without presenting any certain rules for choice between these three vowels[2]

अर्थात्—संस्कृत अ ग्रीक में अ, ए, ओ हो गया है। इस विषय में निश्चित नियम नहीं है।

प्राचीन संस्कृत में अर्ध (=ह्रस्व) ए ओ

हम इस प्रसंग में एक तथ्य और प्रकट कर देना चाहते हैं, वह है—अति प्राचीन संस्कृत में अर्ध (=ह्रस्व) 'ए-ओ' की विद्यमानता। ध्वनि-शास्त्र का अप्रतिम आचार्य आपिशलि अपने शिक्षा सूत्र में लिखता है—

छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया ह्रस्वानि पठन्ति।

---

1 Ptolemy, pp 160-161

2, P XIII, note

अर्थात्—छन्दोगों (सामवेदियों) में राणायनीय चरणान्तर्गत सात्यमुग्र शाखा वाले 'ए ओ' को ह्रस्व पढ़ते हैं।

शौरसेनी और अर्धमागधी में अर्ध ए ओ—शौरसेनी और अर्धमागधी प्राकृत में भी अर्ध ए ओ का प्रयोग होता है। सम्भव है ऐसे शब्दों का सम्बन्ध संस्कृत के उन प्राचीन प्रयोगों और प्रदेशों से हो जिन के अति प्राचीन उच्चारण में अर्ध ए ओ थे।

इसलिए यह भी सम्भव है कि ग्रीक, लैटिन, जर्मन और अंग्रेजी आदि के वे शब्द जिन में अर्ध ए ओ ध्वनियां विद्यमान हैं, उन में से कतिपय शब्दों के मूल संस्कृत शब्दों में ह्रस्व 'ए ओ' का प्रयोग रहा हो।

मैक्सवालेसर और ए ओ नियम की व्यर्थता

अध्यापक कीथ ने अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास के प्राक्कथन में सूचना दी है कि मैक्सवालेसर ने भी इस विषय पर एक लेख लिखा है। तदनुसार संस्कृत का मूल 'अ' ही कई भाषाओं में 'ए ओ' का रूप धारण कर लेता है। अतः किसी मूल भारोपीय भाषा को मान कर उस में संस्कृत अ के स्थान में 'अ' 'ए' और 'ओ' का अस्तित्व मानना अनावश्यक है। अध्यापक कीथ ने लिखा है कि मैक्सवालेसर का लेख गम्भीर विचार-योग्य है। हम उस लेख को नहीं पढ़ पाए, पर हमारे परिणाम इसी सिद्धान्त पर पहुँचे हैं। कीथ लिखता है—

Very interesting and worthy of serious consideration in the field of comparative philology are the arguments recently adduced by Professor Max Walleser to refute the at present accepted theory regarding the merger in Sanskrit of the three vowels (*a*, *e*, *o*) into *a*, and to show that Sanskrit preserved as late as the seventh century A. D. the labio-velar consonants.[1]

तालव्य-नियम का उत्तर-भाग।

डा० मङ्गलदेव ने इस अंश का निम्नलिखित शब्दों में संक्षेप किया है—

"भारतयूरोपीय मूल भाषा के कण्ठ-स्थानीय स्पर्श (मूल कण्ठस्थानीय तथा साधारण), जिनके आगे कोई तालव्य स्वर (इ आदि) आता था,

1 H S L. Preface p XXIV, XXV.

भारत ईरानी भाषा-वर्ग में तालव्य व्यञ्जन के रूप में परिवर्तित हो गये, और जहां ऐसा नहीं था वहां साधारण कण्ठ स्थानीय स्पर्श ही रहे।"[1]

तालव्य नियम के आधार का खण्डन पूर्व हो गया।[2] भारोपीय मूल भाषा के अस्तित्व को जो नहीं मानता और उसके अस्तित्व में दिए गए लूले लगडे उदाहरणों का जो कठोर खण्डन करता है, उस के प्रतिपक्ष में भारोपीय मूलभाषा को मानकर ध्वनि आदि के किसी नियम का बनाना सर्वथा अपर्याप्त है। अतः इस आधार पर ठहरा हुआ तालव्य-नियम स्वतः खण्डित हो जाता है और मूल भारोपीय भाषा की कल्पना भी नष्ट हो जाती है। निश्चय ही ग्रीक, लैटिन गॉथिक और अंग्रेजी आदि म्लेच्छ भाषाएं संस्कृत के ही उत्तर-कालीन रूपान्तर हैं।

अब वे प्रमाण जो तालव्य नियम के उत्तरभाग की परीक्षा से सम्बन्ध रखते हैं, उपस्थित किए जाते हैं—

'अ' ध्वनि का संस्कृत के सर्वस्वीकृत अपभ्रंशों में ए ओ आदि के रूपों में परिवर्तन

जैसा पूर्व सिद्ध कर चुके हैं, तदनुसार इस बात के मानने में अणुमात्र सन्देह नहीं कि संस्कृत की 'अ' ध्वनि ही भारतीय भाषाओं तथा ग्रीक और लेटिन आदि में बहुधा 'ए' और 'ओ' का रूप धारण करती है। अतः संस्कृत के 'पञ्च' शब्द का ग्रीक में 'पेन्ते' और लैटिन में 'क्विंक्वे' रूप बना है। ग्रीक शब्द में 'प' के उत्तरवर्ती 'अ' को 'ए' और 'द' को 'त', तथा अगले 'अ' को 'ए' हो गया।

इसी प्रकार अंग्रेजी में 'पञ्चक' का 'पेन्तद्' (**pentad**) अपभ्रंश बना है।

'च' का 'क' में रूपान्तर—संस्कृत की 'च' ध्वनि योरोपीय भाषाओं में बहुधा 'क' ध्वनिवत् उच्चरित होती है। यथा—

१ चतुर लैटिन में—**quatuor** (क्वातुओर)

२ चतुर्दश " " **quatuor decimas** (क्वातुओर डेसिमस)

अंग्रेजी में—**quarto deciman** (कार्टो डेसिमन्)

---

१ भाषा-विज्ञान, सन् १९५१, पृष्ठ २७२।

२. पृष्ठ ५१–५४।

३ चतुष्पाद् अंग्रेजी में—quadruped (क्वाडरूपेड)

४ चषक (शराब का प्याला) quaff (क्वाफ)

गैलिक में quach, quaich आइरिश में cuach

५. चमर लैटिन मे cauda (पूछ अर्थ में) अंग्रेजी में Queu

इसका उच्चारण प्राय 'क्यू' होता है।

स्मरण रहे कि योरोप में लैटिन का उच्चारण बहुत भ्रष्ट होता रहा है। जैस्पर्सन लिखता है—

Latin was chiefly taught as a written language (witness the totally different manner in which Latin was pronounced in the different countries, the consequence being that as early as the sixteenth century French and English scholars were unable to understand each other's spoken Latin.)[1]

इस परिवर्तन का प्रधान कारण लिपि-दोष—संस्कृत भाषा के अनेक पदों में उच्चरित 'च' वर्ण का योरोपीय भाषाओं में जो 'क' रूप में परिवर्तन हुआ है, इस का प्रधान कारण योरोपीय लिपि की अपूर्णता है।

ch के कारण रूपान्तर—संस्कृत का च रोमनलिपि में ch के रूप में लिखा जाता है। योरोप की प्राचीन भाषाओं में ch का उच्चारण 'च', 'क' और 'ख' तीन प्रकार का रहा है। यथा—

१. अंग्रेजी chain (चेन) शब्द में 'च'।

२. (क) Chaldea (कालडिया) शब्द में 'क'।

(ख) अंग्रेजी chrono (क्रोनो) शब्द में 'क'।

३. (क) जर्मन nicht (निख्ट) शब्द में 'ख'।

(ख) ,, tochter (टॉख्टर) शब्द में (ख)।

'क' का 'च' रूप में परिवर्तन—जैसे संस्कृत पदस्थ 'च' अपभ्रंश भाषाओं में 'क' रूप में परिवर्तित हो जाता है उसी प्रकार संस्कृत पद में विद्यमान 'क' वर्ण भी क्वचित् 'च' रूप में परिवर्तित देखा जाता है। यथा—

१. संस्कृत किलातक' का हिन्दी में 'चिचड़ा'।

२. ,, 'कट' ,, ,, में 'चटाई'।

---

1 Language, p 23.

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि 'च' ध्वनि का 'क' ध्वनि में और 'क' ध्वनि का 'च' ध्वनि में परिवर्तन होता रहा है।

'प' ध्वनि का 'क' में रूपान्तर—संस्कृत की 'प' ध्वनि भी योरोपीय भाषाओं में क्वचित् 'क' ध्वनिवत् उच्चरित होती है। यथा—संस्कृत 'प्रश्न' शब्द का अंग्रेजी में question (क्वेश्चन) और लैटिन में quoetion हो जाता है।

'क्वचित्' शब्द का प्रयोग हमने इसलिए किया है कि 'प' ध्वनि का 'क' ध्वनि में भ्रंश और विशेषकर पदादि में बहुत अल्प दृष्टिगोचर होता है। सामान्यतया पदादि में विद्यमान संस्कृत की 'प' ध्वनि लैटिन में भी 'प' ही रहती है। यथा—पति=पोटिस्, पथिन्=पॉंट-एम, पद्=पेस, पेद-इस।

उपर्युक्त ध्वनि-परिवर्तनों के उदाहरणों से स्पष्ट है कि संस्कृत की 'प' और 'च' दोनों ध्वनियों का योरोपीय भाषाओं में qu के रूप में परिवर्तन होने का स्वभाव देखा जाता है। अतः संस्कृत 'पञ्च' शब्द ही लैटिन में 'क्विंक्वे' के रूप में परिवर्तित हुआ,[1] इस में सन्देह नहीं।

आपिशलि भी कवर्ग, चवर्ग और पवर्ग के परस्पर ध्वनिपरिवर्तन नियम को जानता था।

जब संस्कृत की 'अ' ध्वनि भारतीय तथा योरोपीय उच्चारण में 'ए' रूप में परिवर्तित हो जाती है (जैसा पूर्व लिख चुके) और 'च' ध्वनि 'क्व' रूप में, तब पञ्च, पेन्ते, और क्विंक्वे शब्दों के लिए किसी मूल भारोपीय 'पेंक्वे' शब्द की कल्पना की कोई आवश्यकता नहीं। संस्कृत 'पञ्च' शब्द से ही ग्रीक 'पेन्ते' और लैटिन 'क्विंक्वे' रूप बने हैं।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह भी स्पष्ट है कि ग्रीक, जर्मन, अंग्रेजी आदि योरोपीय अपभ्रंश भाषाओं और हिन्दी, पञ्जाबी आदि भारतीय अपभ्रंश भाषाओं में जो ध्वनि-परिवर्तन देखा जाता है, उसे किसी सर्वाङ्ग पूर्ण नियम में नहीं बांधा जा सकता।

---

१. कल्पित मूल भारोपीय भाषा में 'पञ्च' के मूल 'पेंक्वे' शब्द की कल्पना करते हुए पाश्चात्य विद्वानों ने भी लैटिन के 'क्विंक्वे' शब्द में 'प' का qu रूप में परिवर्तन स्वीकार किया है।

अनेक योरोपीय भाषाविद् और ध्वनि-नियमों की अपूर्णता

योरोपीय भाषाएं म्लेच्छ भाषाएं हैं। भाषाओं के इतिहास में उन का वही स्थान है जो अपभ्रंश भाषाओं का भारतीय विकृत भाषाओं में। भारतीय विद्वानों ने विभिन्न प्राकृतों के लिए कुछ नियम बना दिए, परन्तु अपभ्रंशों का नियम में बांधना असंभव समझा। कारण, इन भाषाओं के विकार नियमों में पूर्णतया बांधे नहीं जा सकते। एक एक शब्द के दस-दस और इससे भी अधिक रूपान्तर हुए हैं। इन रूपान्तरों में नियम कुछ दूर तक थोड़ा सा साथ देते हैं, परन्तु व्यापकता से नहीं।

इस के विपरीत कल्पित भारोपीय भाषा के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए योरोप के 'नवयुवक वैयाकरणों' ने ध्वनि आदि नियमों के व्यापक होने का जो गीत गाया, उसे उन्हीं के भाई सार्वत्रिक नहीं मानते। अतः उन के एतद्विषयक मत नीचे दिए जाते हैं—

१ बिना सोचे समझे योरोप के चरण-चिन्हों पर चलने वाला शास्त्री मंगलदेव लिखता है—

(क) दो सम्बन्ध रखने वाली भाषाओं में जो परस्पर भेद होते हैं, प्रायः उनको निश्चित नियमों में बांधा जा सकता है। भाषा विज्ञान पृष्ठ ६।

(ख) वर्णों के विकार बहुत अंशों तक कुछ निश्चित नियमों का अनुसरण करते हैं। वही, पृष्ठ १३६,२६५।

क—मंगलदेव जी का यह लेख वदतो व्याघात दोषपूर्ण है। एक ओर उन्हें उन अध्यापकों का भय था जिन से उन्होंने 'डाक्टर' की उपाधि प्राप्त की थी। इसलिए वे 'निश्चित नियमों में बांधा जा सकता है' ऐसा लिखते हैं और दूसरी ओर उन निश्चित नियमों के बहुधा-दृष्ट शतशः अपवाद उन्हें ऐसा स्पष्ट लिखने से रोकते थे। अतः उन्होंने 'प्राय' शब्द भी लिख दिया। 'प्रायः' और 'निश्चित नियमों' इन परस्पर विरुद्ध पदों का एक ही वाक्य में प्रयोग कैसे हो सकता है।

ख—मंगलदेव जी का यह लेख भी वैसा ही दोष पूर्ण है। जो वर्ण-विकार 'कुछ नियमित नियमों' का भी पूर्णरूप से अनुकरण नहीं करते, उन अपूर्ण नियमों पर कल्पित किए मत भला विज्ञान की कोटि में कैसे आ सकते हैं!

२. ध्वनि-नियमों की अपूर्णता के विषय में जैस्पर्सन लिखता है—

(क) "but I want to point out the fact that nowhere have I found any reason to accept the theory that sound changes always take place according to rigorous or 'blind' laws admitting no exceptions" Jesperson, p 295.

अर्थात् परन्तु मैं इस तथ्य का सकेत कर देना चाहता हूँ कि मैंने कहीं भी ऐसा कारण नहीं पाया कि इस मत को स्वीकार करू कि ध्वनि परिवर्तन सदा कड़े नियमों के अनुकूल होता है और उस में अपवाद नहीं होते।

(ख) जैस्पर्सन पुनः लिखता है—

"For some years a fierce discussion took place on the principles of linguistic science, in which young-grammarians tried to prove deductively the truth of their favourite thesis that "Sound-laws admit of no exceptions" (first, it seems, enounced by Leskien)" Jesperson, p 93

अर्थात्—कुछ वर्षों तक एक भयानक विवाद हुआ। भाषा विज्ञान के मूल नियमों के विषय में, जिस में 'युवक वैयाकरणों' ने अपने सर्वप्रिय सिद्धान्त को सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि ध्वनि-नियमों का कोई अपवाद नहीं होता।

(ग) मेर्यो पाई भी लिखता है—

"On the other hand, the "no exception" clause in the sound-law runs squarely into fully observable facts that contradict it" Mario Pei, p. 108.

अर्थात्—दूसरी ओर ध्वनि नियमों का 'निरपवाद' मत पूर्ण सुस्पष्ट और दृष्टि गत ध्वनि नियमों से पूरा टक्कर खाता है।

(घ) मेर्यो पाई पुनः लिखता है—

'Grimm's laws of sound-correspondences and the etymological connections between English and German are occasionally of use in the study of the German language, but they are just as often misleading" Mario Pei, p 313

अर्थात्—अंग्रेजी और जर्मन भाषाओं के ग्रिम प्रदर्शित ध्वनि साम्य-

ताओं के नियम और धातु विषयक सम्बन्ध जर्मन भाषा के पढ़ने में प्राय. उपयुक्त हैं, पर उतने ही वे उलट मार्ग-प्रदर्शक हैं।

(ङ) वर्नर का विचार है—

He (Verner) never accepted the doctrine in its most pointed form as expressed in the formula "Ausuahmslosig Keit der lautgesetze" ('sound-laws not subject to exceptions') Linguistica, p. 17.

अर्थात्—वर्नर ने यह सिद्धान्त कि ध्वनि नियमों का कोई अपवाद नहीं, इसके अतीव तीक्ष्णरूप में कभी स्वीकार नहीं किया।

भरत मुनि का निर्णय—

(च) प्राकृत के विभ्रष्ट अथवा तत्सम सम्पूर्ण विकार निरपवाद नियमों पर नहीं हुए, ऐसा महामुनि भरत का मत है यथा—

ये वर्णाः संयोगस्वरवर्णान्यत्वमूनतां चापि ।
यान्त्यपदादौ प्रायो विभ्रष्टांस्तान् विदुर्विप्राः ॥

नाट्य शास्त्र १७।५।६॥

अर्थात्—जो वर्ण संयोग में स्वर अथवा वर्ण के परिवर्तन और न्यूनता को प्राप्त होते हैं, पद के मध्य वा अन्त में प्राय. । उनको विप्र विभ्रष्ट जानते हैं।

इस वचन में भरत मुनिने 'प्राय.' शब्द से ध्वनि-परिवर्तन के नियमों को स्पष्ट ही सापवाद माना है।

तालव्य नियम-सम्बन्धी उपसंहार

इस प्रकार हमने सोदाहरण स्पष्ट कर दिया कि ग्रिम आदि के ध्वनि-परिवर्तन नियम तथा तालव्य नियम बहुत दोष-पूर्ण हैं। उनके जानने में ग्रासमैन का कुछ कुछ और वर्नर के बुधि-वैभव का अधिक प्रदर्शन मिलता है। परन्तु ग्रिम और ग्रासमैन दोनों के बताए कतिपय नियमों पर भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के सत्रहवें अध्याय की छाया निर्विवाद है। ग्रिम और ग्रासमैन से सहस्रों वर्ष पूर्व भरतमुनि बड़ी सावधानता से ध्वनि-परिवर्तन सम्बन्धी नियम लिख चुका था। भरत मुनि की एक विशेषता है कि वह उन नियमों को सर्वत्र लागू नहीं करता। यद्यपि वे नियम अपभ्रंश भाषाओं में भी कुछ कुछ लागू होते दिखाई पड़ते हैं, तथापि वह उन नियमों को प्राकृत-विशेष

के भेदों तक ही सीमित रखता है। ग्रिम, ग्रासमैन और वर्नर ने उन नियमों का अधिक विस्तार चाहा और 'नवयुवक वैयाकरणों' ने उन को 'निरपवाद' बनाने का जो उलटा विज्ञान शून्य मार्ग पकड़ा, उन सब का अभीष्ट यह था कि योरोपीय भाषाओं की उत्पत्ति संस्कृत से न मानकर किसी कल्पित भारोपीय भाषा से मानी जाए।

भारोपीय भाषा की कल्पना निराधार

योरोपीय भाषाविद् अपने को वैज्ञानिक, तार्किक और ऐतिहासिक पद्धति का अनुसरण-कर्ता कहते हैं, पर उनकी किसी मूल भारोपीय भाषा की कल्पना बताती है कि वे इन तीनों गुणों से सर्वथा शून्य हैं। इस विषय में निम्न हेतु द्रष्टव्य हैं—

१—काल्डिया, मिश्र, ईरान और यूनान आदि के मूल लोग भारतीय आर्यों के सम्बन्धी वा वंशज थे, यह इतिहास-सिद्ध है। उन सब की भाषाएं संस्कृत का विकार-मात्र हैं। सृष्टि के आरम्भ में भूतल के सातों द्वीपों की भाषा संस्कृत थी, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[१] उस से पूर्व किसी भाषा का अस्तित्व न था।

२—भारोपीय भाषा के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए अ, ए और ओ स्वर जो मूल भाषा में कल्पित किए गए और जिनका रूपान्तर संस्कृत में केवल 'अ' में और ग्रीक तथा लैटिन में मूलवत् माना गया, उस का खण्डन पहले हो चुका।[२]

३—इस कल्पित भारोपीय भाषा को सिद्ध करने के लिए एक उदाहरण प्रायः सर्वत्र दिया जाता है, वह है हंस शब्द का।

हंस शब्द विषयक पूर्वपक्ष—कहते हैं हंस पक्षी के लिए अंग्रेजी में 'गूज़' (goose) और जर्मन में 'गंस' (ganz) शब्द व्यवहार में आता है। योरोपीय लेखकों का मत है कि 'ग' और 'ह' ध्वनियों का परस्पर कोई योग नहीं, अतः कोई मूल भाषा माननी चाहिए जहां 'ग' और 'ह' के योग का महाप्राण 'घ' वर्ण विद्यमान हो। ऐसा शब्द 'घंस' है। उसके 'घ' का आधा भाग अंग्रेजी और जर्मन आदि में 'ग' के रूप में चला गया और 'ह' भाग संस्कृत आदि में आगया।[३]

---

१ पृष्ठ ३२, तथा देखो तृतीयाध्याय। २ पृष्ठ ५१–५४।

३. डा० मंगलदेव, भाषा-विज्ञान, सन् १९५१, पृष्ठ १५०–१५१।

उत्तर पक्ष—अब इस तर्क की परीक्षा की जाती है—

संस्कृत के किसी पदस्थ 'ह' को अवेस्ता आदि में 'ज' हो जाता है। यथा—संस्कृत का 'अहि' अवेस्ता में 'अज़ि' हो गया है। संस्कृत 'हिजीर' शब्द का फारसी में 'ज़जीर' और पञ्जाबी में 'जजीर' बन गया है। 'ज' बहुधा 'ज' में परिणत हो जाता है। और 'ज' का उच्चारण योरोपीय भाषाओं में 'ज' तथा 'ग' दोनों प्रकार से होता है। अत. इस शब्द रूप-परिवर्तन करता हुआ 'गस्' आदि बना, इस में अणुमात्र सन्देह नहीं। हमें हस से 'गूज' आदि तक पहुचने वाली मध्यध्वनियों का अन्वेषण करना चाहिए। सौभाग्य से इस विषय पर प्रकाश डालने वाला अंग्रेजी में एक आश्चर्य-जनक उदाहरण अब भी विद्यमान है। उस को जानने वाले अंग्रेज और जर्मन लेखकों को हमारी बात में कोई न्यूनता प्रतीत न होनी चाहिए। यथा—

१. हिन्दु धर्मशास्त्र विषयक एक पुस्तक वारेन हेस्टिंग के काल में तैयार की गई। उस का नाम था 'गेण्टू' [Hindoo] धर्मशास्त्र, और उस नाम को अंग्रेजी में लिखते थे **Gentoo [Hindoo] law**।[1] यहा हिन्दु शब्द की 'ह' ध्वनि अंग्रेजी में **G** द्वारा व्यक्त की गई। क्या इस के लिए कोई बुद्धिमान् किसी मूल 'घेण्टू' शब्द की कल्पना करेगा?

२ संस्कृत वाहन अंग्रेजी में वैगन (**waggon**) और डच भाषा में वगेन हो गया। पर संस्कृत का वह धातु लैटिन में 'वेहरे' रहा और इसी से अंग्रेजी में 'वेहिकल' (**vehicle**) बना। वस्तुतः अपभ्रंशों में नियम नहीं बन सकते।

३ भारतीय 'ह' ग्रीक उच्चारण में

हमारे कथन का प्रमाण अन्यत्र भी है। ब्राह्मण शब्द को अनेक ग्रीक लेखक **Bragmanes** भी लिखते थे।[२] दूसरी ओर वे अपने शब्द **Hades** को **Gades** भी लिख देते थे।[३]

इन प्रमाणों की उपस्थिति में कौन विज्ञ पुरुष संस्कृत शब्द हस को gans आदि शब्दों का मूल नहीं मानेगा। वस्तुतः इन प्रमाणों के सामने योरोप के तर्क जर्जरित हो रहे हैं।

1, A, A. Macdonell, H S L p 438

२. एशिएण्ट इण्डिया, मैगस्थनेज, पृ० १२३, १२४।

३ तथैव, पृ० १२५, १२८।

अत्र संस्कृत की 'ह' ध्वनि के योरोपीय भाषाओं में विभिन्न परिवर्तनों के कुछ उदाहरण देते हैं—

संस्कृत	ग्रीक	लैटिन	लिथू०	गॉथिक	जर्मन	अंग्रेजी
हस	खनस	अंसेर / हंसेर	Zasis		गस्	गूज
हनु	venus	गेना / गेनूईनुस		किनस	किन्न	chin
हिरा	arteria	haru				artery

एक ही 'ह' ध्वनि योरोपीय भाषाओं के भिन्न भिन्न शब्दों में विभिन्न-रूप धारण कर रही है।

४—संस्कृत भाषा के समस्त शब्द अभी तक किसी एक संस्कृत कोश में संगृहीत नहीं हुए। अतः पाश्चात्य लेखकों ने योरोपीय भाषाओं के शब्दों की संस्कृत के उपलब्ध शब्दों से तुलना करके अनेक उलट परिणाम निकाले हैं। यथा बॉप लिखता है—

No one will dispute the relation of the Bengali to the Sanscrit, but it has completely altered the grammatical system, and thus, in this respect, resembles the Sanscrit infinitely less than the majority of European languages .. .... we will take as an example the word schwester, "sister" . this German word resembles the Sanscrit svasar[1] far more than the Bengali bohini ... .. Our expressions vater and mutter correspond far better to the Sanscrit pitar (from patar) and matar than the Bengali bap or baba and ma

(क) फ्रैंज बॉप बंगला के बाप शब्द की संस्कृत के 'पितृ' शब्द से और बंगला के 'बोहिनी' शब्द की संस्कृत के स्वसृ शब्द से तुलना करके ऐसे ही उलटे परिणाम पर पहुंचा है। फ्रैंज बॉप को बंगला 'बाप' शब्द के मूल संस्कृत 'वाप' शब्द का पता ही न था। इसी प्रकार बंगला के 'बोहिनी' शब्द का मूल

1 This, and not svasri is the true theme, the nominative is svasa, the accusative svasaram This word, as Pott also conjectures, has lost, after the second s, a t, which has been retained in several European languages,

भी सस्कृत का 'भगिनी' शब्द है, न कि स्वसृ शब्द। यदि बॉप के पास सस्कृत का कोई समृद्ध पर्याय-कोश होता तो बॉप ऐसी भूल कदापि न करता।

(ख) इसी प्रकार बॉप ने गॉथिक stairno-star की सस्कृत तारा शब्द से तुलना की है।[1] बॉप को पता नहीं था कि वेद में 'स्तृ' प्रकृति का प्रयोग जिस का प्रथमा बहुवचन स्तार. है, मिलता है। उसी से गॉथिक और अग्रेजी के stairno तथा star शब्द विकृत हुए हैं।[2]

५—ध्यान रहे कि फ्रैंज बॉप के मतानुसार सस्कृत से दूर गई हुई भी बगला यदि सस्कृत का रूपान्तर-मात्र है, तो योरोपीय भाषाए जो बॉप के अनुसार ही बगला की अपेक्षा संस्कृत के अधिक निकट हैं, सस्कृत का रूपान्तर क्यों न मानी जाए। उनके लिए किसी भारोपीय मूल भाषा की कल्पना की क्या आवश्यकता है?

६—सूक्ष्म विचारक आपिशलि (३१५० विक्रम पूर्व) ने देश प्रभेद से वर्णों के उच्चारण के बहुविध रूपों का उल्लेख किया है। यथा अवर्ण के विषय में—

अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्या।
कवर्गावर्णानुस्वारजिह्वामूलीया जिह्वया एकेषाम्।
सर्वमुखस्थानमवर्णमित्येके।

अर्थात्—अवर्ण, कवर्ग और विसर्जनीय का कण्ठ स्थान है। कवर्ग अवर्ण, अनुस्वार और जिह्वामूलीय का किन्हीं आचार्यों के मत में जिह्वा स्थान है। कई आचार्यों के मत में अवर्ण का सर्वमुख स्थान है।

इसी प्रकार आगे वकार के विषय में लिखा है—

वकारो दन्त्योष्ठ्यः।　　सृक्कस्थानमेके।

अर्थात्—वकार का दन्त-ओष्ठ स्थान है। कई आचार्यों के मत में वकार का सृक्व (सृक्वणी) अर्थात् मुखविवर का दायां बाया अवयव स्थान है।

७—हमें इस दिशा में एक अभूतपूर्व स्थान से सहायता मिलती है। वह स्थान है वर्नर का नियम। वर्नर ने असाधारण योग्यता से इस बात का प्रतिपादन किया कि वैदिक उदात्त स्वर इण्डोजेरमेनिक मूलभाषा में भी प्राय. उन्हीं

---

१ कम्पैरेटिव ग्रामर भाग १ पृ० ६४। २. मै० मू० L. S L, Vol II p 400—401, वह सर्वथा स्वतन्त्र शब्द तारा के आदि में स् का लोप मानता है।

अक्षरों पर पड़ता है जिन पर वैदिक वाक् में था। उहुनबैक इस विषय में लिखता है—

Verner's law has been an evident proof of the fact, that the Indian stress, as it is handed down to us in some Vedic books and by ancient Indian grammarians, generally fell on the same syllables as in the Indogermanic mother-language. (p 109.)

अर्थात्—वर्नर नियम इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण है कि भारतीय ध्वनि बल (उदात्त स्वर) जैसा हमारे पास कुछ वैदिक ग्रन्थों और भारतीय वैयाकरणों द्वारा पहुंचा है, प्राय. उन्हीं अक्षरों पर पड़ता है, जैसा वह मूल मातृ-भाषा में था।

वर्नर नियम के सामने आने पर कई सूक्ष्म-दर्शी ईसाई और यहूदी भाषाविद् अवश्य घबराए, पर उन्होंने किसी को इस बात का ज्ञान होने ही नहीं दिया कि अन्य अनेक प्रमाणों के साथ वर्नर नियम एक नूतन प्रमाण उपस्थित करता है कि योरोपीय भाषाओं की माता वही संस्कृत थी जिस में अधिकांश उच्चारण-स्वर वेदवत् था। निस्सन्देह योरोपीय भाषाओं के बोलने वाले प्राचीनतम काल में उत्तर भारत और मध्य एशिया के आर्यों से पृथक् हुए थे। वे आदि भाषा के मूल उच्चारण अपने साथ ले गए।

उपसंहार

इस प्रकार हमने इस अध्याय में योरोपीय भाषा मतों के कतिपय अंशों का सोदाहरण सप्रमाण खण्डन करके सिद्ध कर दिया कि पाश्चात्य तथा-कथित 'भाषाविज्ञान' बहुत अधूरा और त्रुटि-पूर्ण है। इस कारण वह वस्तुत. विज्ञान की कोटि से बहुत दूर है। उसे विज्ञान न कह कर मत कहना ही अधिक उपयुक्त है। पाश्चात्य भाषा-मानियों ने इसी तथा-कथित 'भाषा-विज्ञान' की आड़ मे मूल भारोपीय भाषा की जो कल्पना की है वह भी सर्वथा निस्सार है। वर्नर के नियम से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि योरोपीय भाषाएं उसी मूल भाषा से विकृत हुई हैं जिस में वेदवत् बलाघात (उदात्त स्वर) विद्यमान था और वह भाषा संस्कृत है। यह उदात्त स्वर ही सस्कृत भाषा के विभिन्न रूपों में विकार का कारण बना।

अब अगले अध्याय में, सस्कृत समस्त ससार की आदि भाषा थी' इस तथ्य पर प्रकाश डाला जाएगा।

———

तृतीय अध्याय

संसार की आदि भाषा—संस्कृत

दैवी-वाक् की उत्पत्ति का संकेत कर दिया।[1] दैवी-वाक् से लोक-भाषा का सृजन भी कह दिया।[2] योरोप के पक्षपाती भाषा-विज्ञान-मानियों के अनेक कुतर्कों का निराकरण सम्पन्न हुआ। यह निराकरण अनुमानों से नहीं, गम्भीर प्रमाणों से किया गया। यह गणित-विद्या के समान सुनियमित आधार पर प्रतिष्ठित है। तदनु अब संसार की आदि-भाषा का विषय प्रस्तुत किया जाता है।

योरोपीय भाषाविदों की समस्या—इस विषय में पाश्चात्य भाषा-ज्ञानियों को भी बहुधा यह सूझता था कि आदि में भाषा एक ही थी। पर अल्प ज्ञान और पक्षपात के कारण वे यथार्थ परिणाम पर पहुँच नहीं पाए। उन के विषय में मेर्यो पाई लिखता है—

It has long been the dream of certain linguists to trace all languages back to a common source. Attempts to do this have so far proved largely fruitless. The variability of languages in the course of time is such that in the absence of definite historical records of what a language was like five thousand, one thousand or even three hundred years ago, classification becomes extremely difficult [3]

अर्थात्—कई भाषा-ज्ञानियों का चिरकाल से यह स्वप्न रहा है कि सब भाषाओं को एक सामान्य-मूल तक पहुचाए। अब तक इसे सिद्ध करने के यत्न अधिकाश विफल हुए हैं। काल के क्रम में भाषा का परिवर्तन ऐसा होता है कि निश्चयात्मक ऐतिहासिक प्रमाण के अभाव में, एक भाषा पांच सहस्र, एक सहस्र अथवा तीन सौ वर्ष पूर्व कैसी थी, उस का वर्गीकरण अत्यन्त कष्ट साध्य होता है। इति।

पूर्वोक्त लेख पर हम इतना ही कहना चाहते हैं कि यदि पाई जी को निश्चयात्मक तथ्य उपलब्ध नहीं हुए, तो इस का यह तात्पर्य नहीं कि संसार से निश्चयात्मक इतिहास ही उठ गया है।

---

१. पूर्व पृष्ठ ८–१५। २. पूर्व पृष्ठ २६। ३. पृष्ठ २५।

योरोपीय भाषामानियों की उपहास-जनक भूल

वर्गीकरण निराधार—भाषाओं का सैमिटिक और हैमिटिक आदि वर्गीकरण निराधार है। बाईबल में वर्णित इतिहास बताता है कि नोह (=मनु) के पुत्र शाम और हाम थे। उन्हीं के वंशों में दो पृथक् भाषाओं का प्रचार मानना इतना मिथ्या है कि इस पर विचार करना बुद्धि का दिवाला निकालना है। यह तो माना जा सकता है कि १०–१२ सहस्र वर्षों के अन्तर में देश काल परिस्थिति के भेद से एक ही भाषा अति विभिन्न रूपों में विकृत हो गई। पर यह मानना असम्भव है कि एक ही पिता के एक ही स्थान में पले पुत्र आरम्भ से ही दो पृथक् पृथक् भाषाएं बोलते थे। अस्तु।

आरम्भ में अनेक योरोपीय भाषा-विद् संस्कृत को ग्रीक आदि की जननी मानते थे

जब योरोप में संस्कृत भाषा का अध्ययन आरम्भ हुआ, तो वहां के अनेक अध्यापकों का मत बना कि ग्रीक आदि भाषाओं की जननी संस्कृत भाषा है। इस मत पर कुछ ही दिनों में ईसाई यहूदी पक्षपात ने अपना आक्रमण आरम्भ किया। मतवादी विजयी हुए। तब योरोपीय लोगों ने पूर्व मत के विपरीत एक नया पक्ष खड़ा किया। मैक्समूलर इस इतिहास को अपने शब्दों में साभिमान प्रकट करता है—

No one supposes any longer that Sanskrit was the common source of Greek, Latin and Anglo Saxon This used to be said, but it has long been shown that Sanskrit is only a collateral branch of the same stem from which spring Greek, Latin and Anglo-Saxon, and not only these, but all the Teutonic, all the Celtic, all the Slavonic languages, nay, the languages of Persia and America also [1]

अर्थात्—अब कोई नहीं मानता कि संस्कृत भाषा ग्रीक, लैटिन और एंग्लो सैक्सन का सामान्य मूल है। कभी यह कहा जाता था, पर अब बहुत दिन से यह दिखाया जा चुका है, कि संस्कृत तथा ये सब भाषाएं और ट्यूटन, स्लाव और फारसी आदि भाषाएं भी एक सामान्य मूल से निकली हैं।

---

1 India, what can it teach us, London, 1905, pp 21, 22

मैक्समूलर अन्यत्र भी लिखता है।

No sound scholar would ever think of deriving any Greek or Latin word from Sanskrit [1]

अर्थात्—कोई श्रेष्ठ विद्वान् किसी ग्रीक वा लैटिन शब्द के संस्कृत से उत्पन्न होने का कभी विचार नहीं करेगा।

हमारा पक्ष—हमारा वर्णन निराधार कल्पनाओं पर आश्रित नहीं होगा। वह संसार की प्राचीन जातियों के अति-प्राचीन इतिवृत्तों पर आधारित होगा। भारत ने अपना और संसार का प्राचीन इतिहास बहुत सुरक्षित रखा है। दूसरी जातियों में उस का अंशमात्र कहीं कहीं मिलता है, तथापि बैबिलन, मिश्र, ईरान, यहूद और भारत के सब पुराने ग्रन्थकार सहमत हैं कि आदि सृष्टि में देवों का प्राधान्य था।

देव कौन थे—इस गम्भीर विषय में प्रवेश करने से पहले पाठकों को हमारे पूर्व लेख पर पुनः ध्यान देना चाहिए।[2] तदनुसार, एक देव थे द्युलोक से पृथिवी लोक तक फैले हुए। अग्नि पृथिवी स्थानीय देव है। यह स्पष्ट ही विधाता की भौतिक शक्ति का विस्तार है। इसी प्रकार अन्तरिक्षस्थ और द्युलोकस्थ देव भी भौतिक शक्तियों के ही नामान्तर हैं। वेद में सर्वत्र इन्हीं देवों का वर्णन है। अतः विधाता और उस की भौतिक विभूतियों का यथार्थ ज्ञान ही वेद का एक ध्येय है। इन्हें न समझ कर ही यूनान और तत्पश्चात् योरोप में "माईथॉलोजी" रूपी अज्ञान-मत का आरम्भ हुआ। इस पर ओल्डन-बर्ग, हिलिब्रण्ट और मैकडानल प्रभृति ने वृथा कागज काले किए। सूचियों (इण्डैक्सों) द्वारा काम करने वाले विद्यामानी विद्या के गम्भीर तत्त्वों पर नहीं पहुंच सकते।

शरीरधारी देव—जब पृथिवी बन चुकी और वास-योग्य हुई तो उस पर ब्रह्मा, सप्तर्षि और स्वायम्भुव मनु आदि योगज शरीरधारी देव उत्पन्न हुए। डार्विन के कल्पित विकास मत की इस उत्पत्ति के इतिहास के साथ कोई तुलना नहीं। वस्तुतः इतिहास की उपस्थिति में गप्पों का कोई स्थान नहीं।

---

1 Lectures on the science of Language, Vol, II, p 449, London 1855
हम इस वाक्य के No को Every और ever को always में बदल देते हैं।

२. पूर्व पृष्ठ।

प्राचीन सत्य इतिहास का एक मात्र आधार, देव इतिहास

पूर्वदेव = असुर—इन ब्रह्मा आदि देवोंके पश्चात् २१ प्रजापति जन्मे। उन में से कश्यप की सन्तान में माता दिति के पुत्र दैत्य (= Titans)[१] हुए। इन्हें प्राचीन भारतीय इतिहासों में "पूर्वदेव" कहा है।[२] हैरोडोटस के अनुसार मिश्र के पुरोहित इन्हें प्रथम श्रेणि के देव कहते थे।[३] इन दैत्यों वा ज्येष्ठ देवों की सन्तान कुछ काल में ही आदि ससार पर छा गई।[४] इन के विषय में वैदिक ग्रन्थों में उपलब्ध निम्नलिखित छः वचन विशेष ध्यान देने योग्य हैं—

१—तैत्तिरीय ब्राह्मण १।५।६ में लिखा है—

देवासुरास्संयत्ता आसन्। स प्रजापतिरिन्द्रं ज्येष्ठं पुत्रमपन्यधत्त। नेदेनमसुरा बलीयांसोऽहन्निति। प्रह्लादो हवै कायाधवो विरोचनं स्वं पुत्रमपन्यधत्त। नेदेनं देवा अहन्निति।

अर्थात्—देव और असुर [युद्ध के लिए] सज्ज थे। उस प्रजापति [कश्यप] ने इन्द्र ज्येष्ठ (= श्रेष्ठ) पुत्र को छिपा दिया, नहीं इसे असुर बलवान् मारें [ऐसा विचार कर]। प्रह्लाद कयाधू-सुत ने अपने विरोचन पुत्र को छिपा दिया;[५] नहीं इसे देव मारें [ऐसा विचार कर]।

प्रह्लाद की माता का नाम 'कयाधू' था।[६] इसलिए ब्राह्मण में उसे 'कायाधव' (कयाधू का पुत्र) कहा है।

विश्वबन्धु जी की भूल—विश्वबन्धु जी ने वैदिकपदानुक्रम कोश में तैत्तिरीय ब्राह्मण में प्रयुक्त 'कायाधव' शब्द की प्रकृति ह्रस्व उकारान्त 'कयाधु' शब्द माना है।[७] इतिहास-विरुद्ध होने के कारण यह व्युत्पत्ति सर्वथा अशुद्ध है। शब्दार्थ की प्रतीति बहुधा केवल व्याकरण से नहीं होती।

---

१ दैत्य शब्द का रोमन भाषाम अपभ्रंश अथवा म्लेच्छीकरण।

२. महाभारत सभापर्व १।१५॥ अमरकृत नामलिङ्गानुशासन १।१।१२॥

३ भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग १ पृष्ठ २१५–२२८ तक।

4 The Titans often called the Elder Gods, were for untold ages supreme in the universe Edith Hamilton, Mythology, 1953, p 24

५. तैत्तिरीय ब्राह्मण १।५।११ से विदित होता है कि कयाधू-पुत्र प्रह्लाद ने विरोचन को पृथिवी के भीतर किसी गुप्त गृह में छिपाया था।

६ हिरण्यकशिपोर्भार्या कयाधूर्नाम दानवी। भागवत ६।१८।१२॥

७. ब्राह्मण-पदानुक्रम कोश भाग १, पृष्ठ ३४६, संवत् १९९३ ।

उसके लिए इतिहास का ज्ञान भी अत्यावश्यक है। अत एव कृष्ण द्वैपायन व्यास ने सत्य लिखा था—

बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं संहरिष्यति।

विश्वबन्धु जी ने अल्पश्रुत होने के कारण यह उपहास-जनक भूल की है।

२—छान्दोग्य उपनिषद् ८।७ में इन्द्र और असुर विरोचन के अपने पिता प्रजापति के समीप ब्रह्मचर्य-वास का उल्लेख है—

इन्द्रो ह वै देवानामभिप्रवव्राज विरोचनोऽसुराणाम्। तौ हासंविदानावेव समित्पाणी प्रजापतिसकाशमाजग्मतुः।

अर्थात्—इन्द्र निश्चय से देवों में से [कश्यप प्रजापति के समीप ब्रह्मचर्यार्थ] गया, विरोचन असुरों में से।

असुरों और वर्तमान योरोपीय जातियों की प्रेत-क्रिया— छान्दोग्य उपनिषद् के इसी प्रकरण में आगे कहा है कि असुर लोग प्रेत शरीर को अन्न, वसन और अलंकार आदि से बहुत संस्कृत करते हैं।' उन की यह प्रथा भारत-युद्ध-काल में भी थी। उपनिषद् का 'अद्याप्येह' पाठ इसी तत्त्व का संकेत करता है। उपनिषद् की बात को आज ५००० वर्ष से अधिक हो चुके। इस समय भी असुरों की वंशज अनेक योरोपीय जातियां प्रेत के शरीर की सजावट पर अधिक ध्यान देती हैं।

३—जैमिनि ब्राह्मण १।१२६ में त्रिशीर्ष गन्धर्व विषयक एक कथा है। उस में उशना काव्य के असुरों में महत्त्व का वर्णन है। उसी प्रसंग में कहा है—

य इमा विरोचनस्य प्राह्रादे' कामदुघास्तामि. .....।

अर्थात्—जो ये प्रह्लाद-पुत्र विरोचन की कामदुघा (गौएं = पृथिवी स्थान) हैं, उन से......

४—आथर्वण शौनक शाखा ८।१० (४)। १२ में पाठ है—

तस्या विरोचनः प्राह्रादिर्वत्स आसीत्, अयस्पात्रं पात्रम्।[2]

---

१. तस्माद्याऽप्येह .....प्रेतस्य शरीरं भिक्षया वसनेनालंकारेणेति संस्कुर्वन्ति। ८।८॥

२. यह पाठ ब्राह्मणान्तर्गत है वा नहीं, इस पर आर्षसिद्धान्त अन्वेष्टव्य है।

अर्थात्—उस [पृथिवी] का प्रह्राद (प्रह्लाद) का पुत्र विरोचन वत्स था। लोहे का पात्र [दुहने का] पात्र था।

५—शाङ्ख्यायन आरण्यक ५।१ के वर्णनानुसार अपने मित्र काशीराज प्रतर्दन के उत्तर में इन्द्र ने आत्मचरित कहा—

त्रिशीर्षाण त्वाष्ट्रमहन्। अररुमुखान् यतीन् सालावृकेभ्य प्रायच्छन्।[1] बह्वी·सन्धा अतिक्रम्य दिवि प्रह्लादीयान् अनृणमहन्। अन्तरिक्षे पौलोमान्, पृथिव्यां कालखञ्जान्। तस्य मे तत्र लोम च नामीयत।

अर्थात्—त्रिशीर्षा [विश्वरूप] नामक त्वष्टा के पुत्र को मारा। अररु के आश्रय में चले गए यतियों को सालावृकों (भोजनभट्ट ब्राह्मणों) के लिए दिया। बहुत सी सन्धियों का उल्लङ्घन करके द्युलोक (कश्मीर के उत्तर पश्चिम प्रदेश) में प्रह्लाद के सम्बन्धियों को अनृण (नि.शेष) मारा, अन्तरिक्ष (मध्य एशिया और मध्य योरोप) में पुलोम के वंशजों को, और पृथिवी (भारतवर्ष के पश्चिम) में कालखञ्जों को। इस कार्य में मेरा लोम भी रोगी नहीं हुआ (= बाल भी बाका नहीं हुआ)।

६ प्राह्लादि कपिल—बौधायन मुनि अपने धर्मसूत्र में प्राचीन धर्माचार्यों का सूत्र जो किसी ब्राह्मण पाठ पर आश्रित है, उद्धृत करता है—

तत्रोदाहरन्ति-प्राह्लादिर्ह वै कपिलो नामासुर आस। स एतान् भेदांश्चकार देवैस्सह स्पर्धमान.। तान् मनीषी नाद्रियेत।
२।११।३०॥

अर्थात्—आश्रमों का भेद प्रह्लाद के पुत्र कपिलासुर का प्रचलित किया हुआ है [आसुर देशों में]।

मैकडानल और कीथ की उत्पथता—मैकडानल और कीथ ने अपने 'वैदिक इण्डेक्स' नामक ग्रन्थ में वैदिक ग्रन्थों में बहुधा निर्दिष्ट प्रह्लाद और विरोचन का उल्लेख तक नहीं किया। पक्षपाती ईसाई भयभीत था कि कहीं सत्य प्रकाशित न हो जाए।

पूर्वोद्धृत प्रमाणों का महत्त्व—वैदिक ग्रन्थों के पूर्वोद्धृत सदर्भ

---

१. तुलना करो–ऐ० ब्रा० ७।२८॥ ताण्ड्य ब्रा० १३।४।१७॥ जै० ब्रा० २।१३४॥

असाधारण महत्त्व के हैं। पुराने संसार का, महाराज विक्रम से १०-१५ सहस्र वर्ष पूर्व का, इन में स्फीत चित्र है। सत्यता का यह बोलता साक्ष्य है। योरोपीय भाषामानियों के अनृतवृत्त के मूल पर यह कुठाराघात है। इस पुराने इतिहास को त्याग कर कल्पनाओं पर कौन प्रतिभावान् पुरुष विश्वास कर सकता है। इन्हीं ऐतिहासिक तथ्यों की पुष्टि अब दूसरे इतिहासों से की जाती है।

इतिहास से वैदिक ग्रन्थों की पुष्टि—अद्यावधि कण्ठस्थ रखे जाने वाले ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में जो बात सुरक्षित रही, ठीक वही सत्य अन्य इतिहास ग्रन्थों में भी मिलता है। प्रह्लाद-पुत्र विरोचन के विषय में हरिवंश ६।२९-३१ में लिखा है—

> **असुरै: श्रूयते चापि पुनर्दुग्धा वसुन्धरा।**
> **आयसं पात्रमादाय मायां शत्रुनिबर्हिणीम्॥**
> **विरोचनस्तु प्राह्लादिर्वत्सस्तेषामभूत् तदा।**
> **ऋत्विग् द्विमूर्धा दैत्यानां मधुर्दोग्धा महाबल॥**
> **तयैते मायया ऽद्यापि सर्वे मायाविनोऽसुरा:।**
> **वर्तयन्त्यमितप्रज्ञास्तदेषाममितं बलम्॥**

अर्थात्—सुना जाता है कि असुरों ने भी पुन: दूहा पृथिवी को, लोहे का पात्र लेकर [और] शत्रुनाशक माया का आश्रय लेकर। प्रह्लाद-पुत्र विरोचन उन का वत्स [के समान] हुआ उस समय। दैत्यों का ऋत्विक् महाबलवान् द्विमूर्धा मधु दूहने वाला था। उसी माया से आज[1] भी सम्पूर्ण मायायुक्त अमित बुद्धिवाले असुर वर्तते हैं। वही उन का अमित बल है।

अमित-प्रज्ञ असुर—आर्य इतिहास स्पष्ट घोषणा करता है कि असुर अमित-प्रज्ञ थे। निस्सन्देह काल्डिया की अनेक विद्याएं बहुत उन्नत अवस्था में थीं। उन के और भारतीय आर्यों के ज्ञान का मूल एक ही था। काल के विभिन्न अङ्गों का साठ-साठ अंशों में विभाजन दोनों देशों की समता का परिचायक है।[2]

---

१ इस से स्पष्ट है कि आज भी अर्थात् भारत युद्ध काल तक प्रह्लाद विरोचन आदि का इतिवृत्त प्रसिद्ध था। मत्स्य १०।२१ के अनुसार यही द्विमूर्धा मधु संसार में माया का प्रवर्तक था।

२. देखो, भारतवर्ष का बृ० इ०, भाग प्रथम, पृ० १४६।

असुरों का वंश वृक्ष—वैदिक और ऐतिहासिक ग्रन्थों में वर्णित इन असुरों का वृत्त जानने के लिए उन के वंश-विस्तार[1] का जानना अत्यावश्यक है। अत एव वह आगे दिया जाता है—
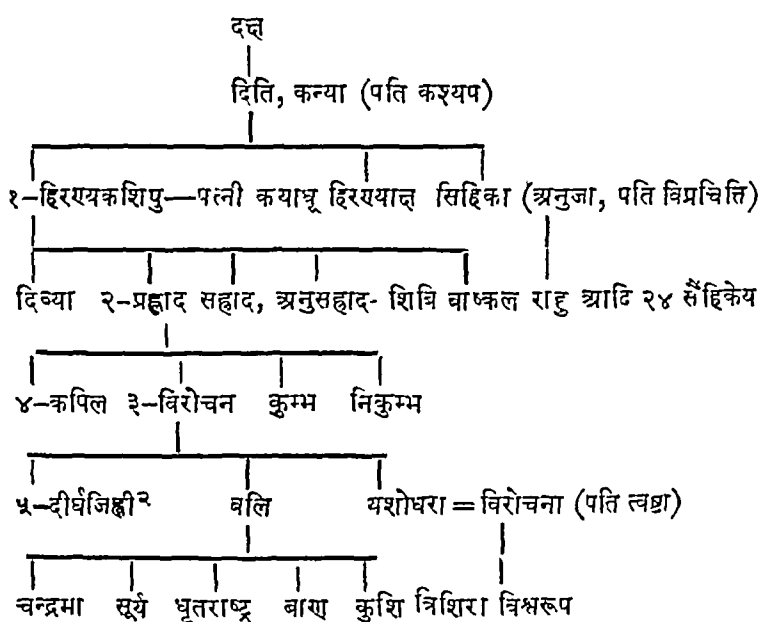
इन में से संख्या १—५ अन्तर्गत व्यक्ति पूर्वोद्धृत वैदिक ग्रन्थों में स्मृत हैं। शेष नाम इतिहासों से लिए गए हैं।

असुरों के राज्यस्थान—असुर देश (Assyria) कभी बड़ा विस्तृत था। हैरोडोटस के काल (विक्रम पूर्व ४०० वर्ष) में बाबल देश इस का एक भाग था।[3] पहले सारे असुर देश की राजधानी निनेवह थी।[4] तदनु बाबल

---

१. पूरे प्रमाणों के लिए, देखो भारतवर्ष का इतिहास, द्वि सं०, पृष्ठ ५०।

२ जै० ब्रा० १।१७१॥ ता० ब्रा० ८।५।२२॥

३. भाग १, पृष्ठ ९०।

४ इस नाम में 'वह' प्रत्यय वैसा ही है, जैसा भारतीय नगर और गाव नामों में—भद्रवह, कौकुडीवह (वाहीक ग्राम, वर्तमान गिदड़वाह) आदि में दिखाई पड़ता है।

राजधानी बनी। बलि अथवा बल के नगर बाबल में ही दैत्य बल का मन्दिर था। असुर-प्रदेश में बड़े २ नगर बहुत थे।[1]

वैबिलन के निचले प्रदेश के लोग काल्डियन कहाते थे।[2]

१–असुर अथवा दैत्य संस्कृत-भाषी

असुरों की भाषा के विषय में हैरोडोटस एक सुन्दर उदाहरण उपस्थित करता है—

Mylitta (मि–लित्त) is the name by which the Assyrians know this goddess, whom the Arabians call Alitta, and the Persians Mitra.[3]

मि लित्त के लित्त में आद्यन्त विपर्यय हुआ है। तथा रलयोरभेद है। यह ठीक संस्कृत मित्र का अपभ्रंश है। वैदिक ग्रन्थों में 'मित्रावरुणौ' बहुधा समास में इकट्ठे भी होते हैं। अतः निश्चय ही अति प्राचीन असुर-देशवासी वैदिक देवों से परिचित थे।

हैरोडोटस ने मैसोपोटेमिया के अनेक मन्दिरों का वर्णन किया है, जहा विरोचन और बलि की पूजा होती थी।

भारत के पूर्व में असुर—असुरों का एक भाग कभी भारत के पूर्व में भी बसता था। शतपथ में लिखा है—

अथ या आसुर्यः प्राच्याः [प्रजाः] त्वद्ये त्वत् परिमण्डलानि [ताः श्मशानानि कुर्वते]। १३।८।१।५॥

अथ या आसुर्य प्राच्याः [प्रजाः] त्वद्ये त्वदन्तर्हितानि [ताः श्मशानानि कुर्वते] ते चम्वां त्वद्यस्मिंस्त्वत्। १३।८।२।१॥

अर्थात्—जो असुरों की प्राची दिशा में रहने वाली प्रजा हैं वे गोल श्मशान बनाती हैं।

तथा जो असुरों की प्राची दिशा में रहने वाली प्रजा हैं वे अन्तर्हित श्मशान बनाती हैं। वे चम्वा[4] अर्थात् नीचे गहरा गोल गर्त खोदती हैं।

---

१ हैरोडोटस भाग २ पृष्ठ ६०।

२ तथैव, भाग २ पृष्ठ १४६।

३. तथैव, भाग १ पृष्ठ ६६, तथा देखो भाग १ पृष्ठ १०२।

४. हैदराबाद (दक्षिण) राज्य की भाषा में गहरे गोल बड़े कटोरे

चीन अर्थात्—आसाम का भगदत्त और उस का पूर्वज नरकासुर उन्हीं मूल प्राच्य असुरों की सन्तान में थे।

अल-मासूदी का लेख—इस्लामी परम्परा का ज्ञाता प्रसिद्ध अरबी लेखक अल-मासूदी (सवत् ९८७) लिखता है—

The kings of China, of the Turks, of India, of the Zanj, and all other kings of the earth, looked up to the king of the Climate (Kishwar) of Babel with great respect, for he is the first king on earth

The ancient kings of Babel had the title Shahan Shah. ..[1]

अर्थात्—चीन, तुर्की, भारत, ज़ज और पृथिवी मात्र के राजा बाबिल के राजा को प्रतिष्ठा से देखते हैं। वही पृथिवी का पहला राजा था।

बाइबल में विरोचन और बलि—बाइबल में विरोचन (= **Belos, Beor**) और बलि (= **Baal–Baalim, Balaam**) का बहुधा उल्लेख मिलता है। यथा—

(a) They (Ammorite or Moabite) hired against thee Balaam the son of Beor of Pethor of Mesopotamia[2],

(b) And the children of Israel forgot their God and served Baalim[3]

behold, the alter of Baal was cast down.[4]

टामस मौरीस का मत—बाइबिल में उसी बल का उल्लेख है जो भारतीय ग्रन्थों में बलि आदि के नाम से स्मृत है, इस विषय में ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा ईसाई धर्म की रक्षा के निमित्त नियुक्त पक्षपाती मौरीस का लेख द्रष्टव्य है।

On the supposition, which is at least exceedingly probable that the Indian Bali is the same person with the Baal of Scripture,

---

(तसले) के लिए 'चम्रू' शब्द का व्यवहार होता है। ऋ० ६।६३।२ में चमस (यज्ञीयपात्र) के लिए 'चमू' शब्द का प्रयोग मिलता है।

1 Meadows of gold and mines of gems Eng tr- by Aloys Sprenger, London, 1841, p 366, 367

2 Deuteronomy, 23, 4

3 Judges, 3, 3

4 Judges 6, 24

and the Belus of profane history, and that a considerable portion of the events, properly belonging to the life of his father Nimrod also called both Cush and Belus are engrafted on his sons.[1]

अर्थात्—अत्यधिक सम्भव है कि भारतीय बलि बाईबिल का बल है।

जब राथ, मैक्समूलर आदि ने देखा कि पुरातन भारतीय इतिहास के सत्य सिद्ध होने पर उन का पक्षपात पूर्ण पक्ष खण्डित हो जाएगा, तो उन्होंने इन समानताओं का उल्लेख करना भी छोड़ दिया। इन मतान्ध लोगों के सिर पर भूत सवार था कि वेद का काल अति प्राचीन सिद्ध न होने पाए।

परिणाम—पूर्वोक्त सन्दर्भों से निश्चित होता है कि इस्लामी और यहूदी ग्रन्थ तथा हेरोडोटस आदि प्राचीन ऐतिहासिक विरोचन आदि को ऐतिहासिक पुरुष और ससार के प्रथम शासक मानते थे। उन की राजधानी काल्डिया आदि में थी।

असुर अथवा काल्डिया के सम्राट् और निवासी संस्कृत भाषी

इस विषय में ब्राह्मण आदि ग्रन्थों के निम्नलिखित पाठ सूक्ष्मेक्षिका के योग्य हैं—

१ तेऽसुरा आत्तवचसो हेऽलवो हेऽलव इति वदन्त. परा बभूवु।
शत० ३।२।१।२३॥

२ तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्त परा बभूवुः। महाभाष्य पस्पशाह्निक में उद्धृत ब्राह्मण पाठ।

३ असुरेषु वा एष यज्ञ अग्र आसीत्। शत० १२।९।३।७॥

४ तैः पुनरसुरैर्यज्ञे कर्मण्यपभाषितम्..। महाभाष्य पस्पशा०

इन वचनों से स्पष्ट है कि—

१. असुर आत्तवचा अर्थात् शुद्ध वाक् से परे हटे अथवा ग्रस्त उच्चारण वाले अपभाषण के कारण पराजित हुए।

२. असुर लोग यज्ञ करते थे।

यज्ञ में दैवी वाक् बोली जाती है। निश्चय ही उन के पास वैदिक छन्द अर्थात् मन्त्र थे। तै० स० में स्पष्ट ही लिखा है—

---

1 History of Hindoostan, vol II p 18

कनीयांसि वै देवेषु छन्दांस्यासन् ज्यायांस्यसुरेषु ।[1]

३. असुरों ने यज्ञ कर्म में भी यत्र तत्र अपभाषण[2] आरम्भ किया।

छान्दोग्य उपनिषद् के पूर्वोद्धृत प्रमाण के अनुसार कश्यप प्रजापति का वंशज विरोचन असुर प्रजापति के पास इन्द्र के साथ स्वाध्याय के लिए गया। वह विरोचन संस्कृत के परम विद्वान् कश्यप के पास संस्कृत में ही विद्याग्रहण करता था। महान् विद्वान् बृहस्पति का भाई सुधन्वा विरोचन आदि के साथ पण लगा रहा था। वह ब्राह्मण का श्रैष्ठ्य पूछता था। इन्हीं असुरों का एक पुरुष त्रिशिरा विश्वरूप वेदमन्त्रों का ऋषि हुआ। विरोचन का पौत्र प्रसिद्ध बाणासुर था। बाण नाम के अनुकरण पर ही 'असुर बनीपाल' नाम' पड़ा। असुर राजा बहुत उत्तर काल तक अपने नाम के साथ असुर शब्द का प्रयोग करते रहे। यथा—अशुरनसिरपाल।[3]

भारतीय और बाबल के यज्ञों में साम्यता—अध्यापक **W.F.** अल्ब्राईट ने अमेरेकन ओरियण्टल सोसाईटि के जर्नल में एक लेख लिखा है। उसके विषय में लिखते हुए मार्क-जन ड्रेस्डेन अपने मानवगृह्य सूत्र के अंग्रेजी अनुवाद के प्राक्कथन पृष्ठ ८ पर लिखता है—

For a striking parallel between India and Babylonia, see the article by W F Albright and P. E Dumont, 'A parallel between India and Babylonian sacrificial ritual', in JAOS 54 (1934), 107—127 See also Bohl, Jaarb EX. Oriente Lux 7 (1940), 412

आसुर और भारतीय ज्योतिष का सामञ्जस्य—असुरों अथवा काल्डिया-निवासियों के ज्योतिष ज्ञान का आर्यों के ज्योतिष- ज्ञान से सामञ्जस्य होना उन दोनों के कभी अति समीपस्थ होने का एक प्रबल प्रमाण है।

सुमेर और भारतीय शब्दों की असाधारण साम्यता—डाक्टर जी. डबल्यू ब्राऊन ने सुमेर और भारतीय शब्दों की असाधारण साम्यता

---

१. तै० सं० ६।६।११॥

२ लिङ्ग-वचन काल-कारकाणाम् अन्यथा प्रयोगो ऽपशब्दः। कौटिलीय अर्थशास्त्र, दूसरा अधिकरण, अ० १०।

3 Duncan Macnaughton, A Scheme of Egyptian Chronology, p 343.

दर्शाई है।[१] तदनन्तर श्री जयनाथपति ने भी इसी विषय पर एक असाधारण लेख लिखा।[२]

सुमेर (=मीड) भाषा और महामहोपाध्याय वाडेल—मिश्र के कालक्रम का उल्लेख करते हुए डकन मैकनाटन लिखता है—

It will be readily granted that Prof Waddell has done much useful work in collecting examples of script from India which bear a close resemblance to Sumerian script, that it is possible, perhaps probable, that the Sumerians and the early Aryans of North India spoke similar languages and were of related stock,[3]

अर्थात्—वाडेल का मत—बहुत सम्भव है कि उत्तर-भारत के आदि आर्य और सुमेर (बाबल) के लोग एक समान भाषाएं बोलते थे।

निःसन्देह यह मत ठीक है। सुमेर की भाषा ही नहीं, सम्पूर्ण असुर देश की भाषा भी आर्य भाषा संस्कृत का विकृत रूप थी।[४] अनेक पाश्चात्य लेखक काल्डिया के वासियों को अकद की महती हैमाई जाति का कह कर उन की भाषा को आर्य भाषा से पृथक् मानते हैं।[५] वस्तुतः यह बात सत्य नहीं। हामी भाषा भी संस्कृत का ही विकृत रूप है।

कालान्तर में ब्राह्मणों के अदर्शन और फलतः पठन-पाठन का क्रम टूटने से इन असुरों में वाक् की अस्पष्टता प्रारम्भ हुई। वे म्लेच्छ (=अस्पष्ट-भाषी) बन गए।[६] उन्होंने व्यवहार के अतिरिक्त यज्ञ में भी पाठ-शुद्धि का ध्यान न

---

१. J A O S भाग ४५, पृ० ३३६।

२ इ० हि० क्वा०, भाग ४, पृ० ६८७, सन् १९२८।

3 D. Macnaughton, A Scheme of Egy Chro, London, 1832, p 67.

४. तुलना करो, मंगलदेव, पृष्ठ २११। इतिहास ज्ञान के अभाव के कारण डाक्टर जी तथ्य को समझ नहीं सके।

५. हैरोडोटस, भाग १, पृष्ठ ६२ पर चौथा टिप्पण।

६ असुर म्लेच्छ बन गए, उन में दास-प्रथा चल चुकी थी। उसी का उल्लेख करते हुए विष्णुगुप्त लिखता है—"म्लेच्छानामदोषः प्रजां विक्रेतुमाधातुं वा, न त्वेवार्यस्य दासभावः।" अर्थशास्त्र—जालि सं० पृष्ठ १०७।

अर्थात्—म्लेच्छों में प्रजाओं का विक्रय अथवा दास रूप में रखना अदोष है। आर्यों में दासभाव नहीं है।

रखा। युद्धों में भी वे अपभाषण करने लगे। इन्हीं असुरों की सन्तानों में योरोप की कतिपय जातियां हैं।

असुर = टाइटन्ज (Titans)—प्राचीन दैत्य वा दैतेय ही पुराकाल के यूनानियों में Titans नाम से विख्यात थे। उत्तर काल में उनकी सन्तान 'टूटन' (अंग्रेजी में Teutons,[1] लैटिन में Teutones, गाथिक में Thiuda) कहाई। स्कैण्डिनेवियन, जर्मन, डच और अंग्रेज आदि उनके वंशज हैं।

डच (Dutch) शब्द—यह शब्द जर्मन में deutsch, ओल्ड हाई जर्मन में diutisk = diutish, एंगलो सैक्सन में Theod और गाथिक में Thiuda (=एक जाति) रूप में मिलता है।

इसी प्रकार जर्मनी का नाम Dieutschland है। ये दोनों शब्द अपना इतिहास स्वयं बताते हैं। दैत्य से टाइटन अथवा टूटन बना। यह शब्द अगले विकारों में डाइट्श अथवा डच हुआ। डाइट्श में ich प्रत्यय-मात्र है। इस प्रकार निश्चित होता है कि उत्तर योरोप के प्रायः सब देश दैत्य वंश के बसाए हुए हैं। इतिहास से यह स्पष्ट सिद्ध है। वर्तमान भाषा-मानियों की कल्पनाएं और उनके अनेक अंशों में अशुद्ध ध्वनि-परिवर्तन-नियम इस इतिहास के सम्मुख भस्मीभूत हैं। ये शब्द अपना इतिहास स्वयं बता रहे हैं। इन देशों की भाषाएं संस्कृत का विकार-मात्र हैं।

संसार की प्राचीनतम पांच जातियां

सत्ययुग के अन्त में जनसृष्टि कई जातियों में विभक्त हो चुकी थी। पांच जातियां उन में प्रधान थीं। वेद में सामान्य रूप से पञ्चजनों का उल्लेख है। कृतयुग के अन्त में वेद के कुछ व्याख्याकारों ने इस वैदिक 'पञ्चजन' पद की व्याख्या में जिन पांच प्रधान जातियों का उल्लेख करना आरम्भ कर दिया, वे थीं, गन्धर्व, पितर, देव, असुर और राक्षस।[2]

अश्वमेध के अन्त में प्राचीन जनों का स्मरण—आर्य लोग पुरातन संसार का इतिहास सुरक्षित रक्खें, इस निमित्त अश्वमेध के अन्त में अनेक जनों का संस्मरण आवश्यक कहा गया है। उन जनों में माध्यन्दिन शतपथ के पाठानुसार "असित धान्व" को आसुरी विशों (=प्रजाओं) का राजा कहा है।

---

१. अंग्रेजी शब्द लिखा 'ट्यूटन' जाता है, पर उच्चारण इस का 'टूटन' है।

२ निरुक्त ३।८॥

विरोचन का पुत्र शम्भु और शम्भु का एक पुत्र धनुक=धनु था।[1] धनु के वंश में धान्व हुए। असित उन में से कोई एक था।

देव ही नहीं, गन्धर्व, पितर, असुर और राक्षस[2] जातियां भी संस्कृत और वैदिक कर्मकाण्ड में गति रखने वाली थीं।

२. ईरानी संस्कृत भाषी

१—अति प्राचीन ईरानी असुरों के अति निकट सम्बन्धी भृगु की सन्तान में थे। भृगु ने हिरण्यकशिपु की कन्या दिव्या से विवाह किया। उस में शुक्र जन्मा। कवि, काव्य और उशना उसी के नामान्तर थे। वह वर्तमान ईरानी ग्रन्थों में 'कैकोस' (=कवि+उशना)[3] के नाम से स्मृत है।

शुक्र द्वारा संस्कृत में रचे दण्डनीति-शास्त्र के उद्धरण आज भी अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। सम्पूर्ण भार्गव शिष्ट थे और संस्कृत के अद्वितीय ज्ञाता थे।

पारस नाम का कारण—जोव और दने (दनु) का पुत्र पर्सियस् था। वह बल के पुत्र केफियस् के पास गया। उसने केफियस् की पुत्री अन्द्रोमेधा से विवाह किया। इन का पुत्र पर्सेस था। उस के नाम पर देश का नाम पारस पड़ा।[4] इति।

२—ईरान का प्राचीनतम राजा 'वैवस्वत यम' था। वह वैवस्वत मनु का लघु भ्राता था। वह ईरानी वाङ्मय में 'यिम खिशश्रोस्त' आदि नामों से स्मृत है। अवेस्ता में यह नाम **'यिम खशएत'** है। वह **'विवघ्वन्त'** का पुत्र **'पिशदादियन'** कुल का राजा था।

इन में 'यिम' **यम** का, 'विवघ्वन्त' **विवस्वान् (=विवस्वन्त्)** का और 'पिशदादियन' **पश्चाद्-देव** का अपभ्रंश हैं।[5]

---

१. वायुपुराण ६८।८१॥

२ शतपथ १०।५।२।२० तथा शतपथ १३।४।३।१० की तुलना करने से विदित होता है कि राक्षस देवों के वंशों में से हैं।

३. कभी कभी दो पर्याय नामों से भी अपभ्रंश हो कर एक नाम बन जाता है। यथा—'कच्छप कूर्म', इन दो नामों से पंजाबी भाषा का 'कच्छु-कुम्मा' शब्द बना है।

४ हेरोडोटस, द्वितीय भाग, पृष्ठ १४५।

५ तुलना करो—हॉग, ऐतरेय ब्राह्मण, भूमिका, पृ० ३०। तदनुसार पिशदादियन पुरोधा का पारसी अपभ्रंश है। परन्तु हमारी तुलना ठीक है।

यम का राज्यस्थान—संस्कृत के वैदिक तथा लौकिक सभी ग्रन्थों में वैवस्वत यम को पितरों का राजा कहा है।[1] मैत्रायणी संहिता १।६।१२ में लिखा है–

स वाव विवस्वान् आदित्यो यस्य मनुश्च वैवस्वतो यमश्च। मनुरेवास्मिंल्लोके, यमोऽमुष्मिन्।[2]

अर्थात्—वह विवस्वान् आदित्य है जिस के मनु और यम पुत्र थे। मनु ही इस लोक [भारतवर्ष] में [राजा हुआ] और यम उस [पितृ] लोक में।

ईरानी और देव—ईरानियों का कुछ भाग साक्षाद् देव वंश में था। उत्तरकाल में वह भाग भी देवों का विरोधी हो गया। अवेस्ता यस्न १२ में लिखा है—

I cease to be a Deva I profess to be a Zoroastrian .... . an enemy of the Devas, and a devotee of Ahura,[3]

अर्थात्—मैं देव रहना समाप्त करता हूँ। मैं ज़रदुश्त में श्रद्धा करता हूँ।.. ......मैं देव का शत्रु और अहुर का भक्त हूँ।

ईरानियों का कुछ भाग देव वंश का था, इस का प्रमाण डा० मोदी के लेख से भी मिलता है।

डा० जीवनजी जमशेदजी मोदी का लेख है कि पहलवी ग्रन्थों के अनुसार प्राचीन फारस के चार शत्रु थे। प्रथम—अजिदाहक, द्वितीय—बाबिल का बेलोस् (बलासुर), तीसरा—अफरासियाब (वृषपर्वा) और चौथा—अस्कन्दर (सिकन्दर)।[4]

इन में से प्रथम, द्वितीय और तृतीय स्पष्ट असुर थे। वे ईरानी देवों के शत्रु थे।

डाक्टर मोदी का लेख महान् ईरान देश के थोड़े से भाग के विषय में सत्य ठहर सकता है।

३ इन चार में प्रसिद्ध तातारी राजा वृषपर्वा या अफरासियाब था। उस का वंश निम्नलिखित वंश वृक्ष से समझा जा सकता है।

---

१ तै० सं० २।६।६॥ शतपथ० १३।४।३।६॥ महाभारत शान्ति० १२२।२७॥ वायु पुराण ७०।८॥

२. देखो, जै० ब्रा० २।१६६॥ ३. हाग, पृ० १७३।

४ द्वितीय ओरियण्टल कान्फ्रेंस, पृष्ठ १०१।

कश्यप + दनू = दनु

पुलोम	गवेष्ठि	दुन्दुभि	विप्रचित्ति	स्वर्भानु	वृषपर्वा	मुण्ड
शची			(Bachus)		शर्मिष्ठा	
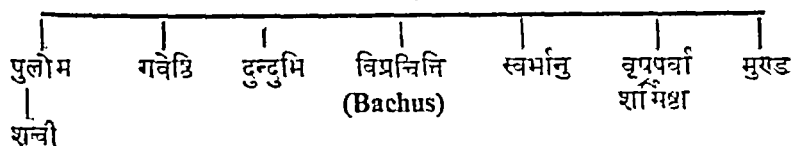
वायु पुराण ६८।३ में विप्रचित्ति आदि के लिए अयज्वा और अब्रह्मण्य विशेषण लिखे हैं। मत्स्य में ६।१६ से इस वंश का उल्लेख है। तदनुसार अन्य प्रसिद्ध पुत्र, द्विमूर्धा, शकुनि, शङ्कु, अयोमुख, शम्बर, कपिश, केतु आदि थे।

योरोप की गॉथ जाति—गवेष्ठि को वायु पुराण ६८।१६ में मनुष्य-धर्मा कहा है। गवेष्ठि के वंशज ही आगे चलकर 'गाथ' कहाए। गाथिक भाषाएं इन्हीं की हैं। पुराने गाथ इस्तर = 'डेन्यूब' नदी के उत्तरी तट पर बसे हुए थे। निश्चय ही वर्तमान 'डेन्यूब' 'दानव' नदी है। इसी प्रकार डेन लोग भी दानवों के वंशज हैं।

पुलोम के वंशज पौलोमों का वर्णन शाखायन आरण्यक के पूर्व उद्धृत प्रमाण में आया है। पुलोम की कन्या शची इन्द्र की पत्नी थी। जैमिनि ब्राह्मण ३।१९९ में इस का उल्लेख है। शची पौलोमी ऋ० १०।१५९ की द्रष्टी है।

वृषपर्वा की दुहिता शर्मिष्ठा महाराज ययाति की पत्नी थी। उशना की कन्या देवयानी और वृषपर्वा की दुहिता शर्मिष्ठा के संवाद-विषय में एक गाथा महाभारत सभापर्व २।२६ में उद्धृत है। महाभारत आदिपर्व ७३।१०, ३२ तथा ७५।७१ में शर्मिष्ठा का उल्लेख है। बौधायन धर्मसूत्र में भी वार्षपर्वणी का उल्लेख मिलता है।

आर्यों, देवों और असुरों के विवाह सम्बन्ध—अति प्राचीन काल में इन जातियों में परस्पर विवाह सम्बन्ध होते रहते थे—

१. जैमिनीय ब्राह्मण ३।७२ में लिखा है—

कण्वो वै नार्षदोऽखगस्यासुरस्य दुहितरमविन्दत।

अर्थात्—नृषद् के पुत्र कण्व ने, [जो मानवों में था] असुर अखग की दुहिता से विवाह किया।

नार्षद् कण्व प्रसिद्ध वैदिक ऋषि था।

२. दनु-पुत्र पुलोम की कन्या शची[1] इन्द्र की पत्नी थी।

३ दनु-पुत्र वृषपर्वा की दुहिता शर्मिष्ठा का भारतीय महाराज ययाति के साथ विवाह हुआ था।

इस प्रकार के अनेक विवाहों का उल्लेख प्राचीन इतिहास में उपलब्ध होता है।

यदि इन जातियों की भाषाएं पृथक् पृथक् होतीं तो इन के पारस्परिक विवाह सम्बन्ध विशेषरूप से न होते। इस से स्पष्ट है कि इन सब जातियों की भाषा एक ही थी।

४—अहिदानव (अजिदहाक)—पार्थिव वृत्र का ही दूसरा नाम अहिदानव था। वह त्वष्टा पुत्र था। दनू और दनायू ने इसे माता पिता के समान पाला था। अतः यह दानव नाम से प्रसिद्ध हुआ। पारसीक ग्रन्थों में स्मृत 'अजि दाहक' अहिदानव ही है। अरबी भाषा में यह व्यक्ति 'डहहाक' नाम से स्मृत है।

जर्मन प्रोफेसर हाइन्रिश सिमर अहिदानव अथवा अजिदाहक के विषय में लिखता है—

आरमीनिया की परम्परा में 'अज्ढ दहक' को मनुष्य रूप में चित्रित किया गया है। और साप उस के कन्धों से निकलते दिखाये हैं।[2] इति।

त्वष्टा और उस की सन्तान सब संस्कृत भाषी थीं।

५—**तुर्वसु=तूरानियन**—यूराल और आल्टिक अथवा फिनलैण्ड और तातार देशों को कभी तूरानियन देश कहते थे। इन देशों के निवासी वृषपर्वा दानव के जामाता महाराज ययाति से देवयानी में उत्पन्न तुर्वसु के वंश की एक शाखा में थे। उन्हों ने अपने पूर्वज के नाम को 'तूरानियन' शब्द के 'तुर' अंश में सुरक्षित रखा है। चेम्बरस् नामक अंग्रेजी कोश का सम्पादक पुरानी जातीय एकताओं से भयभीत हुआ लिखता है—

Turanian, a philological term which came to be used for non-Aryan languages of the Ural-Altaic or Finno-Tatar group,

---

१ तुलना करो—मत्स्य ६।२१॥

२. फिलासफीज आफ इण्डिया, पृष्ठ २०८, २०६।

some time extended so as to include the Dravidian tongues of India, also of the agglutinative type, thus erroneously suggesting affinity between non-Aryan and non-Semetic groups of languages which are probably quite unconnected.

इस लेख के लिखने वाले ने अन्त में probably और quite दो सर्वथा विरोधी शब्द लिखकर सारी नौका डुबो दी है। अस्तु। इन्हें ही उत्तर काल में तुर्क कहने लगे थे।

तुर्की भाषा के चाकू[1], कैंची[1], आदि शब्द आज भी इस के संस्कृत से सम्बन्ध का परिचय देते हैं। तुर्की भाषा भी इस बात का अच्छा उदाहरण है कि सहस्रों वर्षों के अनन्तर भाषा कहां से कहां पहुंच जाती है।

कभी गन्धार और ईरान का एक भाग एक शासन के अधीन थे। ईरान के राजाओं में Darius नाम अनेक राजाओं ने धारण किया है। भारत युद्ध से कुछ पूर्व गन्धार का एक राजा नग्नजित् था। इस का अपर नाम दारु-वाही था। दारुवाह नाम का अवशेष ही Darius नाम में रह गया।[2] यह दारुवाही आयुर्वेद की एक संहिता का रचयिता था। वह ग्रन्थ उत्कृष्ट संस्कृत में है। उस समय ईरान में संस्कृत बोलने और समझने वाले विद्यमान थे। फारसी भाषा संस्कृत का ही अपभ्रष्ट रूप है।

ईरान की सात भाषाएं—पुराने ईरान में दस विभिन्न जातियों[3] और सात भाषाओं के भेद हो चुके थे। सय्यद हुसैन शाह के फारसी व्याकरण (तुहफ तुल-अजम) के आधार पर मार्टिन हाग इन के निम्नलिखित नाम देता है। चार मृत भाषाएं, यथा—सुग्दी, जाउली, सकजी (शक) और हिरिवि। और तीन प्रचलित भाषाएं—पारसी, दारी और पहृव देश की भाषा।[4]

इन में से शक भाषा निश्चित ही संस्कृत का विकार मात्र थी। शक कभी आर्य थे और उत्तरकाल में शूद्र बने। इन के साथी पहृव भी आर्य थे। यह सन्देह से परे है।

---

१. मंगलदेव, पृष्ठ २१८।

२. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग १, पृष्ठ २९६।

३. हेरोडोटस, भाग १, पृष्ठ ९९।

4. Essays on the Sacred Language, Writings and Religion of the Parsis, Revised by E. W. West. 4th. ed., London 1907, p 66, note 2.

ये सब जातियां आर्य—महाभारत, अनुशासन पर्व में एक अद्वितीय ऐतिहासिक सत्य सुरक्षित है। तदनुसार[1] शक, चीन, काम्भोज, पारद, शबर पह्लव, तुषार, यवन, वेण, कङ्कण, सिंहल, मद्रक, किष्किन्धक, पुलिन्द, कछ, आन्ध्र, नीरग, गन्धिक, द्रमिड, बर्बर, चूचुक, किरात, पार्वतेय, कोल, चोल, खष, आरूक, दोह, आदि म्लेच्छता को प्राप्त हुए। कभी वे शुद्ध संस्कृत-भाषी आर्य थे।

इसी पर्व में अन्यत्र भी शक, यवन, काम्भोज, द्राविड़, कलिङ्ग, पुलिन्द उशीनर, कोलिसर्प और महिष को क्षत्रिय कहा है। ये भी ब्राह्मण के अदर्शन से संस्कार-हीन हो कर शूद्र हो गए।[2]

इसी पर्व में अन्य स्थान पर मेकल, द्राविड़, पौण्ड्र, काण्वशिर, शौण्डिक, दार, दास, चोर (=चोल), शबर, बर्बर, किरात और यवनों को क्षत्रिय लिखा है। ये भी ब्राह्मण के अदर्शन से शूद्र हुए।[3]

इन में से शक, दार, पह्लव, बर्बर[4]=पारसी आदि निस्सन्देह ईरान की जातिया हैं। उन की भाषा कभी शुद्ध संस्कृत थी। कौन उन्हें भारतीय भाषाओं के समूह से पृथक् कर सकता है।

अतः ईरान की सम्पूर्ण भाषाएं संस्कृत की विकृति हैं। यही सत्य है। योरोप के भाषा मानियों ने फारसी आदि का मूल जो कल्पित भारोपीय भाषा-मानी है, यह तर्क-विरुद्ध है।

अब संस्कृत भाषा के संसार-व्यापी होने के अन्य प्रमाण दिये जाते हैं।

३. फिनिशियन = पणि संस्कृत-भाषी थे

आकाशीय तथा पार्थिव पणि—वेद में पणियों का बहुधा उल्लेख है। यास्क मुनि के अनुसार वणिक् वृत्ति जनों को पणि कहते हैं। वेद के पणि आकाशस्थ भौतिक माया का एक अङ्ग थे। तद्गुण रखने वाली एक पार्थिव जाति को ऋषियों ने पणि नाम दिया।

गोरक्ष पणि—पणि लोग देवों के साथी थे। देवों के गोपाल थे। जैमिनि ब्राह्मण २।४४० में लिखा है—

---

१. १४६। १३—१६॥

२. ६८। २१—२३।

३. ७०। १६—२०॥

४. हेरोडोटस बर्बर नाम से पारसियों का ग्रहण करता है।

अथ ह वै पणयो नामासुरा देवानां गोरक्षा आसुः ।

अर्थात्—पणि नाम के असुर [प्राचीन काल में] देवों की गौओं के रक्षक थे ।

देवपूजक पणि—पणि लोग विष्णु के पूजक बन गए। उन्हों ने अपने नगरों में विष्णु (Hercules) के मन्दिर बनवाए। हैरोडोटस ने फिनिशिया के टाइरे (Tyre) नगर में विष्णु (हरक्यूलीज) का एक मन्दिर प्रत्यक्ष देखा था। वह उस के काल से तेईस सौ (२३००) वर्ष पहले अर्थात् विक्रम से २७०० वर्ष पूर्व बना था।[1] पणि वणिक् वृत्ति=व्यापारी थे। वे जहां कहीं जाते थे, विष्णु का मन्दिर बना देते थे।

पणियों का निवास स्थान—पणि पहले इरिथ्रियन समुद्र (हैरोडोटस का भारत सागर और फारस की खाड़ी) के तटों पर वास करते थे ।

पद्मनाभैया के अनुसार फारस की खाड़ी पर कुजिस्तान ही पुराना ऐलम है। ऐलम पणियों का स्थान था। ऐलम की राजधानी 'सुसा' थी।

मत्स्य पुराण में आश्चर्यरूप से यह तथ्य सुरक्षित रहा है। यथा—

सुषा नाम पुरी रम्या वरुणस्यापि धीमता ।

निश्चय ही पणियों का कोई भाग वरुण के राज्य में रहता था और संस्कृत से पूर्ण परिचित था।

यूनान के लिपि-प्रदाता—पणियों का एक समूह जो चन्द्रमा (Cadmus) के साथ यूनान के आस पास व्यापार करता था, वहीं बस गया था।[2] उस समूह के विद्वानों ने यूनानियों को लिपि का ज्ञान कराया। उस लिपि में प्रायः वे ही ध्वनियां हैं जो संस्कृत लिपि में पाई जाती हैं। वर्णों का ध्वनि-साम्य कभी अति पुरा काल में भाषा की समानता का परिचायक है। विष्णु की पूजा भी पणियों में प्रचलित थी। अतः निश्चित है कि अति प्राचीन काल में फिनिशियन संस्कृत-भाषी थे।

४. सुर देश (Syria) की भाषा संस्कृत

नाम—जिन लोगों को ग्रीक लोग 'सीरियन' कहते हैं, उन्हें ही बर्बर

---

1 I made a voyage to Tyre in Phoenicia hearing there was a temple of Hercules at that place, very highly venerated. I visited the temple, and found it Herodotus Vol. I p 136

२ हैरोडोटस, भाग २, पृष्ठ २५।

(barbarians, जिन में पारसी भी सम्मिलित थे) 'असीरियन' कहते थे।[1] जब पारसी अपने को देव अथवा सुर कहने लगे, तो अपने विरोधियों को उन्होंने असुर कहा। प्राचीन काल में इन्हे अथवा इन के किसी बृहत्स्थान को 'कप्पडोसियन (Cappadosian) भी कहते थे।[2] कप्पडोसिया का एक प्रदेश प्तेरिया (Pteria) भी था।[3] प्तेरिया तुर्की के ऊपर है।[4] सीरिया का एक भाग पिलिस्तीन (Palestine) भी था।[5] इस समय यह अरब देश है।

पितर देश में भारत संहिता श्रावण—प्तेरिया पुराना पितर देश है। महाभारत आदि पूर्व १।१२३,१२४ के अनुसार असित देवल ने पितरों = प्तेरिया निवासियों को १५ लाख श्लोकों की भारत संहिता सुनाई थी। प्तेरिया वासी संस्कृत जानते थे, तभी उन्हें भारत संहिता सुनाई गई।

प्तेरिया के साथ देव-देश और असुर-देश था। इस में आश्चर्य नहीं। यह अवस्था १५ सहस्र वर्ष से अधिक पुरानी है। उत्तर काल में इसी देश मे यहूदियों ने वास ग्रहण किया। प्रतीत होता है तब देव इस देश को छोड़ चुके थे। सीरिया की पुरानी भाषा का अवशेष अब नहीं मिलता। मतान्ध ईसाइयों ने उस का नाश कर दिया।

सीरिया की उपलब्ध भाषा का उदाहरण विक्रम सं० २०० तथा उस से उत्तर काल का है। गत दश सहस्र वर्ष में इन देशों की भाषाओं में कितने विकार उत्पन्न हुए, इनका अध्ययन भारत के उत्तरवर्ती विद्वान् करेंगे। सुर तो संस्कृत ही बोलते थे। अत इस देश की भाषा कभी संस्कृत थी।

५. मिश्र संस्कृत-भाषी था

१. मिश्र के पुरोहित देवों की तीन श्रेणियों से परिचित थे। इन का विस्तार 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' में कर चुके हैं।[6] इन्हें वे आज से बीस सहस्र वर्ष पहले हुआ मानते थे।[7] देवों की इन तीन श्रेणियों का यथार्थ

१ हैरोडोटस, भाग २, पृष्ठ १४६।

२ ,, भाग १, पृष्ठ ३५। भाग २, पृष्ठ २१।

३. ,, भाग १, पृष्ठ ३८।

४ भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, पृष्ठ २५०।

५ हैरोडोटस, भाग १ पृष्ठ १६४।

६. पृष्ठ २१५-२१८। ७. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, पृष्ठ २१८।

व्याख्यान भारतीय इतिहास से ही सम्भव हुआ है। इस का श्रेय इन पंक्तियों के लेखक को ही है। मिश्र के लोग चिरकाल तक देवों के उपासक रहे। वे दैवी वाक् को जानते थे।[1] उन के सृष्टि उत्पत्ति के वर्णन में वेदमन्त्रों और ब्राह्मण वचनों का अनुवाद विद्यमान है।[2]

२ हैरोडोटस के काल में भी मिश्र के पुरोहित यज्ञों के अतिरिक्त मांस का प्रयोग नहीं करते थे।[3] मांस बलि की अवहेलना आर्यसभ्यता का प्रधान मन्त्र रहा है। इस से प्रतीत होता है कि अति प्राचीन काल के मिश्र के पुरोहित आर्यभाव-भावित थे।

ये इतने पुरातन काल की बातें हैं कि इन का शृङ्खलाबद्ध इतिहास जोड़ने के लिए संसार के पुराने ग्रन्थों का अधिक विवेचन करना पड़ेगा।

मिश्र में दो लिपियां चलती रही हैं। एक पवित्र लिपि, जिसे वे देव-लिपि कहते थे, दूसरी साधारण-लिपि। इस से स्पष्ट है कि पुरातन मिश्रवासियों का देवों के साथ गहरा सम्बन्ध था। देव संस्कृत भाषी थे। अतः प्राचीनकाल में मिश्र भी संस्कृत भाषी था।

८—अरब लोग संस्कृत-भाषी थे

१. अरब का पुराना इतिहास लुप्त-प्रायः है। पर हैरोडोटस ने अरब की कई बातें और प्राचीन अरबी भाषा के अनेक शब्द सुरक्षित रक्खे हैं। यथा—

(क) अरब के पुराने लोग मित्र देवता को अपनी भाषा में 'अ-लित्त' कहते थे। यह मित्र शब्द का साक्षात् अपभ्रंश है।

(ख) अरब की भाषा में बेकस (Bachus) अथवा विप्रचित्ति को ओरोतल Oroetal कहते थे। यह रूप भी विप्रचित्ति शब्द का विकार है।

२ आज भी अरबी भाषा में अनेक ऐसे शब्द प्रयुक्त होते हैं, जो संस्कृत के साक्षात् अपभ्रंश हैं। यथा—

(क) अरबी भाषा के 'ईद-उल जुहा' (अर्थात् बलि की ईद) पदों में 'जुहा' शब्द ठीक जुहोति क्रिया का रूप है।

---

१. वही ग्रन्थ, पूर्व पृष्ठ ३,४। २. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, पृष्ठ २०७। ३. हैरोडोटस, भाग १ पृष्ठ २१६।

(ख) इसी प्रकार अरबी का 'अल्लाह' शब्द संस्कृत भाषा के 'अल्ला' (माता) शब्द का अपभ्रंश है ।[1]

(ग) अरबी का 'अब्बा' शब्द संस्कृत के 'बाप' शब्द का और 'उम' शब्द संस्कृत के 'अम्बा' शब्द का रूपान्तर है ।

(घ) अरबी भाषा का 'आदम' शब्द संस्कृत ग्रन्थों में उल्लिखित आदि-देव (=ब्रह्मा) है ।

(ङ) संस्कृत ग्रन्थों में स्मृत 'भृगु' अरबी का 'जेब्र(-ईल')' प्रतीत होता है ।

३. अरबी में संस्कृत भाषा के समान ही एकवचन, द्विवचन और बहुवचन तीनों पाए जाते हैं । यह सादृश्य असाधारण है ।

अरबी भाषा के व्याकरण में धातुओं की कल्पना अपने ढंग की है ।

पण्डित रघुनन्दन शर्मा ने अपने 'वैदिक-सम्पत्ति'' नामक ग्रन्थ में अरबी भाषा के कुछ शब्दों का सादृश्य संस्कृत शब्दों से दर्शाया है । उन में से अन्तकाल और इन्तकाल आदि शब्दों का सादृश्य धात्वर्थ का भेद होने से हम ठीक नहीं समझते, परन्तु उनके पर्याप्त शब्द उन की सूक्ष्म-बुद्धि का परिचय देते हैं । पाठक अधिक वहीं देखें ।

वस्तुत. योरोपियन भाषाविदों का भाषाओं का वर्गीकरण सर्वथा अशुद्ध और पक्षपात-पूर्ण है । वह तर्क की कसौटी पर टिकता नहीं है । यहां इस का एक उदाहरण देना ही पर्याप्त होगा । जब योरोपीय लेखकों ने देखा कि पहलवी भाषा में संस्कृत शब्दों का बाहुल्य सिद्ध हो रहा है, तब उस का वर्गीकरण करने में उन्हें घबराहट हुई[2] और फिर इस भाषा का वर्गीकरण बदला । तारापुरवाला ने पहलवी को अपने गुरुओं के आदेशानुसार आर्य भाषा में कर दिया ।[3]

उपसंहार

संस्कृत भाषा के व्यापक स्वरूप का अति संक्षिप्त उल्लेख कर दिया । योरोप के चरणचिह्नों पर न चलकर हमने अपना अनुसंधान स्वतन्त्र-रूप से

---

१. काशिका ७।३।१०७ में उद्धृत । २ भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, पृष्ठ २३२ ।

३ एलिमेंट्स आफ दी साइंस आफ लैंग्वेज, सन् १९५१, द्वि० सं० पृष्ठ ३६८ ।

आगे चलाया। हमारे परिणाम ऊपर लिखे जा चुके हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने कभी ठीक कहा था—

इस लिए संस्कृत में ही [वेद का] प्रकाश किया जो किसी देश की भाषा नहीं और वेद-भाषा अन्य सब भाषाओं का कारण है।

(सत्यार्थ-प्रकाश, सप्तम समुल्लास)

यहां संस्कृत शब्द वेद वाक् के लिए प्रयुक्त हुआ है।

पूना नगर में १० जुलाई शनिवार सन् १८७५ के दिन स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने एक व्याख्यान दिया था।[1] उस में कहा था—

संस्कृत भाषा सारी भाषाओं का मूल है। अंग्रेजी सदृश भाषाएं उससे परम्परा से उत्पन्न हुई हैं। एक भाषा दूसरी भाषा का अपभ्रंश हो कर उत्पन्न होती है। 'वयम्' इस शब्द के 'यम्'[भाग] को सम्प्रसारण हो कर अंग्रेजी का 'वूई' यह शब्द उत्पन्न हुआ। उसी प्रकार 'पितर' से 'पेतर' और 'फादर', 'यूयं' से 'यू' और 'आदिम' से 'आदम' इत्यादि। ऐसे ऐसे अपभ्रंश कुछ एक नियमों के अनुकूल होते हैं और कुछ अपभ्रंश यथेच्छाचार से भी होते हैं। इस बारे में बुद्धिमानों को कहने की कुछ अधिक आवश्यकता नहीं है।[2]

दयानन्द सरस्वती, महान् भाषा-शास्त्री—स्वामी दयानन्द सरस्वती की असाधारण प्रतिभा और उत्कृष्ट विश्लेषण-बुद्धि का पूर्वोद्धृत वाक्य-समूह एक सजीव प्रमाण है। अपभ्रंशों में सब भ्रंश नियमानुकूल नहीं हुए, यह त्रिकाल-सिद्ध सिद्धान्त स्वामी जी ने अनायास समझ लिया था। उसी का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। जर्मनी के युवक वैयाकरणों का भ्रांत-मत अब कोई बुद्धिमान् पुरुष स्वीकार नहीं करता।

पण्डित रघुनन्दन शर्मा ने भी इस विषय में स्वतन्त्र काम किया, परन्तु योरोप तथा उन के उच्छिष्ट-भोजियों ने उन की कई प्रबल युक्तियों का उत्तर नहीं दिया। हमने इस विषय में ऐतिहासिक आधार को सब से प्रथम बार

---

१. स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पूना में ४ जुलाई सन् १८७५ से विशेष व्याख्यान-माला प्रारम्भ की थी, जो उसी समय मराठी में अनूदित हो कर तात्कालिक समाचार पत्रों में छपती रही। उसी व्याख्यान-माला के १५ व्याख्यान हिन्दी-आर्यभाषा में उपदेशमञ्जरी के नाम से छपे हैं।

२ उपदेशमञ्जरी, पृष्ठ ३६, सन् १९१०, बरेली से प्रकाशित।

आगे किया है। हमारे इस ऐतिहासिक अनुशीलन को विना काटे कोई आगे नहीं जा सकता। योरोपीय लोगों में से कुछ एक को इस ऐतिहासिक आधार का थोड़ा थोड़ा ज्ञान था, पर वेद का काल अति प्राचीन सिद्ध न हो जाए, अत: इस दिशा में वे जड़ ही बने रहे।

ऑस्ट्रिक भाषाएं

कुछ देर से योरोप के कुछ लेखकों को एक नया रोग चिमटा। वह है ऑस्ट्रिक भाषा के शब्दों को मूल कह कर अनेक संस्कृत शब्दों को उनका अपभ्रंश सिद्ध करना। कलकत्ता के डा० सुनीतिकुमार चैटर्जी इस रोग द्वारा सब से अधिक अभिभूत हुए। मानों उन्हें यह रोग भूतवत् चिमट गया, पर इतिहास को जाने विना उनकी गप्पों पर कौन गम्भीर ध्यान दे। मुण्डा, कोल, भील आदि जातियां कभी विशुद्ध क्षत्रिय जातियां थीं। उन की भाषा संस्कृत का ही अपभ्रंश है।

वैदिक शब्द जो भारत में लुप्त हो गए और संसार के अन्य प्रदेशों में विद्यमान हैं

१. बरो ने अपने संस्कृत भाषा विषयक नये ग्रन्थ में उन कतिपय वैदिक शब्दों की तालिका दी है जो भारतीय भाषाओं में अप्रयुक्त हो गए, पर संसार की अन्य विविध भाषाओं में पाए जाते हैं।

२. पण्डित राजाराम ने वेद-कुसुमाञ्जलि में इस प्रकार के एक शब्द की ओर ध्यान दिलाया था।

३. पं० युधिष्ठिर ने अपने व्याकरण शास्त्र का इतिहास में पण्डित राजाराम वाला शब्द लिख कर दो नये शब्दों की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया।

४. एतद् विषयक एक नया शब्द हम प्रस्तुत करते हैं। वह है कुमार। फारसी भाषा में कुमारखाना आदि में वह जुआ अर्थ में प्रयुक्त होता है। और इसी अर्थ में यह शब्द ऋग्वेद के प्रसिद्ध अक्षसूक्त में प्रयुक्त है।

उपर्युक्त लेख से स्पष्ट है कि संस्कृत संसार की सब भाषाओं की माता है। विद्वानों के प्रति अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है।

चतुर्थ अध्याय

भारतीय इतिहास की प्राचीनता

भारतीय सत्य मत—आर्यावर्त के प्राचीन ऋषिमुनियों, मध्यकालीन महान् आचार्यों, पण्डितों और अनेक आधुनिक विद्वानों का मत है कि भारतीय इतिहास बड़ा प्राचीन है। भारत युद्ध जो द्वापर के अन्त अथवा कलियुग के आरम्भ से कोई ३७ वर्ष पूर्व हुआ[१], अभी कल की बात है। आर्यों का इतिहास उस से भी सहस्रों लाखों वर्ष पूर्व से आरम्भ होता है। वराहमिहिर[२] के अर्थ को पूर्णतया न समझने वाले कल्हण काश्मीरी[३] आदि को छोड़ कर शेष आर्य विद्वानों के अनुसार भारत युद्ध को हुए ५००० वर्ष से कुछ अधिक काल हो चुका है। उस भारत युद्ध से भी कई शताब्दी पूर्व का क्रमबद्ध इतिहास महाभारत और पुराण आदि में मिलता है। अतः हम कह सकते हैं कि अनेक अशों में सुविदित भारतीय इतिहास दस सहस्र वर्ष से कहीं अधिक पुराना है।

पाश्चात्य मत—इस के विपरीत पश्चिम अर्थात् योरोप और अमेरिका के प्रायः सारे आधुनिक ईसाई लेखकों और उनका अनुकरण करने वाले कतिपय एतद्देशीय ग्रन्थकारों ने चातुर्य से एक मत कल्पित किया कि आर्य लोग बाहर से आकर भारत में बसे। यह बात आज से कोई ४५०० वर्ष पूर्व हुई होगी। अतः भारत में आर्यों का इतिहास इससे अधिक पुराना कभी हो ही नहीं सकता। इस विषय के अन्तिम लेखक अध्यापक रैपसन (Rapson) का मत है—

> It is indeed probable that all the facts of this migration, so far as we know them, can be explained without postulating an earlier beginning for the migrations than 2500 B C.[4]

१, देवकी पुत्र कृष्ण का देहावसान द्वापर के अन्तिम दिन हुआ था। तभी युधिष्ठिर ने राज्य छोड़ा था। युधिष्ठिर-राज्य ३६ वर्ष तक रहा। देखो, महाभारत, मौसल पर्व १।१ तथा ३।२०॥

२ बृहत्संहिता १३।३॥ ३ राजतरङ्गिणी १।५१–५६॥

4 The Cambridge History of India, 1922, Vol 1 p. 70

कथंजातीयकं पुनः परोक्षं नाम । केचित्तावदाहुर्वर्षशतवृत्तं परोक्षमिति । अपर आहुर्वर्षसहस्रवृत्तं परोक्षमिति ।[1]

अर्थात्—परोक्ष के विषय में कई आचार्यों का ऐसा मत है कि जो सौ वर्ष पहले हो चुका हो वह परोक्ष है और कई आचार्य ऐसा कहते हैं कि जो सहस्र वर्ष पूर्व हो गया हो वह परोक्ष है ।

पतञ्जलि का समय पाश्चात्य लेखकों के अनुसार विक्रम से १००–१५० वर्ष पूर्व तक का है । यदि क्षणमात्र के लिए दुर्जनतोषन्याय से यह काल मान लिया जाय तो इतना निश्चित हो जाता है कि पतञ्जलि से भी कुछ पूर्व-काल के आचार्य परोक्ष के विषय में ऐसी सम्मति रखते थे कि उन से सहस्र वर्ष पहले होने वाला वृत्त परोक्ष की अवधि में आता है । अर्थात् उन आचार्यों को विक्रम से १२०० या १३०० वर्ष पहले के इतिवृत्तों का ज्ञान था और उन वृत्तों के लिए वे परोक्ष के रूप का प्रयोग करते थे । इस से इतना ज्ञात होता है कि पतञ्जलि से १०० या २०० वर्ष पहले होने वाले विद्वानों को अपने से सहस्र वर्ष पहले होने वाले वृत्तों का यथार्थ ज्ञान था ।

पतञ्जलि को आर्य इतिहास का कैसा ज्ञान था, यह महाभाष्य के पाठ से विदित हो जाता है । देखो—

पाणिनीय सूत्र ३।२।१२३ पर लिखे गए वार्तिक-**सन्ति च काल-विभागा** पर भाष्य करते हुए वह कहता है कि भूत भविष्यत् और वर्तमान काल के राजाओं की क्रियाओं के सम्बन्ध में अमुक प्रयोग होते हैं ।

पुनः—१—कंस को वासुदेव ने मारा ३।२।१११ ॥ २—धर्म से कुरुओं ने युद्ध किया ३।२।१२२ ॥ ३—दुःशासन, दुर्योधन ३।३।१३० ॥ ४—मथुरा में बहुत कुरु चलते हैं ४।१।१४॥ ५—अश्वत्थामा ४।१।२५॥ ६—व्यास पुत्र शुक ४।१।९७॥ ७—उग्रसेन (कंस का पिता), श्वाफल्क (अक्रूर), विश्वक्सेन (कृष्ण), वसुदेव, बलदेव, नकुल और सहदेव के पुत्रों का वर्णन ४।१।११४॥ ८—आजमीढि तथा दक्षिण पञ्चाल का राजा नीप और उस के कुल वाले नैप्य ४।१।१७०॥ ९—तृणबिन्दु का पुत्र

[1] प्रो० कीलहार्न के कुछ हस्तलेखों में सहस्रवृत्त वाला पाठ नहीं है, परन्तु अनेक अन्य कोशों में ऐसा पाठ मिलने से हम ने इसे प्राचीन पाठ समझा है ।

तार्णबिन्दवीय ४।१।२८ तथा अन्यत्र भी सैकड़ों ऋषियों और जनपदों का उल्लेख देखने योग्य है।

२—सम्राट् खारवेल का शिलालेख

श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल के अनुसार महाराज खारवेल का काल १६० पूर्व ईसा है। जैन-आचार्य **हिमवान्** के नाम से जो **थेरावली** प्रसिद्ध है,[1] उस के अनुसार **भिक्खुराय = खारवेल** का राज्याभिषेक वीरसंवत् ३०० और स्वर्गवास वीरसंवत् ३३० में हुआ था। इस थेरावली के अनुसार भी खारवेल का काल लगभग इतना ही है। इस खारवेल का एक शिलालेख हाथीगुम्फा में मिला है। उसकी ११वीं पंक्ति में लिखा है—

पुवराजनिवेसितं पीथुडगदभनगले नेकासपति जनपदभावनं तेरसवससत केतुभद तितामरदेह सघाट।[2]

अर्थात्—[अपने राज्य के ग्यारहवें वर्ष में] उसने महाराज केतुभद्र की नीम की मूर्ति की सवारी निकाली, जो १३०० वर्ष पहले हो चुका था। यह मूर्ति प्राचीन राजाओं ने पृथूदकदर्भ नाम नगर में स्थापित की थी।

इस से सिद्ध होता है कि महाराज खारवेल से १३०० वर्ष पहले का इतिहास उस समय विदित था, अथवा विक्रम से १४०० या १४५० वर्ष पहले के राजाओं का ज्ञान तो उन दिनों के लोगों को अवश्य था।

यहां कई लोग १३०० के स्थान में ११३ वर्ष अर्थ मानते हैं। परन्तु यह बात अभी विचारणीय है।

३—कलियुग संवत्

कलियुग संवत् आर्यों का एक प्रसिद्ध संवत् है। इसका आरम्भ ३०४४ पूर्व विक्रम से होता है। इस संवत् का प्रयोग इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि भारतीय लोग विक्रम से न्यून से न्यून ३०५० वर्ष पूर्व का अपना इतिवृत्त जानते थे। और क्योंकि भारतीय विद्वान् जो इस संवत् का प्रयोग करते रहे हैं, अपने को इसी देश का निवासी लिखते रहे हैं, अतः यह सिद्ध है कि भारतीय इतिहास निस्सन्देह कलि संवत् जितना पुराना है।

---

१. नागरी प्र० प० भाग ११-अंक १, मुनि कल्याणविजय जी का लेख, पृ० १०३।

2—J. B. O R S 1917, p 457

कलि सवत् का प्रयोग निम्नलिखित स्थानों में देखने योग्य है—

क—आचार्य हरिस्वामी अपने शतपथ ब्राह्मण भाष्य के प्रथम काण्ड के अन्त में लिखता है—

यदाब्दानां कलेर्जग्मु सप्तत्रिंशच्छतानि वै।
चत्वारिंशत् समाश्चान्याः तदा भाष्यमिद कृतम् ॥

अर्थात्—कलि के ३७४० वर्ष व्यतीत होने पर यह भाष्य रचा गया।

ख—चालुक्य कुल के महाराज पुलकेशी द्वितीय का एक शिलालेख दक्षिण के एक जैन मन्दिर पर मिला है। उस में लिखा है—

त्रिंशत्सु त्रिसहस्रेषु भारतादाहवादितः।
सप्ताब्दशतयुक्तेषु शतेष्वब्देषु पञ्चसु ॥३३॥[1]
पञ्चाशत्सु कलौ काले षट्सु पञ्चशतासु च।
समासु समतीतासु शकानामपि भूभुजाम् ॥३४॥

अर्थात्—भारतयुद्ध से ३६८७ कलि वर्ष बीत जाने पर जब कि शक भूभुजों के ५०६ वर्ष व्यतीत हुए थे, तब ' ...

ग—प्रसिद्ध ज्योतिषी आर्यभट अपनी आर्यभटीय के कालक्रियापाद में लिखता है—

षष्ट्यब्दानां षष्टिर्यदा व्यतीतास्त्रयश्च युगपादाः।
त्र्यधिका विंशतिरब्दास्तदेह मम जन्मनोऽतीताः ॥१०॥

अर्थात्—तीन युगपाद और चौथे युग के जब ३६०० वर्ष व्यतीत हो चुके, तब मुझे जन्मे हुए २३ वर्ष हुए हैं।

कलियुग संवत् के सम्बन्ध में डा० फ्लीट की सम्मति

पूर्वनिर्दिष्ट अन्तिम लेख से अधिक पुराने काल में कलि संवत् का प्रयोग पुराने ग्रन्थों में अभी तक हमारे देखने में नहीं आया।[२] परन्तु इस का यह परिणाम नहीं हो सकता कि कलिसवत् एक काल्पनिक सवत् है और यहां के ज्योतिषियों ने कलि के ३५०० वर्ष पश्चात् अपनी सुविधा के लिए इस का प्रचार किया।[3]

---

1. Epigraphia Indica, Vol. VI, p 7.

२. ज्योतिर्विदाभरण नामक ज्योतिष ग्रन्थ में इससे पहले का एक लेख है। परन्तु यह ग्रन्थ कितना पुराना है, यह अभी विवादास्पद है।

3. J R, A S 1911, पृ० ४७१–४९९, तथा ६७५–६९८।

इस सम्बन्ध में डा० फ्लीट ने दो लेख लिखे थे । वे लेख इस सम्बन्ध में समस्त पाश्चात्य विचार का संग्रह करते हैं । उन के कथन का सार उन के लेखों के निम्नलिखित उद्धरणों से दिया जा सकता है ।

But any such attempt ignores the fact that the reckoning is an invented one, devised by the Hindu astronomers for the purposes of their calculations some thirtyfive centuries after that date.

The general idea of the ages, with their names, and with a graduated deterioration of religion and morality, and shortening of human life,—with also some conception of a great period known as the kalpa or æon, which is mentiond in the inscription of Asoka (B. C. 264-227),—seems to have been well established in India before the astronomical period But we cannot refer to that early time any passage assigning a date to the beginning of any of the ages, or even alloting them the specific lengths, whether in solar years of men or in divine years mentioned above.

Literary instances are not at all common, even in astronomical writings ... The earliest available one seems to be one of A D. 976 or 977 from Kashmir: it is the year in which Kayyata, son of Chandraditya wrote his commentary on the Devisataka of Anandavardhana, when Bhimagupta was reigning [1]

अर्थात्—(क) कलि संवत् की गणना भारतीय ज्योतिषियों ने उस काल के कोई ३५ शताब्दी पश्चात् अपनी सुविधा के लिए निकाली है ।

(ख) युगों और युगनामों आदि का विचार ज्योतिष काल (पहली से तीसरी शताब्दी विक्रम) से पहले सुनिश्चित हो चुका था, परन्तु कोई एक युग कब आरम्भ होता है और उस में कितने मानुष वा दैव वर्ष हैं, ऐसा बताने वाला कोई प्राचीन वाक्य नहीं है ।

(ग) ग्रन्थकार भी कलिसंवत् का प्रायः प्रयोग नहीं करते । सब से पुराना ग्रन्थकार कैयट है जो देवीशतक की अपनी टीका में कलि ४०७८ का उल्लेख करता है । यथा—

---

१ पृ० ४८५ ४८६ ।

वसुमुनिगगनोद्धिसमकाले याते कलेस्तथा लोके।
द्वापञ्चाशे वर्षे रचितेयं भीमगुप्तनृपे ॥

फ्लीट का प्रतिध्वनिकर्ता—फ्लीट के चरण-चिन्हों पर चलने वाला प्रबोधचन्द्र सेन गुप्त लिखता है[1]—

It is thus seen that the Kali-reckoning was an astronomical fiction invented by Aryabhata I to simplify his rules for stating his astronomical constants at this epoch. It is also clear from the facts stated above that this epoch of 3102 B. C can not have any chronological significance.

अर्थात्—कलिसंवत् आर्यभट प्रथम की कल्पना है। इस का इतिहास में कोई स्थान नहीं।

फ्लीट-मत-परीक्षा और उस के दूषण

क—युगों, युगनामों और प्रत्येक युग के वर्षों की गणना का मत विक्रम की तीसरी चौथी शताब्दी में घड़ा गया, यह कहना ठीक नहीं। ४२७ प्रथम शक संवत् के समीप ग्रन्थ लिखने वाला वराहमिहिर अपनी बृहत्संहिता के आरम्भ में लिखता है—

प्रथममुनिकथितमवितथमवलोक्य ग्रन्थविस्तरस्यार्थम्।
नातिलघुविपुलरचनाभिरुद्यतः स्पष्टमभिधातुम् ॥२॥
मुनिविरचितमिदमिति यच्चिरन्तनं साधु न मनुजग्रथितम्।
तुल्येऽर्थेऽक्षरभेदादमन्त्रके का विशेषोक्ति ॥३॥
आब्रह्मादिविनिःसृतमालोक्य ग्रन्थविस्तरं क्रमशः ॥५॥

अर्थात्—वराहमिहिर कहता है कि प्रथम मुनि ब्रह्मा द्वारा कथित विस्तृत ग्रन्थ का अर्थ सम्यक् देखकर न अति लघु और न अति विपुल रचनाओं से स्पष्ट कहने के लिए उद्यत हुआ हूं।

हमारी दृष्टि के अनुसार जिस का आधार प्राचीन आर्य ऐतिह्य है, प्रथम मुनिप्रोक्त ग्रन्थ भारत युद्ध काल से बहुत पहले रचे गए थे। परन्तु यदि इस बात को अभी स्वीकार न किया जाए तो भी इतना मानना पड़ेगा कि ये ग्रन्थ वराहमिहिर से बहुत पहले के थे, अन्यथा वह इन्हें मुनि रचित और चिरन्तन

---

1 A I, O C Presidential Address of P C Sen Gupta, Proceedings and Transactions, Vol II, 1945

न कहता। वराहमिहिर के काल तक जब कि भारत मे इस्लामी आक्रमण नहीं हुआ था, जब आर्य सम्राटों के सरस्वती भण्डारों में प्राचीन साहित्य सुरक्षित रहता था, जब आर्य विद्वानों को अपनी परम्परा का, अपने सम्प्रदाय का अविच्छिन्न ज्ञान होता था, तब, हा तब, वराहमिहिर जैसा विद्वान् अपने से कुछ ही पहले के ग्रन्थों को मुनि-रचित और चिरन्तन कहे, ऐसा कदापि नहीं हो सकता। वह जानता था कि गर्ग आदि मुनियों के रचे हुए ग्रन्थ बहुत पुरातन काल के हैं।

यह वराहमिहिर बृहत्संहिता के सप्तर्षिचाराध्याय मे लिखता है—

ध्रुवनायकोपदेशान्नरिनर्वर्त्ती वोत्तरा भ्रमद्भिश्च।
यैश्चारमहं तेषां कथयिष्ये वृद्धगर्गमतात्॥ २॥

अर्थात्—उन सप्तर्षियों का चार मैं वृद्धगर्ग के मत से कहूँगा।

इस श्लोक की व्याख्या में भट्ट उत्पल वृद्धगर्ग का निम्नलिखित श्लोक उद्धृत करता है—

तथा च वृद्धगर्गः—
कलिद्वापरसंधौ तु स्थितास्ते पितृदैवतम्।
मुनयो धर्मनिरताः प्रजानां पालने रताः॥

अर्थात्—कलि द्वापर की संधि में सप्तर्षि पितृदेवतावाले मघा नक्षत्र में थे।

पराशर वराहमिहिर से बहुत पहले होने वाला एक संहिताकार है। वह पराशर अपनी ज्योतिष संहिता मे वृद्धगर्ग से भिन्न पुनर्गर्ग के विषय में लिखता है—

कल्यादौ भगवान् गर्गः प्रादुर्भूय महामुनिः।
ऋषिभ्यो जातकं कृत्स्नं वक्ष्यत्येव कलि श्रितः॥[1]

अर्थात्—भगवान् गर्ग कलि के आदि में उत्पन्न हो कर ऋषियों के लिए जातक का उपदेश करेगा।

कलि-आरम्भ और गर्ग

गर्ग संहिता (विक्रमपूर्व २६००) मे कलि के आरम्भ विषय मे लिखा है—

---

१. आर्यभटीय के भाष्यकार गार्ग्य केरल नीलकण्ठ द्वारा उद्धृत, कालक्रियापाद, पृष्ठ १६, त्रिवन्द्रम संस्क०।

देवे कृष्णे दिव याते।[1]

अर्थात्—जिस दिन श्री कृष्ण ने देह त्यागा तब से कलि का आरम्भ हुआ।

अब विचारना चाहिए कि पराशर, वृद्धगर्ग और गर्ग द्वितीय तीनों ही आचार्य कलि का आरम्भ और कलि तथा द्वापर की सधि को जानते थे। अस्तु जब वे कलि के आरम्भ को जानते थे तो उन को वा उनके शिष्य-प्रशिष्यों को कलि काल की गणना करने में क्या अड़चन थी। अत डा० फ्लीट की पहली कल्पना कि कलिसवत् की गणना और उसका प्रयोग कलिसवत् के ३५०० वर्ष पश्चात् भारतीय ज्योतिषियों ने आरम्भ किया, सत्य नहीं।

सेनगुप्त—कलकत्ता का अध्यापक प्रबोधचन्द्र सेनगुप्त इस विषय में फ्लीट का अनुगामी है। सेनगुप्त जी ने हमारे तर्कों[2] का खण्डन नहीं किया, अत. उन के लेख की हमने उपेक्षा की है।

(ख) फ्लीट महाशय आगे चल कर कहते हैं कि प्रत्येक युग में कितने दैव वा मानुष वर्ष थे, ऐसा बताने वाला कोई प्राचीन प्रमाण नहीं है। फ्लीट महाशय की यह बात भी सत्य नहीं है। कात्यायन की ऋक्सर्वानुक्रमणी का काल पाश्चात्य लेखकों के अनुसार विक्रम से कोई ३०० वर्ष पूर्व का है। हमारे अनुसार उसका काल विक्रम से २८०० वर्ष पहले का है। बृहद्देवता इस सर्वानुक्रमणी से भी कुछ पूर्व का ग्रन्थ है। उस के सम्बन्ध में अध्यापक मैकडानल अपने बृहद्देवता के सस्करण की भूमिका में लिखता है—

The Brihaddevata . could, therefore, hardly be placed later than 400 B C.

अर्थात्—बृहद्देवता ४०० ईसा पूर्व के पीछे का नहीं हो सकता।

उस बृहद्देवता के आठवें अध्याय में लिखा है—

महानाम्न्य ऋचो गुह्यास्ता ऐन्द्र्यश्चैव यो वदेत्।
सहस्रयुगपर्यन्तम् अहर्ब्राह्मं स राध्यते ॥९८॥

---

१. आर्यभटीयभाष्य, कालक्रियापाद, पृष्ठ १६, त्रिवन्द्रम मुद्रित।

२. इसी ग्रन्थ के प्रथम सस्करण में पृष्ठ ८—१३।

अर्थात्—इन्द्र देवता संबंधी रहस्यमयी महानाम्नी ऋचाओं को जो जपता है वह सहस्रयुग पर्यन्त रहने वाले ब्रह्मा के एक दिन को प्राप्त होता है।

इस श्लोक के उत्तरार्ध का पाठ स्वल्प पाठान्तरों के साथ भगवद्गीता ८।१७ महाभारत शान्ति० २३८।६४ निरुक्त १४।४ और मनुस्मृति १।७३ में मिलता है। इस के पाठ से स्पष्ट ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ का लेखक जानता था कि एक ब्राह्मदिन में कितने वर्ष होते हैं। अतः उसको प्रत्येक युग के वर्षों की गणना का ज्ञान भी अवश्य था। ध्यान रहे कि बृहद्देवता का यह श्लोक अध्यापक मैकडानल निर्धारित उस की दोनों शाखाओं में मिलता है, और किसी प्रकार भी प्रक्षिप्त नहीं कहा जा सकता।

मनुस्मृति इस बृहद्देवता से कहीं पहले की है। पाश्चात्य विचार वाले इस मनुस्मृति को ईसा की पहली शताब्दी के समीप का मानते हैं। परन्तु यह बात नितान्त अयुक्त है। याज्ञवल्क्य स्मृति कौटल्य अर्थशास्त्र से कहीं पहले की है।[1] तथा कौटल्य अर्थशास्त्र चन्द्रगुप्त के अमात्य चाणक्य की ही कृति है। और मनुस्मृति तो याज्ञवल्क्य स्मृति से बहुत पहले की है।[2] उस मनुस्मृति के आरम्भ में युगों, युगनामों और प्रत्येक युग के वर्षों की संख्या का तथा कल्प आदि की गणना का बड़ा विस्तृत वर्णन है। अत. फ्लीट का यह

१ तुलना करो—Maurian Polity by V. R Dikshitar M A, 1932, p 20-22.

२. देखो बार्हस्पत्य सूत्र की मेरी भूमिका पृ० ४-७।

धर्मशास्त्र का इतिहास लिखने वाले श्री पाण्डुरङ्ग वामन काणे अपने इतिहास (सन् १६३०) के पृ० १४८ पर लिखते हैं—

Therefore it must be presumed that the Manusmriti had attained its present form at least before the 2nd century A D

अर्थात् ईसा की दूसरी शताब्दी से पूर्व ही मनुस्मृति इस वर्तमान रूप में आ गई थी। अत. फ्लीट महाशय का यह कहना कि युगों का वर्णन ईसा की चौथी शताब्दी में चला, एक भयङ्कर भूल है। हम तो वर्तमान मनुस्मृति को भारत-युद्ध से पहले का मानते हैं।

भागुरि, भर्तृयज्ञ, देवस्वामी, और असहाय आदि मानव धर्मशास्त्र के भाष्यकार विक्रम संवत् से कई सौ वर्ष पहले हो चुके थे। काणे जी ने इन भाष्यकारों के काल के विषय में निराधार कल्पनाएं की हैं।

लेख कि कलि के ३५०० वर्ष पश्चात् यहां के ज्योतिषियों ने युगों के वर्षों की गणना स्थिर करके कलि संवत् का गिनना आरम्भ कर दिया, सर्वथा भूल है।

लगध का वेदाङ्ग ज्योतिष एक बहुत प्राचीन ग्रन्थ है। वेङ्कटेश बापूजी केतकर के अनुसार वह १४०० पूर्व ईसा में रचा गया था।[1] सम्भव है उपलब्ध याजुष ज्यौतिष यही हो। आर्च ज्यौतिष भी इसी का रूपान्तर प्रतीत होता है। मनुस्मृति आदि ग्रन्थों के समान लगध का मूल ग्रन्थ सम्भवतः कभी बहुत बड़ा होगा। उसी मूल के अथवा उपलब्ध लगध की किसी और शाखा के कुछ श्लोक सिद्धान्तशिरोमणि की मरीचिटीका (शक १५६०) में उद्धृत हैं। मरीचिटीका का कर्ता मुनीश्वर है। वह ग्रहगणित के २५वें श्लोक की टीका में लिखता है—

> पञ्चसंवत्सरैरेकं प्रोक्तं लघुयुगं बुधैः।
> लघुद्वादशकेनैकं षष्टिरूपं द्वितीयकम्॥
> तद्द्वादशमितैः प्रोक्तं तृतीयं युगसंज्ञकम्।
> युगानां षट्शती तेषां चतुष्पादी कला युगे॥
> चतुष्पादी कला संज्ञा तदध्यक्षः कलिः स्मृतः।

इति लगधप्रोक्तत्वात्।

अर्थात्—लगध के अनुसार लघु युग ५ वर्ष का होता है। १२ लघु-युगों अथवा ६० वर्षों का दूसरा युग होता है। ७२० वर्षों का तीसरा युग होता है। इस तीसरे युग को ६०० से गुणा करके कलि के ४३२००० वर्ष बनते हैं।

जब लगध समान प्राचीन ग्रन्थकार भी कलि आदि का वर्षमान जानता है, तो यह निर्विवाद है कि कलिसंवत् की कल्पना नवीन नहीं है।

(ग) डा० फ्लीट ने देवीशतक के भाष्यकार का एक प्रमाण दिया है कि वह ग्रन्थ ४०७८ कलिसंवत् में रचा गया। उन के काल तक कलिसंवत् के प्रयोग के विषय में किसी ग्रन्थकार का इस से पुराना लेख नहीं मिला था। परन्तु हमने आचार्य हरिस्वामी का जो लेख पृष्ठ १०० पर दिया है, वह इस से बहुत पहले का है। आचार्य हरिस्वामी ने कलिसंवत् ३७४० का प्रयोग किया है।

1—Indian and foreign chronology, 1923, p 107.

कलिसंवत् का प्रयोग स्कन्दपुराण के दूसरे अर्थात् कौमारिका खण्ड में भी हुआ है। स्कन्दपुराण का लेख अत्यन्त अस्त-व्यस्त दशा में है। स्कन्दपुराण के इस खण्ड के हस्तलेख हमारे पास नहीं हैं। यदि होते तो हम इस पाठ को शुद्ध करके देते। परन्तु इस से यह अनुमान नहीं करना चाहिए कि स्कन्दपुराण का लेख सर्वथा असत्य है। निम्नलिखित पाठ में क्योंकि बहुत अशुद्धियां हैं, अत. अधिक सामग्री के अभाव में हम अभी तक अन्तिम सम्मति नहीं दे सकते। विचारवान् पाठक इन पाठों के शोधने का यत्न करें, इसी अभिप्राय से ये श्लोक उद्धृत किये जाते हैं। स्कन्दपुराण के चतुर्युगव्यवस्था नामक चालीसवे अध्याय में लिखा है—

त्रिषु वर्षसहस्रेषु कलेर्यातेषु पार्थिव' ।
त्रिशतेषु दशन्यूनेष्वस्यां भुवि भविष्यति ॥२४९॥
शूद्रको नाम वीराणामधिप' सिद्धिमत्र सः
ततस्त्रिषु सहस्रेषु दशाधिकशतत्रये ।
भविष्यं नन्दराज्यं च चाणक्यो यान् हनिष्यति ॥२५१॥
ततस्त्रिषु सहस्रेषु विंशत्या चाधिकेषु च ॥२५२॥
भविष्य विक्रमादित्यराज्यं सोऽथ प्रलप्स्यते ।
ततः शतसहस्रेषु शतेनाप्याधिकेषु च ।
शको नाम भविष्यश्च योऽति दारिद्र्यहारकः ॥२५४॥
ततस्त्रिषु सहस्रेषु षट्शतैरधिकेषु च ।
मागधे हेमसदनादजन्यां प्रभविष्यति ॥२५५॥
विष्णोरंशो धर्मपाता बुध· साक्षात्स्वयं प्रभु' ।

इन श्लोकों का पाठ स्पष्ट बता रहा है कि इन में लेखक-प्रमाद अत्यधिक हुआ है, और श्लोकक्रम भी विपर्यस्त हो गया है। स्कन्दपुराण चाहे कभी लिखा गया हो, परन्तु बुद्ध आदि के जन्म की कोई प्राचीन गणना कलिसंवत् के अनुसार भारत में अवश्य प्रचलित थी। उसी गणना का उल्लेख स्कन्दपुराण में मिलता है।

कलिसंवत् का प्रयोग करने वाले पुराने लेख अभी तक क्यों नहीं मिले

वलभी, गुप्त, शालिवाहन, विक्रम और वीरनिर्वाण संवतों के अत्यधिक प्रचार के कारण गत २८०० वर्षों में कलिसंवत् का प्रयोग स्वभावतः न्यून

२—काश्मीर की राज-वंशावली

काश्मीर की वंशावलीमात्र ही हमारे पास नहीं है, अपितु काश्मीर का एक विस्तृत इतिहास भी मिलता है। इस के लिए कल्हण पण्डित (शक काल १०७०) धन्यवाद का पात्र है। हम पहले पृष्ठ ६५ पर कह चुके हैं कि कल्हण वराहमिहिर का भाव नहीं समझा। अतः उसने कलि के ६५३ वर्ष व्यतीत होने पर युधिष्ठिर का राज्य माना है।[1] परन्तु यह सत्य है कि उस के पूर्वज ऐसा नहीं मानते थे। वह स्वयं लिखता है—

> भारतं द्वापरान्तेऽभूद्वार्तयेति विमोहिता।
> केचिदेतां मृषा तेषां कालसंख्यां प्रचक्रिरे ॥[2]

अर्थात्—भारत युद्ध द्वापरान्त में हुआ था, ऐसा मान कर कई प्राचीन ऐतिहासिकों ने मिथ्या कालसंख्या की है।

कल्हण के अनुसार वे प्राचीन ऐतिहासिक ठीक न भी हों, पर हमारे अनुसार तो वे ही ठीक हैं। कल्हण एक और बात भी कहता है कि गोनन्द प्रथम से लेकर ५२ राजाओं का आम्नाय भ्रंश हो गया था। इस आम्नाय में से कुछ राजाओं के नाम और काल आदि की पूर्ति उस ने नीलमत पुराणादि से की है। तथापि ३५ राजाओं का आम्नाय उसे नहीं मिल सका। उस आम्नाय की पूर्ति महाराज जैनुलआबेदीन (सन् १४२३–१४४७) के ऐतिहासिक मुल्लाह अहमद ने एक रत्नाकर पुराण से की थी। मुल्लाह अहमद के ग्रन्थ की सहायता से कुछ काल हुआ हसन ने काश्मीर का इतिहास लिखा था। उस में से लुप्त राजाओं के वर्णन के भाग का अङ्गरेजी अनुवाद एशियाटिक सोसायटी बंगाल के शोधपत्र में छपा था।[3] उस सामग्री को और कल्हणकृत राजतरङ्गिणी को देख कर यह परिणाम निकलता है कि गोनन्द प्रथम जो श्रीकृष्ण का समकालीन था, कलिसंवत् के आरम्भ में ही हुआ था। अत. ३०४४ पूर्व विक्रम तक का काश्मीर का इतिहास अभी तक सुरक्षित है। यह सत्य है कि कल्हण के ग्रन्थ में अनेक बातों का उल्लेख रह गया है और कई राजाओं का काल संदिग्ध है, परन्तु इतने से उस के ग्रन्थ का वास्तविक

१—राजतरंगिणी १।५१॥

२—राजतरंगिणी १।४६॥

3—History of Kashmir by Pt Anand Kaul, Vol VI, 1910 p.p.-195-219

मूल्य नष्ट नहीं होता। कलिसंवत् से पहले भी काश्मीर में अनेक राजा हो चुके थे। उन का इतिहास भी खोजा जा सकता है।

३—कामरूप की राजवंशावली

प्राचीन कामरूप[1] ही वर्तमान आसाम है। कभी इसे चीन और वर्तमान चीन को महाचीन कहते थे।[2] प्राग्ज्योतिष इसी की राजधानी थी। दो सहस्र वर्ष पूर्व इस की सीमा बड़ी विस्तृत होगी। इसी देश का राजा भगदत्त महाभारत युद्ध में महाराज दुर्योधन का सहायक था। महाभारत में लिखा है—

स तानाजौ महेष्वासो निर्जित्य भरतर्षभ ।
तैरेव सहित सर्वैं प्राग्ज्योतिषमुपाद्रवत् ॥३९॥
तत्र राजा महानासीद् भगदत्तो विशाम्पते ।
तेनैव सुमहद्युद्धं पाण्डवस्य महात्मन ॥४०॥
स किरातैश्च चीनैश्च वृतः प्राग्ज्योतिषोऽभवत् ।
अन्यैश्च विविधैर्योधैः सागरानूपवासिभिः ॥४१॥

अर्थात्—प्राग्ज्योतिष के राजा भगदत्त के साथ अर्जुन का युद्ध हुआ था।

भगदत्त के पिता का नाम था नरकासुर और पितामह का नाम अज्ञात है।[3] महाभारत युद्ध के समय भगदत्त बहुत वृद्ध था।

ऐतिहासिक घटनाओं से पूर्ण आसाम की अनेक राजवंशावलियां अब तक मिलती हैं। वहां की भाषा में उन्हें बुरञ्जी कहते हैं। उन बुरञ्जियों के अनुसार महाराज भगदत्त महाभारतकालीन था। उसके पिता नरकासुर और नरकासुर से भी पूर्व के कई राजाओं का वर्णन वहां मिलता है और

---

१. यह नाम द्वितीय कालिदास कृत रघुवंश ४।८३, ८४ में भी मिलता है।

2, Hiuen Tsiang (A. D 629) Tr. by Samuel Beal 1906, vol. II, p 198, तथा अल्बेरूनी का भारत अंग्रेजी अनुवाद भाग १ पृष्ठ २०७।

३. महाभारत दाक्षिणात्य संस्करण, सम्पादक सुब्रह्मण्य शास्त्री, सन् १९३२, सभापर्व अध्याय २८।

४. महाभारत आश्रमवासिकपर्व २१।१० ॥

२—काश्मीर की राज-वंशावली

काश्मीर की वंशावलीमात्र ही हमारे पास नहीं है, अपितु काश्मीर का एक विस्तृत इतिहास भी मिलता है। इस के लिए कल्हण पण्डित (शक काल १०७०) धन्यवाद का पात्र है। हम पहले पृष्ठ ९५ पर कह चुके हैं कि कल्हण वराहमिहिर का भाव नहीं समझा। अतः उसने कलि के ६५३ वर्ष व्यतीत होने पर युधिष्ठिर का राज्य माना है।[1] परन्तु यह सत्य है कि उस के पूर्वज ऐसा नहीं मानते थे। वह स्वयं लिखता है—

भारतं द्वापरान्तेऽभूद्वार्तयेति विमोहिता।
केचिदेतां मृषा तेषां कालसंख्यां प्रचक्रिरे॥[2]

अर्थात्—भारत युद्ध द्वापरान्त में हुआ था, ऐसा मान कर कई प्राचीन ऐतिहासिकों ने मिथ्या कालसंख्या की है।

कल्हण के अनुसार वे प्राचीन ऐतिहासिक ठीक न भी हों, पर हमारे अनुसार तो वे ही ठीक हैं। कल्हण एक और बात भी कहता है कि गोनन्द प्रथम से लेकर ५२ राजाओं का आम्नाय भ्रंश हो गया था। इस आम्नाय में से कुछ राजाओं के नाम और काल आदि की पूर्ति उस ने नीलमत पुराणादि से की है। तथापि ३५ राजाओं का आम्नाय उसे नहीं मिल सका। उस आम्नाय की पूर्ति महाराज जैनुलआबेदीन (सन् १४२३–१४४७) के ऐतिहासिक मुल्लाह अहमद ने एक रत्नाकर पुराण से की थी। मुल्लाह अहमद के ग्रन्थ की सहायता से कुछ काल हुआ हसन ने काश्मीर का इतिहास लिखा था। उस में से लुप्त राजाओं के वर्णन के भाग का अङ्गरेजी अनुवाद एशियाटिक सोसायटी बंगाल के शोधपत्र में छपा था।[3] उस सामग्री को और कल्हणकृत राजतरङ्गिणी को देख कर यह परिणाम निकलता है कि गोनन्द प्रथम जो श्रीकृष्ण का समकालीन था, कलिसंवत् के आरम्भ में ही हुआ था। अतः २०४४ पूर्व विक्रम तक का काश्मीर का इतिहास अभी तक सुरक्षित है। यह सत्य है कि कल्हण के ग्रन्थ में अनेक बातों का उल्लेख रह गया है और कई राजाओं का काल संदिग्ध है, परन्तु इतने से उस के ग्रन्थ का वास्तविक

१—राजतरंगिणी १।५१॥

२—राजतरंगिणी १।४९॥

3—History of Kashmir by Pt Anand Kaul, Vol VI, 1910 p.p. 195-219

था। उससे ३००० वर्ष व्यतीत होने पर राजा पुष्यवर्मा हुआ।[1]

ताम्रपत्र के अगले श्लोकों मे पुष्यवर्मा के उत्तरवर्ती १२ राजाओं के नाम लिखे हैं। उन में अन्तिम राजा भास्करवर्मा अपरनाम कुमारवर्मा है। इसी भास्करवर्मा का उल्लेख हर्षचरित और ह्यूनसाङ्ग के यात्रा-विवरण में मिलता है। इन १२ राजाओं का काल न्यून से न्यून ३०० वर्ष का होगा। ह्यूनसाङ्ग लगभग सन् ६३०-४० तक भारत मे रहा। तभी वह महाराज भास्करवर्मा से मिला होगा। इस प्रकार स्थूलरूप से गणना करके महाभारत कालीन महाराज भगदत्त का थोड़े से भेद के साथ लगभग वही काल निकलता है जो भारत-युद्ध का काल हम पहले कह चुके हैं। कामरूप के राजाओं के सम्बन्ध में ह्यूनसाङ्ग का निम्नलिखित लेख भी ध्यान देने योग्य है—

उस काल से लेकर जब इस कुल ने इस देश का राज्य सम्भाला, वर्तमान राजा तक १००० (एक सहस्र) पीढ़ियां हो चुकी हैं।[2]

आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प में ५५६-५६८ श्लोक तक चीन के राजाओं का वर्णन है। यह वर्णन सम्भवतः प्रथम शताब्दी ईसा म होने वाले यवनों क समकालिक राजाओं का है। जायसवाल इस वर्णन को सातवीं शताब्दी का मानता है, अस्तु। हम पृष्ठ १११ पर कह चुके हैं, कि वर्तमान आसाम ही कभी चीन कहाता था। जायसवाल का मत है कि मूलकल्प का चीन तिब्बत था। मूलकल्प में चीन के राजा हिरण्यगर्भ अथवा वसुगर्भ का वर्णन है। इस चीन के पूर्ण निर्णय की आवश्यकता है। स्मरण रहे कि मूलकल्प के ६१२ और ६१५ श्लोक में कामरूप का पृथक् उल्लेख है।

उद्योग पर्व १३०।५८ के अनुसार नरकासुर बड़ा दीर्घजीवी था। इसे श्रीकृष्ण ने मारा था। द्रोणपर्व २६।४४ मे उस के मारने और प्राग्ज्योतिष मे श्रीकृष्ण के मणि, कुण्डल और कन्याएं लाने का उल्लेख है।

---

१. इस ताम्रशासन के कुछ पत्र पहले अनुपलब्ध थे। पुनः वे एपिग्राफिया इण्डिका भाग १६ पृष्ठ ११५-१२८ पर छप गए।

२. बील का अङ्ग्रेजी अनुवाद, पृ० १९६। थामस वाटर्स के अनुवाद में भी यही बात लिखी है—

The sovereignty had been transmitted in the family for 1000 generations, Vol II, p 186

भगदत्त से आगे तो इतिहास का क्रम अविच्छिन्न है। बुरञ्जियों में थोड़ा सा भेद अवश्य है, परन्तु मूल ऐतिहासिक तथ्य इन से सुविदित हो जाता है।[1]

इन बुरञ्जियों की मौलिक सत्यता को एक ताम्रपत्र का निम्नधृत अंश भले प्रकार स्पष्ट करता है। यह ताम्रपत्र सन् १९१२ में मिला था। इसकी छाप और इस का अंगरेजी अनुवाद ऐपिग्राफिया इण्डिका सन् १९१३-१४ पृष्ठ ६५ तक मुद्रित हुआ है। उस में लिखा है—

धात्रीमुच्चिक्षिप्सोरम्बुनिधेः कपटकोलरूपस्य।
चक्रभृतः सूनुरभूत्पार्थिववृन्दारको नरकः ॥४॥
तस्माददृष्टनरकान्नरकादजनिष्ट नृपतिरिन्द्रसखः[2]।
भगदत्तः ख्यातजयं विजयं युधि यः समाह्वयत ॥५॥
तस्यात्मजः क्षतारेर्वज्रगतिर्वज्रदत्तनामाभूत्।
शतमखमखण्डबलगतिरतोषयद्य सदा संख्ये ॥६॥
वश्येषु तस्य नृपतिषु वर्षसहस्रत्रयं पदमवाप्य।
यातेषु देवभूयं क्षितीश्वर पुष्यवर्म्माभूत् ॥७॥

अर्थात्—नरकासुर का पुत्र भगदत्त और भगदत्त का पुत्र वज्रदत्त[3]

---

१. इस विषय पर अधिक देखो—Assamese Historical Literature, article by Suryya Kumar Bhuyan M A Proceedings of the Fifth Indian Oriental Conference, Lahore, pp, 525—536.

२ द्रोणपर्व २९। ४४ में इस भगदत्त को सुरद्विप और २९। ५ में सखायमिन्द्रस्य तथा ३०। १ में प्रियमिन्द्रस्य सततं सखाय—कहा गया है।

३. महाभारत, आश्वमेधिक पर्व ७५।२ में इस का नाम यज्ञदत्त कहा गया है। क्या कुम्भघोण संस्करण के पाठ में भूल हुई है? नीलकण्ठ टीका सहित मुम्बई सस्करण में वज्रदत्त ही पाठ है। हर्षचरित सप्तम उच्छ्वास में भगदत्त पुष्पदत्त और वज्रदत्त नाम मिलते हैं। महाभारत कर्ण पर्व ३।९१ के अनुसार भगदत्त का एक पुत्र भारतयुद्ध में मारा गया। वनमाल वर्मदेव के ताम्रशासन में वज्रदत्त को प्राग्ज्योतिषेश्वर भगदत्त का भाई और उपरिपत्तन का राजा लिखा है। एपिग्राफिया इंडिका भाग २९ अंश ५ सन् १९५५, पृष्ठ १४९।

था। उससे ३००० वर्ष व्यतीत होने पर राजा पुष्यवर्मा हुआ।[1]

ताम्रपत्र के अगले श्लोकों मे पुष्यवर्मा के उत्तरवर्ती १२ राजाओं के नाम लिखे हैं। उन में अन्तिम राजा भास्करवर्मा अपरनाम कुमारवर्मा है। इसी भास्करवर्मा का उल्लेख हर्षचरित और ह्यूनसाङ्ग के यात्रा-विवरण में मिलता है। इन १२ राजाओं का काल न्यून से न्यून ३०० वर्ष का होगा। ह्यूनसाङ्ग लगभग सन् ६३०-४० तक भारत में रहा। तभी वह महाराज भास्करवर्मा से मिला होगा। इस प्रकार स्थूलरूप से गणना करके महाभारत कालीन महाराज भगदत्त का थोड़े से भेद के साथ लगभग वही काल निकलता है जो भारत-युद्ध का काल हम पहले कह चुके हैं। कामरूप के राजाओं के सम्बन्ध में ह्यूनसाङ्ग का निम्नलिखित लेख भी ध्यान देने योग्य है—

उस काल से लेकर जब इस कुल ने इस देश का राज्य सम्भाला, वर्तमान राजा तक १००० (एक सहस्र) पीढ़ियां हो चुकी हैं।[2]

आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प में ५५६-५६८ श्लोक तक चीन के राजाओं का वर्णन है। यह वर्णन सम्भवतः प्रथम शताब्दी ईसा में होने वाले यवनों के समकालिक राजाओं का है। जायसवाल इस वर्णन को सातवीं शताब्दी का मानता है, अस्तु। हम पृष्ठ १११ पर कह चुके हैं, कि वर्तमान आसाम ही कभी चीन कहाता था। जायसवाल का मत है कि मूलकल्प का चीन तिब्बत था। मूलकल्प में चीन के राजा हिरण्यगर्भ अथवा वसुगर्भ का वर्णन है। इस चीन के पूर्ण निर्णय की आवश्यकता है। स्मरण रहे कि मूलकल्प के ६१३ और ६१५ श्लोक में कामरूप का पृथक् उल्लेख है।

उद्योग पर्व १३०।५८ के अनुसार नरकासुर बड़ा दीर्घजीवी था। इसे श्रीकृष्ण ने मारा था। द्रोणपर्व २६।४४ में उस के मारने और प्राग्ज्योतिष से श्रीकृष्ण के मणि, कुण्डल और कन्याएं लाने का उल्लेख है।

---

१. इस ताम्रशासन के कुछ पत्र पहले अनुपलब्ध थे। पुन. वे एपिग्राफिया इण्डिका भाग १६ पृष्ठ ११५-१२८ पर छप गए।

२. बील का अङ्ग्रेजी अनुवाद, पृ० १९६। थामस वाटर्स के अनुवाद में भी यही बात लिखी है—

The sovereignty had been transmitted in the family for 1000 generations, Vol II, p 186

अस्तु, इस सम्बन्ध में हम इतना और कहेंगे कि कामरूप का इतिहास अध्ययनविशेष चाहता है। इस के पाठ से भारतीय इतिहास की अनेक ग्रन्थियां सुलझेंगी।

४—इन्द्रप्रस्थ की राजवंशावली

यह वंशावली श्री स्वामी दयानन्दसरस्वती रचित सत्यार्थप्रकाश के एकादश समुल्लास के अन्त में छपी है। इस का मूल विक्रम संवत् १७८२ का एक हस्तलेख था। इसी से मिलती जुलती एक वंशावली दयानन्द कालेज के लालचन्द पुस्तकालय के पुस्तकाध्यक्ष पं० हंसराज ने लाहौर के एक ब्राह्मण के पास देखी थी। खुलासतुत् तवारीख नाम का एक इतिहास फारसी भाषा में है। उस में देहली साम्राज्य का इतिहास है। कर्ता उस का मुंशी सुजानराय पञ्जाबान्तर्गत बटाला नगर निवासी था। इस का रचना-काल सन् १६९५ है। उस में यही वंशावली स्वल्प भेद के साथ मिलती है। कर्नल टाड ने सन् १८२९ में राजस्थान का इतिहास प्रकाशित करवाया था। उसकी दूसरी सूची में कुछ पाठान्तरों के साथ यही वंशावली मिलती है। तदनुसार परीक्षित से लेकर विक्रम तक ६६ राजा हुए हैं।[1]

कर्नल टाड की वंशावली का मूल एक राजतरङ्गिणी=वंशावली थी। वह जयपुर के महाराज सवाई जयसिंह के सामने सन् १७४० में पण्डित विद्याधर और रघुनाथ ने एकत्र की थी। उस के लेखकों का कहना है—

मैंने अनेक शास्त्र पढे हैं। उन सब में युधिष्ठिर से लेकर पृथ्वीराज तक इन्द्रप्रस्थ के राजसिंहासन पर १०० क्षत्रिय राजा लिखे हैं। उन सब का राज-काल ४१०० वर्ष था। इति।

इस वंशावली के अनुसार युधिष्ठिर से लेकर खेमराज=क्षेमक तक १८६४ वर्ष होते थे। उतने काल में २८ राजाओं ने राज्य किया था।

सत्यार्थप्रकाशस्थ वंशावली के अनुसार संवत् १२४९ तक इन्द्रप्रस्थ के राजसिंहासन पर १२४ राजा बैठे थे। उन का राजकाल ४१५७ वर्ष ९ मास और १४ दिन था। युधिष्ठिर उन सब में पहला राजा था। इस वंशावली

१. इन वंशावलियों का अधिक वर्णन हमारे 'भारतवर्ष का इतिहास' पृष्ठ २१४-२१८ पर देखो।

की गणना के अनुसार महाभारत युद्ध को हुए कुछ न्यून उतने ही वर्ष होते हैं, जितने हम पूर्व लिख चुके हैं।

इस वंशावली के अन्तिम भाग से कुछ मिलती हुई एक वंशावली आईने-अकबरी के सूबा देहली के वर्णन में मिलती है। विष्णुपुराण चतुर्थांश अध्याय २१ में इस वंशावली के आरम्भ भाग के कुछ राजाओं के नाम दिये हैं। सत्यार्थप्रकाश की वंशावली का प्रथम वंश युधिष्ठिर से आरम्भ हो कर क्षेमक पर समाप्त होता है। पुराण में भी इस वंश की समाप्ति क्षेमक पर ही है। परन्तु मध्य के राजाओं में बहुत भेद है। जहां सत्यार्थप्रकाश की वंशावली में कुछ राजा रह गये हैं, वहां पुराणान्तर्गत वंशावली में कुछ राजाओं के नाम अधिक हैं और बहुत से दूसरों के नाम रह गए हैं। ब्रह्माण्ड, वायु आदि दूसरे पुराणों में भी इस पौरव-वंश का वर्णन मिलता है। पुराणान्तर्गत पौरववंश और सत्यार्थप्रकाशस्थ पौरव वंश में एक भेद विशेष ध्यान देने योग्य है। पुराणों में इस वंश का राज-काल लगभग १००० वर्ष है और सत्यार्थप्रकाश में १७७० वर्ष ११ मास १० दिन है।

ईसी सन्[1] १९३४ के मध्य में हमारे सुहृद् श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु ने काशी से एक पुराना पत्रा हमारे पास भेजा था। उस पर क्षेमक तक राजाओं के नाम और उन का राज्यकाल लिखा है। इस पत्रे पर इन्हीं राजाओं के "लोकनाम" भी लिखे हैं। क्षेमक तक राजाओं का कालमान १५७८ वर्ष और ६ दिन लिखा है। यह वंशावली सम्भवत: कलि के ३८७३ वर्ष में किसी ने लिखी होगी। उस पत्र पर "कलियुगगत" ३८७३ वर्ष दिया है। पुनः लिखा है कि २२८६ वर्ष, और ११ दिन "पीढ़ी की तलाशी मुनासब करणी। ८२९ संवत् वैसाख सुदी १३ लिखी वही।" अन्तिम लेख किसी नए व्यक्ति ने लिखा होगा।

इन्द्रप्रस्थ पाण्डवों की राजधानी थी। कौरव राजधानी हस्तिनापुर थी। इस हस्तिनापुर के सिंहासन पर बैठने वाले युधिष्ठिर अथवा दुर्योधन के पूर्वज अनेक राजाओं का इतिहास महाभारत आदि में मिलता है। उस सब को देखकर यही निश्चय होता है कि शृङ्खलाबद्ध भारतीय=आर्य

१. प्रथम संस्करण का मुद्रण काल।

इतिहास भी अत्यन्त प्राचीन है, और कलिसवत् के सहस्रों वर्ष पूर्व से क्रमवार लिखा जा सकता है, तथा यह उतने प्राचीन काल तक का मिलता है, जितने का कि अन्य किसी देश का नहीं मिलता।

५—बीकानेर की राजवंशावली

एक राजवशावली बीकानेर की मिलती है। सन् १८९८ में जो **तारीख रियासत बीकानेर** छपी थी, उस में पृ० ५१३ से आगे यह वशावली मिलती है। इस की तथ्यता को जानने का अभी तक कोई काम नहीं हुआ। बीकानेर एक नवीन राज्य है, अत वहां की वशावली इतनी पुरानी नहीं हो सकती। इस वशावली में १२२वां राजा सुमित्र है। यह वही सुमित्र है, जिस पर इक्ष्वाकुओं की पौराणिक वशावली समाप्त होती है। पौराणिक वशावली के सुमित्र से पूर्व के प्रायः सारे नाम इस में मिलते हैं। प्रतीत होता है कि अपने आपको इक्ष्वाकु वश का सिद्ध करने के लिए किसी ने यह वशावली इस ढग पर बनवाई है। इस के अगले नामों पर हम विचार नहीं कर सके। क्या सम्भव हो सकता है कि इस के अगले नामों में से कुछ राजाओं के नाम कल्पित भी हों। इस वशावली में सन् १८९८ तक २८६ राजा दिए हैं। हम ने इस का उल्लेख यहां इसी अभिप्राय से किया है कि इस वशावली पर अधिक विचार किया जा सके। स्मरण रहे कि आधुनिक काल के अनेक राज्यों के राजाओं ने अपने कुलों को प्राचीन सिद्ध करने के लिए ऐसी ही अनेक वशावलिया बनवा रखी हैं। परन्तु इस का यह अभिप्राय नहीं कि महाभारत और पुराणान्तर्गत वशावलियां भी कल्पित हैं।

६—पुराणान्तर्गत मगध-राज्यवंशावली

ब्रह्माण्ड, मत्स्य, विष्णु आदि पुराणों में कलिकाल में राज करने वाले मगध के राजाओं की एक वशावली मिलती है। उस का आरम्भ भारत युद्ध में परलोक सिधारने वाले सहदेव के पुत्र सोमाधि या मार्जारि से होता है। सोमाधि से लेकर रिपुञ्जय तक २२ राजा हुए हैं। उन का राजकाल १००६ वर्ष था। पुराणों में वर्षसख्या १००० दी है। इस वश का नाम बार्हद्रथ वश है। बार्हद्रथ वश के पश्चात् पुराणों में १३८ वर्ष राज्य करने वाले बालक प्रद्योतवश का उल्लेख है। बालक प्रद्योतवश का उज्जैन के चण्ड प्रद्योतवंश से कोई सबध नहीं था। प्रद्योतवश के पश्चात्

३६० वर्ष तक राज्य करने वाले शैशुनाग वंश का वर्णन-पुराणों में मिलता है। इसी वंश का छठा राजा अजातशत्रु उपनाम कुणिक अथवा अशोकचन्द्र अथवा देवानांप्रिय था।[1] उस के आठवें राजवर्ष में बुद्ध का निर्वाण माना जाता है।

पुराणस्थ वंशों में कुछ हस्तक्षेप हुआ है। इक्ष्वाकु वंश का वृत्तान्त देखने से यह ज्ञात हो जाएगा। पार्जिटर के अनुसार इक्ष्वाकु वंश में बृहद्बल से आरम्भ कर के नन्दपर्यन्त ३१ राजा हुए थे। उन में २३वां शाक्य, २४वां शुद्धोदन, २५वां सिद्धार्थ, २६वां राहुल, २७वां प्रसेनजित् आदि हैं। परन्तु पुराणों के श्लोक जो समानकालीन राजाओं का उल्लेख करते हैं, २४ इक्ष्वाकु राजा बताते हैं। उन का राज-काल १५०० वर्ष था। पुराणानुसार इक्ष्वाकु वंश में शाक्य से पूर्व २२ राजा हैं। हमने विष्णुपुराण के अनेक हस्तलेख देखे हैं। उन में से कई एक में २३ राजा दिये हैं। हमने "भारतवर्ष का इतिहास" में छब्बीस राजाओं के नाम दिए हैं। इस प्रकार यही २६ राजा १५०० वर्ष तक राज कर चुके होंगे। पीछे किसी बुद्ध-भक्त ने शाक्यों का वंश भी उसी में जोड़ दिया होगा। यह बात इस लिए भी युक्त प्रतीत होती है कि पुराणों और दूसरे आर्य ग्रन्थों के अनुसार बुद्ध या सिद्धार्थ लगभग भारत युद्ध के १३०० वर्ष पीछे हुआ था।

इन राजवंशों में कहीं कहीं विच्छेद हुआ। उस का एक संकेत मैगस्थनेज़ के लेख में मिलता है। वहां लिखा है—

From the time of Dionysos (or Bacchus) to Sandrakottos the Indians counted 153 kings and a period of 6042 years, but among these a republic was thrice established——— and another to 300 years, and another to 120 years.[2]

अर्थात्—वेयग के काल से अलक्षेन्द्र के काल तक भारतीय लोग १५३ राजा गिनते हैं। उन का राज काल ६०४२ वर्ष था। इस अन्तर में तीन वार प्रजातन्त्र या गणराज्य स्थापित हुआ था। पहले गण-राज्य के काल-निर्देशक अङ्क कृमिभुक्त हो गये हैं। दूसरा गणराज्य ३०० वर्ष तक और तीसरा १२० वर्ष तक रहा।

मैगस्थनेज के लेखानुसार वेयग (विप्रचित्ति दानवासुर) कलि के

---

१. देखो दरिद्रकृत अवन्तिसुन्दरी. पृ० १५६।

2. Indika of Arrian, ch IX.

आरम्भ से कोई ३२६० वर्ष पूर्व हुआ था। पर मैगस्थनेज का संकेत किन गणराज्यों की ओर है यह हम निश्चय से नहीं कह सकते।

इस प्रकार यह निश्चित है कि जो आधुनिक ऐतिहासिक मगध की राज वंशावलियों से महाभारत का काल १४००–१५०० पूर्व विक्रम बताते हैं, वे इस बात को ठीक रूप से नहीं समझे।

पार्जिटर और पुराणों के आधार पर भारत युद्ध काल

प्राचीन भारतीय ऐतिह्य के पृ० १८२ पर पार्जिटर ने लिखा है कि भारत-युद्ध-काल ईसा से ९५० वर्ष पहले था। पौराणिक वंशावलियों को अपने अभिप्रायानुकूल बना कर उन्होंने यह परिणाम निकाला है। उन्हीं वंशावलियों के आधार पर श्री जायसवाल का यह परिणाम है कि भारत युद्ध ईसा से १४२४ वर्ष पूर्व हुआ। ये दोनों महाशय अत्यन्त यत्नशील होने पर भी तथ्य को नहीं देख सके। विस्तरभय से इस विषय पर हम यहां अधिक नहीं लिख सके।

७—नेपाल की राजवंशावली

यह वंशावली सब से पहले कर्नल किर्कपैट्रिक के नेपाल के वर्णन में छपी थी।[1] उक्त कर्नल ने सन् १७९३ में उस देश की यात्रा की थी। उसी यात्रा का फल यह ग्रन्थ था। तत्पश्चात् मुन्शी शिवशङ्करसिंह और पण्डित श्रीगुणानन्द ने **पार्वतीय भाषा** से नेपाल के इतिहास का अनुवाद किया था। उस अनुवाद का सम्पादन डेविअल राईट ने सन् १८७७ में किया। उस इतिहास में नेपाल की राजवंशावली का अनुवाद छपा है। फिर सन् १८८४ की इण्डियन अण्टीक्वेरी में पण्डित भगवानलाल इन्द्रजी ने एक और संक्षिप्त वंशावली मुद्रित की थी।[2] पुनः सैसिल बैण्डल ने नेपाल दरबार के ताड़पत्रों के सूचीपत्र के आरम्भ में एक प्राचीन राजवंशावली का उल्लेख किया है।[3]

1—An account of the Kingdom of Nepal

२—पृ० ४११–४२८।

3—A Catalogue of palm-leaf and selected paper Mss belonging to the Durbar Library Nepal, Calcutta, 1905.

Historical Introduction p 3—5

इसका ऐतिहासिक भाग सन् १९०३ में एशियाटिक सोसायटी के जर्नल में प्रकाशित हो गया था।

उनका कहना है कि यह वंशावली राजा जयस्थितिमल्ल (सन् १३८०-१३९४) के समय में लिखी गई होगी, क्योंकि इस की समाप्ति उस राजा पर होती है। इससे कहना पड़ता है कि दूसरी वंशावलियों की अपेक्षा इस वंशावली के लिखे जाने का काल बहुत पुराना है। इन सब के पश्चात् हमारे सुहृद् वयोवृद्ध श्री सिल्वेन लेवी ने फ्रांस देश की भाषा में नेपाल का इतिहास लिखा। यह इतिहास तीन भागों में है, और सन् १९०५—१९०८ तक प्रकाशित हुआ था।

इन सब वंशावलियों से यही पता लगता है कि नेपाल का राज्य बड़ा प्राचीन था। उस का आरम्भ कलियुग से बहुत पहले से हुआ था। यही नेपाल की वंशावलियां हैं, जिन में कलिगत संवत् का प्रयोग बहुधा हुआ है।

आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प में श्लोक ५४९-५५८ तक नेपाल के इतिहास का प्रसंग है। नेपाल में लगभग प्रथम शताब्दी के समीप लिच्छवी कुलोत्पन्न कोई मानवेन्द्र या मानवदेव राजा था। इन श्लोकों में अन्य अनेक राजाओं के नाम भी लिखे हैं। मूलकल्प की सहायता ले नेपाल के अनेक राजाओं की तिथियां जो अबतक कल्पित की गई थीं, बदलनी पड़ेंगी।

अपनी वंशावली के सम्बन्ध में भगवानलाल इन्द्रजी ने लिखा है—

यह स्पष्ट है कि इस वंशावली में कई बातें ऐतिहासिक रूप से सत्य हैं, परन्तु समग्र वंशावली किसी काम की नहीं है। इति।

भगवानलाल इन्द्रजी का यह लिखना कुछ आग्रह करना है। माना कि इन वंशावलियों में बहुत बातें आगे पीछे हो गई हैं और कई बातों में भूल भी हुई है, परन्तु इतने मात्र से सारी वंशावली को निरर्थक कहना उचित नहीं।

८—त्रिगर्त की राजवंशावली

पुरातत्त्व के विद्वान् जैनरल कनिंघम ने त्रिगर्त की कई राजवंशावलियां प्राप्त की थीं।[1] वे वंशावलियां बहुत पुराने काल तक जाती थीं, अतः कनिंघम को उन पर विश्वास नहीं हो सका। कांगड़ा और जालन्धर जिला के गैजेटियर्स में इन्हीं वंशावलियों का उल्लेख है। सन् १९१९ में ऐसी ही एक वंशावली हमने ज्वालामुखी से प्राप्त की थी। यह वहां के प्राचीन पुरोहितगृह

1—Archeological Report, 1872—1873, by A Cunningham, 1875, p 150

से हमने स्वयं ढूढी थी। पुरोहितों के कुल में पण्डित दीनदयालु विद्यमान हैं। वही हमें अपने घर ले गए थे। इस वंशावली के साथ काङ्गड़ा के वर्तमान छोटे २ राज्यों की भी कई वंशावलियां हैं।

इस वंशावली के साथ एक और पत्र भी हमें वहीं से मिला था। उस का ऐतिहासिक मूल्य बहुत अधिक है। किसी काल में वहां अनेक ऐसे पत्र रहे होंगे। यदि वे सब मिल जाते, तो हमारे इतिहास का बड़ा कल्याण होता। परन्तु खेद है कि वे हमें नहीं मिल सके। उस पत्र पर लिखे हुए कुछ श्लोक हम नीचे देते हैं—

भूमिचन्द्र समारभ्य मेघचन्द्रान्तमुच्यते।
चतु शत क्षितीन्द्राणामेकपञ्चाशदुत्तरम् ॥१॥
त्रिलोकचन्द्रतनय हरिश्चन्द्रनृपावधि।
चतु शत पुनस्तेषां चतु षष्ट्युत्तरं मतम् ॥२॥
मेघचन्द्राद्द्वीजिपुंस कुलमासीदनेकधा।
मनोरिव क्षितीन्द्राणां विचित्रचरिताश्रयम् ॥३॥
ज्येष्ठ. पुत्र. कर्म्मचन्द्रो मेघचन्द्रस्य कथ्यते।
सुप्रतिष्ठं तस्य कुलं कोटे नगरपूर्वके ॥४॥
द्वितीयो मेघचन्द्रस्य हरिश्चन्द्र सुतो मत।
गोपाचले प्रपेदेऽस्य सन्ततिर्वसतिर्ध्रुवम् ॥५॥
जालन्धरधराधीश-धर्म्मचन्द्रमहीभृतः।
लक्ष्मीचन्द्रपूर्वतोऽभूत् पञ्चविंशत्तमो नृप ॥१०॥
एवं देव्यां. कुलमुपययौ वृद्धिमत्यूर्जितश्रि
स्थाने स्थाने विषयवसतो जातनानाविधानम्।
विश्वख्यातं विमलयशसा देवताशानुभावान्
नो सम्भाव्यं तदनुसरणं तद्भिभिन्नान्वयेन ॥११॥

अर्थात्—त्रिगर्त के आदि राजा भूमिचन्द्र से लेकर मेघचन्द्र तक ४५१ राजा हुए हैं। तत्पश्चात् त्रिलोकचन्द्र के पुत्र हरिश्चन्द्र तक ४६४ राजा हुए हैं। मेघचन्द्र का ज्येष्ठ पुत्र कर्मचन्द्र (४५२) था। उस का कुल नगरकोट में सुप्रतिष्ठित था। ४५१ संख्या वाले मेघचन्द्र का दूसरा पुत्र हरिश्चन्द्र—गुलेर में राजा हुआ। उस के पुत्र पौत्र वहीं पर राज करने लगे। ४५६ संख्या का राजा धर्मचन्द्र था। वह जालन्धर का

भी राजा था। उस से २५ पीढ़ी पहले अर्थात्—४३४ सख्या का राजा लक्ष्मीचन्द्र था।

४५७ सख्या वाले प्रयागचन्द्र के विषय में उसी पर पुनः लिखा है—

श्रीरामचन्द्रोऽजनि जागरूक प्रयागचन्द्रस्य सुतोऽवनीशः।
विन्ध्यादिकानां जगतीधराणां गुहा यदीयारिगृहा बभूवुः ॥१॥
आसीदथैतत्समकालमेव पपुर्वंढाणोर्जितवंशदीपः।
सेकन्दराख्यो यवनाधिराजस् त्रिगर्तदुर्गग्रहणे प्रवृत्त ॥२॥
द्वाविंशतिर्यस्य महाध्वजिन्य. पर्य्यायितो म्लेच्छपतेर्विलीना।
प्रयागचन्द्रात्मजबाहुवीर्य्ये वर्षाणि तावन्ति युधि प्रवृत्ता ॥३॥
यो ब्रह्मखानो ऽजनि सूनुरस्य स पूर्ववर्त्मानिपथं न भेजे।
विशीर्यदैश्वर्य्यनिसर्ग एव नून यदुन्मार्गगति प्रभूणाम ॥४॥
प्राचीनदिल्लीपतिपारिजात-रत्नाकरे म्लेच्छवरिष्ठवंशे।
वीरस्ततो बाबर आविरासीज्जिहीर्षुरस्माद्वसुधाधिपत्यम् ॥५॥
सहायमासाद्य स पारसीकराजजयोद्योगपरो बभूव।
सेकन्दरस्यापि सुतस्तदानीं स रामचन्द्र वृतवान् सहायम् ॥६॥
स बद्धवैरोपि सदैव तेन विपद्यभूत्तस्य सहाय एव।
संसप्तकानां कुलधर्म एष यदापदि द्वेपिकुलोपकार ॥७॥
पाणीपथभुवि प्रवृत्तमसमं युद्ध तयोर्म्लेच्छयो-
लेभे भद्र च बाबरोरिविजयं दृप्यारिवंशान्तक।
यस्मिन्सगरमूर्द्धनि क्षितिपति. श्रीरामचन्द्रो यश-
स्तेने निर्मलमेष यत्समुचित ससप्तकानां कुले॥
सुशर्मवंशप्रभवक्षितीन्द्रावतसरूप खलु रामचन्द्रः।
जगाम वीरेन्द्रगतिं स्वदेहं रणे परित्यज्य विशुद्धबुद्धि ॥

अर्थात्—इन श्लोकों में ४५८ सख्या वाले राजा रामचन्द्र का वर्णन है। यह प्रयागचन्द्र का पुत्र था। इस का समकालीन दिल्लीपति सिकन्दर लोधी था। सिकन्दर ने नगरकोट के राजा से कई युद्ध किये, परन्तु सदा हारता रहा। सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् उस के पुत्र इब्राहीम लोधी ने पानीपत के युद्ध में त्रिगर्त के राजा रामचन्द्र की सहायता ली। इस युद्ध में बाबर की विजय हुई, और रामचन्द्र युद्ध में ही मारा गया।

यह युद्ध १८ एप्रिल सन् १५२६ को समाप्त हुआ था ।[१] इस से निश्चित होता है कि राजा रामचन्द्र की मृत्यु सन् १५२६ में हुई थी। कनिंघम और काङ्गड़ा गैज़िटियर के लेखक का मत है कि राजा रामचन्द्र की मृत्यु सन् १५२८ में हुई। उन्होंने किस प्रमाण से ऐसा लिखा, यह हमें ज्ञात नहीं हो सका।

मन्त्रार्थदीपिका का कर्ता शत्रुघ्न अपने मङ्गलश्लोकों में लिखता है—

बभूव राजन्यकुलावतंस पुरा सुशर्मा किल राजसिंहः।
निहत्य यो भारतसंयुगेषु चकार भूमीधरभूमिरक्षाम् ॥३॥
तदन्वये यो महनीयकीर्ति. सुवीरचन्द्र क्षितिपः किलासीत्।
चकार य. सयुगयज्ञभूमौ पशूनशेषानिव वैरिवीरान् ॥४॥
तस्मादसीमगुणसिन्धुरशेषबन्धुरासीत्समस्तजनगीतभुजप्रतापः।
श्रीदेवकीतनयपादरत प्रयागचन्द्रः प्रजानयनरञ्जनपूर्णचन्द्र ॥५॥

अर्थात्—सुशर्मा की कुल में सुवीरचन्द्र राजा हुआ। उस का पुत्र प्रयागचन्द्र था।

वंशावली में यह प्रयागचन्द्र सख्या ४५७ वाला है। अतः सुवीरचन्द्र सख्या ४५६ वाला हुआ।

इन से पूर्व के भी कई राजाओं का वर्णन मुसलमानी इतिहासों में मिलता है। कल्हण पण्डित राजतरङ्गिणी में लिखता है कि काश्मीर के राजा शङ्करवर्मा ने त्रिगर्त के राजा पृथ्वीचन्द्र को हराया।[२] वंशावली में इस पृथ्वी-चन्द्र का नाम हमें नहीं मिला। बहुत सम्भव है कि यह जालन्धर अथवा त्रिगर्ता-न्तर्गत किसी छोटी रियासत का राजा हो। अथवा त्रिगर्त के किसी राजा का भाई आदि हो और त्रिगर्तों का सेनापति हो। पृथ्वीचन्द्र के पुत्र भुवनचन्द्र का नाम भी वहा मिलता है।

महाभारत द्रोणपर्व अध्याय २८-३० में सुशर्मा और उस के भ्राताओं का वर्णन है। वे सब पांच भाई थे। नाम थे उनके सुशर्मा,

---

1 The Cambridge H of India, Vol III, 1928, p 250

२ राजतरगिणी ५।१४३,१४४॥

त्रिगर्त के केशव पण्डित ने अलङ्कारशेखर नाम का एक ग्रन्थ लिखा। उसमें ४६० सख्या वाले माणिक्यचन्द्र का उल्लेख है। यह माणिक्यचन्द्र सन् १५४५ अथवा स० १६०२ में जीवित था।

सुरथ, सुधर्मा, सुधनु और सुबाहु। पुनः आश्वमेधिक पर्व अध्याय ७४ में त्रिगर्तों के राजा सूर्यवर्मा का नाम मिलता है। इसी ने अर्जुन का घोड़ा रोका था। उस के दो भाई केतुवर्मा और धृतवर्मा थे। वंशावली में सुशर्मा के पश्चात् श्रीपतिचन्द्र का नाम लिखा है। यह श्रीपतिचन्द्र सूर्यवर्मा ही होगा।

हम यहां त्रिगर्त देश का इतिहास लिखने नहीं बैठे। अतः इस विषय पर अधिक विस्तार से नहीं लिख सकते। यहां दो चार मूल बातों का ही उल्लेख आवश्यक है। इस वंशावली में राजा रामचन्द्र तक ४५८ राजा हुए हैं। रामचन्द्र सन् १५२६ में परलोक सिधारा। इस वंशावली में २३१वां राजा सुशर्मा या सुशर्मचन्द्र था। इस सुशर्मा ने भारत युद्ध में भाग लिया था। इस सुशर्मा से पहले २३० राजा हो चुके थे। यदि सुशर्मा से लेकर प्रत्येक राजा का काल २० वर्ष भी माना जाए, तो इस वंशावली के अनुसार भी भारत युद्ध का वही काल निश्चित होता है, जो हम पूर्व कह चुके हैं। इस वंशावली के सम्बन्ध में इतना और प्रतीत होता है कि इस में राजाओं के साथ उन के भाइयों के नाम भी मिल गये हैं।

नगरकोट में प्राचीन राजवंशावलियां सुरक्षित थीं, यह अलबेरूनी के लेख से भी ज्ञात होता है। उस के लेख का भावार्थ हम नीचे देते हैं—

काबुल के शाहिय राजा एक के पश्चात् दूसरा लगभग ६० हुए थे। उन का इतिहास नहीं मिलता। परन्तु कई लोग कहते हैं कि नगरकोट दुर्ग में इन राजाओं की वंशावली रेशम पर लिखी हुई विद्यमान है। इति।

जब काबुल के राजाओं की इतनी पुरानी वंशावली नगरकोट में हो सकती थी, तो त्रिगर्त के राजाओं की अपनी वंशावली भी अवश्य सुरक्षित रखी गई होगी। हमारा अनुमान है कि जो वंशावली हमारे पास है, यह उसी वंशावली की परम्परागत प्रतिलिपि है। इस के अनुसार तो महाभारत से भी पांच छः सहस्र वर्ष पूर्व से त्रिगर्त का इतिहास मिल सकता है।

राजवंशावलियों पर एक सामान्य दृष्टि

इन राजवंशावलियों में कई भूलें हो चुकी हैं। यह हम पहले भी लिख चुके हैं। परन्तु हम जानते हैं कि इन की सहायता से प्राचीन इतिहास का निर्माण किया जा सकता है। जो लोग इन को उपेक्षा-दृष्टि से देखते हैं,

मैगस्थनेज का जो लेख मगध की राजवंशावली के प्रकरण में पहले उद्धृत किया गया है, तदनुसार प्रत्येक राजा का राज्य काल लगभग ३४ वर्ष पड़ता है। मैगस्थनेज के काल में आजकल की अपेक्षा भारतीय लोग अपने इतिहास को बहुत अधिक जानते थे। अतः मैगस्थनेज के इस लेख पर सहसा अविश्वास नहीं हो सकता। वस्तुतः ही प्राचीन राजाओं का राज्य-काल लम्बा होता था।

५–भारतीय इतिहास और कौटल्य

कौटल्य अर्थशास्त्र महाराज चन्द्रगुप्त के महामन्त्री चाणक्य का रचा हुआ है। उस के काल को अर्वाचीन सिद्ध करने के लिए जॉलीप्रभृति तीन चार पाश्चात्य लेखकों ने व्यर्थ चेष्टा की है। वस्तुतः वर्तमान अर्थशास्त्र कौटल्य की ही कृति है। मूलकल्प के अनुसार चाणक्य बड़ा दीर्घजीवी था। वह चन्द्रगुप्त, बिम्बसार और अशोक, इन तीनों का मन्त्री रहा। अतः उसके ग्रन्थ के विषय में हम अधिक से अधिक इतना ही कह सकते हैं कि अर्थशास्त्र का काल अशोक काल के पश्चात् का नहीं है। उस में निम्नलिखित प्राचीन राजाओं का उल्लेख है—

दाण्डक्य भोज। वैदेह कराल। जनमेजय (द्वितीय)। तालजङ्घ। ऐल। सौवीर अजबिन्दु। रावण। दुर्योधन। डम्भोद्भव। हैहय अर्जुन। वातापि। वृष्णिसंघ। जामदग्न्य। अम्बरीष नाभाग[1]। सुयात्र (उदयन)।

कौटिल्य सदृश विद्वान्, जो आर्य इतिहास का प्रवीण पण्डित था, जो इतिहास के अध्ययन को राजा की दिनचर्या में सम्मिलित करता है[2], जो पूर्वोक्त राजाओं को कोई कल्पित राजा नहीं मानता, उस के लेख से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उस की दृष्टि में ये सब राजा ऐतिहासिक थे। यदि उस के पास प्राचीन ऐतिह्य ग्रन्थ न होते, तो वह ऐसा न लिख सकता। अर्थशास्त्र में स्मरण किये गये ये राजा महाभारत और उस से पहले कालों के हैं। कराल जनक का संवाद महाभारत शान्तिपर्व अध्याय ३०८ आदि में मिलता है। इस से निश्चित होता है कि आर्यावर्त में आर्य लोग अपने इतिहास को सदा से जानते रहे हैं। वे अपनी राजवंशावलियों को सदा पूरा

१ अर्थशास्त्र १।६॥ २ अर्थशास्त्र १।५॥

करते रहते थे। गत छः सात सौ वर्ष में ही यह प्राचीन सामग्री कुछ नष्ट हुई है। विदेशियों के अनवरत आक्रमण इस नाश का कारण हैं। परन्तु जो कुछ भाग बचा है, यत्न से वह ठीक हो सकता है, ऐसी हमारी धारणा है।

८—यवन यात्री मैगस्थनेज़ का लेख

भारतीय इतिहास की प्राचीनता के सम्बन्ध में यूनानी राजदूत मैगस्थनेज का लेख उसके तीन देशवासियों ने इस प्रकार से सुरक्षित किया है—

From the days of Father Bacchus to Alexander the Great their kings are reckoned at 154 whose reigns extend over 6451 years and three months, (Pliny)

Father Bacchus was the first who invaded India and was the first of all who triumphed over the vanquished Indians, From him to Alexander the Great 6451 years are reckoned with three months additional, the calculation being made by counting the kings who reigned in the intermediate period, to the number of 153, (Solin 52 5)

From the time of Dionysos (or Bacchus) to Sandrakottos the Indians counted 153 kings and a period of 6042 years, but among these a republic was thrice established—— and another to 300 years, and another to 120 years. The Indians also tell us that Dionysos was earlier than Herakles by fifteen generations. (Indika of Arrian ch. IX)

अर्थात्—बेकस के काल से अलक्षेन्द्र के काल तक ६४५१ वर्ष हो चुके हैं और इतने काल तक १५३ वा १५४ राजाओं ने राज्य किया है। तीसरे लेख में ४०९ वर्ष न्यून दिये हैं।

इस लेख से इतना निश्चित होता है कि महाराज चन्द्रगुप्त या उस के पुत्र अमित्रघात के काल में जो परम्परा मगध में प्रसिद्ध थी, और जिस का उल्लेख मैगस्थनेज़ ने किया, तदनुसार भारत पर विदेशीय आक्रमक बेकस के काल से लेकर चन्द्रगुप्त के काल तक मगध में १५३ राजाओं ने ६०४२ वर्ष तक राज्य किया। इस लम्बे अन्तर में तीन बार प्रजातन्त्र वा गणराज्य स्थापित हुआ। उस का काल यदि ७४२ वर्ष मान लिया जाए, तो कुल

राजाओं ने अनुमानतः ५३०० वर्ष राज्य किया होगा। इस प्रकार प्रत्येक राजा का काल लगभग ३४ वर्ष निकलता है। प्लायनी की गणना के अनुसार प्रत्येक राजा का राज्य काल लगभग ४२ वर्ष होगा।

अलबेरूनी अपने अल किताबुल हिन्द अर्थात् भारत इतिहास में लिखता है—

हिन्दुओं में **कालयवन** नाम का एक संवत् प्रचलित है। इस के सम्बन्ध में मुझे पूरी सूचना नहीं मिल सकी। वे इस का आरम्भ गत द्वापर के अन्त में मानते हैं। इस यवन ने इन के धर्म और देश पर बड़े अत्याचार किए थे। इति।

क्या यही यवन बेक्कस हो सकता है? मैगस्थनेज के अनुसार बेक्कस कलि के आरम्भ से कोई ३२६० वर्ष पूर्व हुआ था, अर्थात् जब द्वापर के ३२६० वर्ष शेष थे। इस प्रकार सम्भव हो सकता है कि मैगस्थनेज का बेक्कस अलबेरूनी का यवन हो।

विक्रमखोल, हड़प्पा और मोहेञ्जोदारो के लेख

गत वर्ष बिहार और उड़ीसा प्रान्त में से एक नए शिलालेख के अस्तित्व का पता लगा था। उस की छाप आदि इण्डियन अण्टीक्वेरी मार्च सन् १९३३ में मुद्रित हुई है। मुद्रण कर्ता का नाम श्री काशीप्रसाद जायसवाल है। उन के मत में यह लेख लगभग १५०० ईसा पूर्व का और पौराणिक भौगोलिक स्थिति के अनुसार राक्षस देश का है।

विक्रमखोल से बहुत पूर्व के लेख हड़प्पा और मोहेञ्जोदारो में मिले हैं। उन के सम्बन्ध में सर जॉन मार्शल और उन के कुछ सहकारियों का मत है, कि ये लेख आर्य-काल से पूर्व के हैं। इन सब लोगों के हृदय में एक भ्रान्त विश्वास बैठा हुआ है, कि भारत में आर्यों का आगमन विक्रम से कोई दो सहस्र वर्ष पहले बाहर से हुआ। उसी के अनुसार ये लोग अपने दूसरे सारे मत स्थिर कर लेते हैं। हमें इन लोगों पर दया आती है। पहले तो ये लोग भारतीय इतिहास को बहुत पुराना इस लिए नहीं मानते थे कि यहां के बहुत पुराने लेख, नगर आदि नहीं मिले थे। अब जब ये पदार्थ मिल गए हैं तो भारतीय आर्य सभ्यता बहुत पुरानी न हो जाये, इस भय से इन्होंने इन लेख आदिकों को पूर्व-आर्य-काल का कहना आरम्भ कर दिया है।

गत पृष्ठों में हम अनेक प्रमाणों से बता चुके हैं कि भारतीय इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। उस दृष्टि के अनुसार यह निश्चित है कि पूर्वोक्त सब लेख आर्य काल के ही हैं। अब तो इन के ठीक ठीक पढ़ने के लिए महान् परिश्रम की आवश्यकता है।

रामायण और महाभारत की राजवंशावलियां

कलि से पूर्व के आर्य राजाओं का वृत्तान्त रामायण और महाभारत आदि ग्रन्थों में मिलता है। यह वृत्तान्त बहुत संक्षिप्त और प्रत्येक वंश के प्रधान राजाओं का है। उनके भाईयों आदि का नहीं।[1] क्रमबद्ध और विस्तृत इतिहास के न मिलने का एक कारण है। आर्यजाति अत्यन्त प्राचीन है। इस का इतिहास कल्प कल्पान्तरों तक का है। इतने लम्बे काल के इतिहास को कौन सुरक्षित रख सकता है। इसे सुरक्षित रखने के लिये सैकड़ों महाभारतों की आवश्यकता है। अतः आर्य ऋषियों ने उस इतिहास में से अत्यन्त उपयोगी भाग संगृहीत कर दिये। वे भाग रामायण और महाभारत में सुरक्षित हैं। इतिहास के कुछ और भी ग्रन्थ थे, परन्तु वे अब अप्राप्य हैं। रामायण, महाभारत और पुराणों की कलि से पहले की राजवंशावलियां भी उसी सुरक्षित इतिहास का एक अङ्ग हैं। ये वंशावलियां बहुत दूर तक के राजाओं के नाम बताती हैं। जिस प्रकार शाखाकार अनेक ऋषियों के नाम पुराणों में सुरक्षित हैं, और वहीं से हमें उनका ज्ञान हुआ है, ठीक उसी प्रकार इन वंशावलियों के त्रुटित होने पर भी प्राचीन राजाओं का ज्ञान इन्हीं से होता है। अतः यह कहना वस्तुतः सत्य है कि भारतीय इतिहास लाखों वर्ष पुराना है। हमारा यह लेख श्रद्धामात्र से नहीं है, प्रत्युत एक गम्भीर गवेषणा के आधार पर लिखा गया है। इस पर विस्तृत विचार पुनः एक पृथक् ग्रन्थ में करेंगे।[2]

---

१ तुलना करो विष्णुपुराण ४।४।११२—

एते इक्ष्वाकुभूपालाः प्राधान्येन मयेरिताः। तथा वा॰रा॰ ३।७४।२७,२८॥

बहुत्वान्नामधेयानां परिसंख्या कुले कुले।
पुनरुक्तिबहुत्वाच्च न मया परिकीर्तिताः ॥

२. यह लेख विक्रम सं॰ १९९१ का है। तत्पश्चात् सं॰ १९९७ में हमारा भारतवर्ष का इतिहास मुद्रित हुआ। उसका दूसरा संस्करण २००३ में निकला। इसके अनन्तर सं॰ २०१० में भारतवर्ष का बृहद् इतिहास भी मुद्रित हो गया।

पञ्चम अध्याय

भारत के आदिम निवासी आर्य लोग

और न कोई आर्यों के पूर्व इस देश में बसते थे। किसी संस्कृत ग्रन्थ में वा इतिहास में नहीं लिखा कि आर्य लोग ईरान से आये और यहां के जंगलियों को लड़ कर जय पाके निकाल के इस देश के राजा हुए।

दयानन्दसरस्वतीकृत सत्यार्थप्रकाश

चतुर्थ अध्याय में हम ने इस बात का दिग्दर्शन करा दिया कि भारतीय इतिहास सहस्रों, **लाखों वर्ष पुराना** है। अब हम संक्षेप में यह बताना चाहते हैं कि यह भारतीय इतिहास आर्यों का ही इतिहास है और आर्य ही यहां के आदिम निवासी हैं।

१—मैगस्थनेज़ का लेख

इस विषय में विक्रम संवत् से तीन चार सौ वर्ष पूर्व के भारतीय विश्वास के आधार पर मैगस्थनेज लिखता है—

It is said that India, is peopled by races both numerous and diverse, of which not even one was originally of foreign descent, but all were evidently indigenous, and moreover that India neither received a colony from abroad, nor sent out a colony to any other nation [1]

अर्थात्—कहा जाता है कि भारत अनगिनत और विभिन्न जातियों से बसाया हुआ है। इन में से एक भी मूल में विदेशीय नहीं थी, प्रत्युत स्पष्ट ही सारी इसी देश की थीं। तथा भारत में बाहर से आकर कोई जातिसंघ नहीं बसे, न ही भारत ने अपने से भिन्न किसी जाति में कोई उपनिवेश बनाया।[१]

हम पहले कई बार लिख चुके हैं, कि विक्रम संवत् सात आठ सौ तक यहां के लोग अपनी परम्परा को भले प्रकार सुरक्षित रखते थे। विक्रम-संवत्

---

१ डायोडोरस, अ० ३८, मेगस्थनेज, पृष्ठ ३४। कम्बोज, जावा आदि की बस्तियां भारत का अङ्ग ही समझी जाती थीं। मूलकल्प में उन का उल्लेख इसी अभिप्राय का द्योतक है।

से पूर्व यह परम्परा और भी अधिक सुरक्षित थी। उस काल में मैगस्थनेज ने ये पंक्तियां लिखीं। अतः इन की सत्यता का आधार विशेष था।

हैरोडोटस आर्यों को भारत का निवासी ही मानता है, और शकों को मध्य एशिया का।

२—मानव-धर्मशास्त्र

वर्तमान स्मृतियों और धर्मसूत्रों में से मानवधर्मशास्त्र सब से पुराना है। मानवधर्मशास्त्र की इस समय यद्यपि भृगु और नारद आदि की संहिताएं मिलती हैं, परन्तु उन्होंने मूल का लोप नहीं किया। भृगु और नारद की संहिताओं में सैकड़ों श्लोकों की समानता इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है। उसी मूल का उन्हों ने सम्पादनमात्र किया है। इस प्रकार हम जानते हैं कि मानव-धर्मशास्त्र वर्तमान ब्राह्मण ग्रन्थों से पुराना है। ब्राह्मण ग्रन्थों का बहुत सा भाग महाभारत-काल का है। वह याज्ञवल्क्य आदि की कृति है। श्लोकबद्ध मानवधर्मशास्त्र उन से भी पहिले विद्यमान था। उस मानवधर्मशास्त्र में **ब्रह्मावर्त, ब्रह्मर्षिदेश, मध्यदेश** और **आर्यावर्त** का लक्षण कहा गया है।[१] कहीं कहीं ब्रह्मावर्त के स्थान में आर्यावर्त पाठ भी है।[२]

मनुस्मृति के लेख से स्पष्ट ज्ञात होता है कि ब्रह्मावर्त आदि देश अत्यन्त प्राचीन और देवताओं तथा ब्रह्मर्षि लोगों के बनाए हुए हैं। तथा उस समय भी संसार में म्लेच्छ देश थे। यदि आर्य लोग विदेश से आकर यहां बसे होते तो भारत के मध्यस्थ देशों को इतना पवित्र और भारत से बाहर के देशों को म्लेच्छदेश और इतना अपवित्र न कहते। मनुस्मृति के अगले श्लोकों से यह पता लगता है कि भारत की पश्चिमोत्तर सीमा के समीप के लोग जो पहले क्षत्रिय थे, परन्तु ब्राह्मण उपदेशकों के वहां न पहुँचने से कालान्तर में शूद्र हो गये।[३] वे जातियां पौण्ड्र, चोड, द्रविड, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद, और खश थीं। इन में से यवन और शक तो निस्सन्देह वर्तमान अफगानिस्तान से परे की जातियां थीं।

---

१ मनु २।१७-२२॥

२. मानवधर्मशास्त्र। अनुवादक गुलज़ार पण्डित, बनारस, सन् १८५८। ३ १०।४३, ४४॥ तथा देखो ऐतरेय ब्राह्मण ७।१८॥

३—प्राचीन इतिहास

आर्यावर्त का सारा प्राचीन इतिहास इस बात में सहमत है कि मनु हमारा एक प्राचीनतम पुरुष और अयोध्या भारत में हमारा पहला नगर है। इस अयोध्या के विषय मे वाल्मीकीय रामायण बालकाण्ड ५।२ में लिखा है—

अयोध्या नाम तत्रासीन्नगरी लोकविश्रुता।
मनुना मानवेन्द्रेण यत्नेन परिनिर्मिता॥

अर्थात्—मनुष्यों के राजा मनु ने जो अयोध्या नगरी बनाई।

इस मनु का इतिहास महाभारत से सहस्रों वर्ष पहले के काल से सम्बन्ध रखता है। जब आर्य लोग उस काल से इस देश में बस रहें हैं, तब यह मानना कि विक्रम से २०००-२५०० वर्षपहले आर्य लोग भारत में आए, एक स्वप्नमात्र है।

भला पश्चिमीय विचारों के मानने वाले आधुनिक अध्यापकों से पूछो कि क्या प्रसेनजित् कोसल, चण्ड प्रद्योत, बिम्बसार आदि के कोई शिलालेख अभी तक मिले हैं या नहीं। यदि नहीं मिले तो पुन आप बौद्ध और जैन साहित्य में उल्लेखमात्र होने से इन का अस्तित्व क्यों मानते हो। यदि सहस्रों गप्पों के होते हुए भी बौद्ध और जैन साहित्य इतना प्रामाणिक है, तो दो चार असम्भव बातों के आ जाने से महाभारत और दूसरे आर्य-ग्रन्थ क्यों प्रमाण नहीं।

बात वस्तुत. यह है कि महाभारत आदि को प्रायः सत्य इतिहास मानने से पश्चिमीय विचार वालों की अनेक निराधार कल्पनाओं का अनायास खण्डन हो जाता है, अतः इन के सत्य मानने में उन्हें पूर्ण संकोच रहता है। बस इसी कारण इन लोगों ने ठेका ले लिया है कि हमारे सारे प्राचीन ऐतिह्य को असत्य सिद्ध किया जाये।

महाभारत का साक्ष्य

हम पहले इसी प्रकरण में लिख चुके हैं कि भारतवर्ष इन्द्र का, वैवस्वत मनु का, इक्ष्वाकु आदि का प्रिय देश था। जब आर्य लोग इन्द्र के काल से यहां रहते थे तो उन्हे बाहर से आया कहना मिथ्यात्व की चरम सीमा है।

४—आधुनिक पश्चिमीय विचार की परीक्षा

आधुनिक पश्चिमीय विचार के अनुसार आर्य लोग ईरान आदि किसी

विदेश से भारत में आए। इस विषय से सम्बन्ध रखने वाला अध्यापक मैकडानल का मत पृ० ९५, ९६ पर उद्धृत किया जा चुका है। तदनुसार भारत में आर्यों का आगमन २५०० पूर्वविक्रम के पश्चात् हुआ होगा। इस विषय में जो प्रमाण-राशि पश्चिम के लेखकों ने एकत्र की है, वह दो भागों में बांटी जा सकती है। वे दो भाग निम्नलिखित हैं—

१—आर्यों के मूल ग्रन्थ वेद में दूसरी भाषाओं के शब्दों का अस्तित्व।

२—भारतीय आर्यों के अस्थि-परिमाण की पश्चिमीय-आर्यों के अस्थि-परिमाण से समानता और आर्येतर भारतीयों से असमानता।

क्या यह प्रमाणराशि सत्य पर आश्रित है, अब इस की परीक्षा की जाती है।

१—वेद में दूसरी भाषाओं के शब्दों का अस्तित्व

आधुनिक पश्चिमीय विचार वाले लोग कहते हैं कि वेदों में अनेक ऐसे शब्द हैं जो संसार की अन्य भाषाओं से लिए गए हैं। तथा कई ऐसे शब्द भी हैं कि जिन के रूप पर गम्भीर ध्यान देने से पता लगता है कि उन का पूर्वरूप कुछ और था। पहले मत का एक उदाहरण परलोकगत पण्डित बालगङ्गाधर तिलक ने उपस्थित किया है।[1] उन का कथन है कि अथर्ववेदान्तर्गत आलिगी, विलिगी, उरुगूल और तावुवं शब्द काल्डियन भाषा के हैं। इन शब्दों का वास्तविक अर्थ भी वहीं पर प्रचलित था। उन्हीं के संसर्ग से ये शब्द वेद में आए। इसी मत के सम्बन्ध में दूसरे लोगों का कहना है कि वेद और जन्द अवेस्ता के कई शब्द समान-रूप के हैं। परन्तु वे दोनों शब्द भाषा-विज्ञान की दृष्टि से पीछे के हैं। उन का पहले कोई और रूप था। और क्योंकि जन्द अवेस्ता की रचना ईरान में की गई तथा वेद की भारत में, अतः इन रचनाओं के काल से पहले भारतीय और ईरानी आर्य किसी ऐसे स्थान में एकत्र रहते थे, जहां जन्द और वेद की भाषा से पूर्व की भाषा अथवा इन दोनों भाषाओं की मातृ-भाषा बोली जाती थी।

---

१. भण्डारकर कमैमोरेशन वॉल्यूम पृ० २१—२४।

३—प्राचीन इतिहास

आर्यावर्त का सारा प्राचीन इतिहास इस बात में सहमत है कि मनु हमारा एक प्राचीनतम पुरुष और अयोध्या भारत मे हमारा पहला नगर है। इस अयोध्या के विषय मे वाल्मीकीय रामायण बालकाण्ड ५।२ मे लिखा है—

अयोध्या नाम तत्रासीन्नगरी लोकविश्रुता।
मनुना मानवेन्द्रेण यत्नेन परिनिर्मिता ॥

अर्थात्—मनुष्यों के राजा मनु ने जो अयोध्या नगरी बनाई।

इस मनु का इतिहास महाभारत से सहस्रों वर्ष पहले के काल से सम्बन्ध रखता है। जब आर्य लोग उस काल से इस देश में बस रहें हैं, तब यह मानना कि विक्रम से २०००-२५०० वर्षपहले आर्य लोग भारत में आए, एक स्वप्नमात्र है।

भला पश्चिमीय विचारों के मानने वाले आधुनिक अध्यापकों से पूछो कि क्या प्रसेनजित् कोसल, चण्ड प्रद्योत, बिम्बसार आदि के कोई शिलालेख अभी तक मिले हैं या नहीं। यदि नहीं मिले तो पुन आप बौद्ध और जैन साहित्य में उल्लेखमात्र होने से इन का अस्तित्व क्यों मानते हो। यदि सहस्रों गप्पों के होते हुए भी बौद्ध और जैन साहित्य इतना प्रामाणिक है, तो दो चार असम्भव बातों के आ जाने से महाभारत और दूसरे आर्य-ग्रन्थ क्यों प्रमाण नहीं।

बात वस्तुत. यह है कि महाभारत आदि को प्रायः सत्य इतिहास मानने से पश्चिमीय विचार वालों की अनेक निराधार कल्पनाओं का अनायास खण्डन हो जाता है, अतः इन के सत्य मानने में उन्हें पूर्ण सकोच रहता है। बस इसी कारण इन लोगों ने ठेका ले लिया है कि हमारे भारे प्राचीन ऐतिह्य को असत्य सिद्ध किया जाये।

महाभारत का साक्ष्य

हम पहले इसी प्रकरण में लिख चुके हैं कि भारतवर्ष इन्द्र का, वैवस्वत मनु का, इक्ष्वाकु आदि का प्रिय देश था। जब आर्य लोग इन्द्र के काल से यहा रहते थे तो उन्हे बाहर से आया कहना मिथ्यात्व की चरम सीमा है।

४—आधुनिक पश्चिमीय विचार की परीक्षा

आधुनिक पश्चिमीय विचार के अनुसार आर्य लोग ईरान आदि किसी

विदेश से भारत में आए। इस विषय से सम्बन्ध रखने वाला अध्यापक रैपसन का मत पृ० ६५, ६६ पर उद्धृत किया जा चुका है। तदनुसार भारत में आर्यों का आगमन २५०० पूर्वविक्रम के पश्चात् हुआ होगा। इस विषय में जो प्रमाण-राशि पश्चिम के लेखकों ने एकत्र की है, वह दो भागों में बांटी जा सकती है। वे दो भाग निम्नलिखित हैं—

१—आर्यों के मूल ग्रन्थ वेद में दूसरी भाषाओं के शब्दों का अस्तित्व।

२—भारतीय आर्यों के अस्थि-परिमाण की पश्चिमीय आर्यों के अस्थि-परिमाण से समानता और आर्येतर भारतीयों से असमानता।

क्या यह प्रमाणराशि सत्य पर आश्रित है, अब इस की परीक्षा की जाती है।

१—वेद में दूसरी भाषाओं के शब्दों का अस्तित्व

आधुनिक पश्चिमीय विचार वाले लोग कहते हैं कि वेदों में अनेक ऐसे शब्द हैं जो संसार की अन्य भाषाओं से लिए गए हैं। तथा कई ऐसे शब्द भी हैं कि जिन के रूप पर गम्भीर ध्यान देने से पता लगता है कि उन का पूर्वरूप कुछ और था। पहले मत का एक उदाहरण परलोकगत पण्डित बालगङ्गाधर तिलक ने उपस्थित किया है।[१] उन का कथन है कि अथर्ववेदान्तर्गत आलिगी, विलिगी, उरुगूल और तावुव शब्द काल्डियन भाषा के हैं। इन शब्दों का वास्तविक अर्थ भी वहीं पर प्रचलित था। उन्हीं के संसर्ग से ये शब्द वेद में आए। इसी मत के सम्बन्ध में दूसरे लोगों का कहना है कि वेद और जन्द अवेस्ता के कई शब्द समान रूप के हैं। परन्तु वे दोनों शब्द भाषा-विज्ञान की दृष्टि से पीछे के हैं। उन का पहले कोई और रूप था। और क्योंकि जन्द अवेस्ता की रचना ईरान में की गई तथा वेद की भारत में, अतः इन रचनाओं के काल से पहले भारतीय और ईरानी आर्य किसी ऐसे स्थान में एकत्र रहते थे, जहां जन्द और वेद की भाषा से पूर्व की भाषा अथवा इन दोनों भाषाओं की मातृ-भाषा बोली जाती थी।

---

१. भण्डारकर कमेमोरेशन वॉल्यूम पृ० २१—२४।

भाषा-मतों पर स्थिर इन दोनों पक्षों की परीक्षा

हम ऐतिहासिक हैं, इतिहास, यथार्थ इतिहास, कल्पना की कोटि से रहित इतिहास हमें प्रमाण है। यदि इतिहास से पूर्वोक्त बातें सिद्ध हो जाएं, तो हम उन्हें सहर्ष स्वीकार कर लेंगे, परन्तु यदि इतिहास इन के विपरीत कहता है, तो हम इन को स्वीकार नहीं करेंगे। आधुनिक भाषा-मत ने जो सामग्री एकत्र कर दी है, हम उस से पूरा लाभ उठाते हैं, परन्तु 'उस सामग्री के आधार पर जो मत स्थिर किये गये हैं, हम उन में से अधिकाश को नहीं मानते।

भाषा-मानियों का सब से बड़ा दोष

आधुनिक भाषामानियों में से अनेक लोगों ने इस मत के पक्षों को अक्षरशः सत्य मान कर इन्हीं के ऊपर प्राचीन इतिहास की अपनी कल्पना खड़ी की है। इस प्रकार वे कोई प्राचीन इतिहास तो नहीं जान सके, हां उन्होंने अपनी कल्पनाओं का भार ससार पर अवश्य डाल दिया है। इस का उदाहरण हमारा अपना इतिहास है। विएटर्निट्ज लिखता है—

The only serious objection against dating the earliest Vedic hymns so far back as 2000 or 2500 B. C. is the close relationship between the language of the old Persian cuneiform inscriptions and the Avesta The date of the Avesta is itself not quite certain But the inscriptions of the Persian kings are dated and are not older than the 6th Century B C Now the two languages, Old Persian and Old High Indian, are so closely related, that it is not difficult to translate the old Persian inscriptions right into the language of the Veda.[1]

अर्थात्—वेद २००० वा २५०० वर्ष पूर्व ईसा का माना तो जा सकता है, परन्तु वेद की भाषा पुराने फारसी शिलालेखों से इतनी मिलती है कि ऐसा मानने में एक बड़ी कठिनाई है। वेद की भाषा से मिलते जुलते वे फारसी शिलालेख छठी शताब्दी पूर्व ईसा के नहीं हैं।

इस लेख के यहां उद्धृत करने का यही प्रयोजन है कि पाश्चात्य विचार वालों ने भाषा-मत के अर्ध-विकसित पक्ष द्वारा पहले एक क्रम अपने मनों में

1—Some Problems of Indian Literature, 1925, p 17

दृढ़ कर लिया है, और पुनः वे उसी के आश्रय पर इतिहास की कल्पना करते हैं। हमारा मत है कि यदि सत्य का अन्वेषण करना है तो अनुसंधान ठीक इस के विपरीत होना चाहिये।

यथार्थ अन्वेषण की रीति

हमारा ध्येय इतिहास के यथार्थ अध्ययन से सफल हो सकता है। आधुनिक भाषा-मत की प्रत्येक बात को परखने के लिए हमें देखना होगा कि उसके द्वारा निकाले गए परिणाम यथार्थ इतिहास से टक्कर खाते हैं, वा नहीं। पारस, यूनान, कालडिया, ऐसीरिया आदि देशों का प्राचीन इतिहास अधिकांश नष्ट हो चुका है। जो बचा है, वह पश्चिमीय ऐनक से देखा गया है। भला आज कौन कह सकता है कि वर्तमान यूनानी भाषा कब से प्रचलित है। अमुक शताब्दी में अपने से पूर्व की भाषा से इस में अमुक अमुक परिवर्तन आए। कौन बता सकता है कि ईरान देश में छठी शताब्दी पूर्व ईसा में प्रचलित फारसी भाषा कब से वहां बोली वा लिखी जाती थी। उन देशों के इतिहासों के प्राचीन वृत्तान्त प्राय नष्ट हो चुके हैं। यह तो भारत ही है कि जहां प्राचीन इतिहास की सामग्री भरपूर सुरक्षित है। भारत के उस इतिहास से हमें पता लगता है कि महाभारत काल (३०५० पूर्व विक्रम के समीप) में भारत में जहां ब्राह्मण ग्रन्थों के अनेक भागों का प्रवचन हो रहा था, वहां ठीक उसी काल में साधारण संस्कृत में अनेक ग्रन्थ रचे जा रहे थे। महाभारत का अधिकांश भाग तब ही रचा गया। अग्निवेश की संहिता का चरक द्वारा प्रति-संस्कार उन्हीं दिनों में हुआ। अनेक शिक्षा ग्रन्थ तभी प्रणीत हुए। आपस्तम्ब, बोधायन आदि के गृह्य और धर्मसूत्र तब ही सूत्रित हुए। यही नहीं, सैकड़ों अन्य ग्रन्थ उसी काल की कृति हैं। यह एक ऐतिहासिक सत्य है और आर्य इतिहास में इस के अकाट्य प्रमाण हैं।

इस के अतिरिक्त हम यह भी जानते हैं, कि साधारण संस्कृत उस काल से भी सहस्रों वर्ष पहले से चली आ रही है। उस संस्कृत का दूसरी भाषाओं से क्या सम्बन्ध है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह अभी विचारा ही नहीं गया।

देखिए **जीन प्रज़ाईलुस्की** लिखता है कि संस्कृत का **बाण** शब्द जो ऋग्वेद ६।७५।१७ में मिलता है, अनार्य भाषाओं से लिया गया है।[1]

1—Pre-Aryan and Pre-Dravidian in India, University of Calcutta, 1929, pp. 19—23

हम पूछते हैं कि उन अनार्य भाषाओं में बाण शब्द के मूल का जो स्वरूप है, वह उन भाषाओं में कब से प्रयुक्त हुआ है ? प्रजाईलुस्की और उसके साथी कहेंगे कि यह हम नहीं बता सकते। हम तो अपने सच्चे 'भाषा-विज्ञान' से यही कह सकते हैं कि वह रूप वेद में आए बाण शब्द से पहले था।

इस पर हमारा कथन यह है कि ऐ नाममात्र के 'भाषा विज्ञान' के मानने वालो तुम्हारा कथन साध्य-सम-हेत्वाभास है। तुम्हारे जिस भाषा-विज्ञान की हम परीक्षा कर रहे हैं, तुम उसे ही प्रमाण-रूप से उद्धृत कर रहे हो। यह भारी अन्याय है, और तुम इसी कारण भारी भ्रान्ति में पड़ गए हो। यदि कहो कि हमारा इतिहास भी अभी सिद्ध नहीं हुआ, तो यह तुम्हारी भूल है। इतिहास, ऐतिह्य, शब्दप्रमाणान्तर्गत है, और प्रमाण का प्रमाण नहीं होता। अत. हम पर आक्षेप नहीं आ सकता। हां, हम इतना मानते हैं कि हमारा इतिहास जहा टूट फूट चुका है, उसे ठीक कर लेना चाहिए। उसके लिए हमारे ग्रन्थों में पर्याप्त सामग्री है। हमारे उस इतिहास से यही निश्चित होता है कि ससार की भिन्न भिन्न आधुनिक जातिया आर्यों के मूल स्थान हिमालय से ही निकली थीं।[१] उन सब की भाषाओं का सस्कृत से गहरा सम्बन्ध है। पाश्चात्यों द्वारा प्रतिपादित आर्य-प्रकृति की ही भाषाओं का नहीं, प्रत्युत अरबी, इब्रानी (**Hebrew**) आदि का भी अत्यन्त प्राचीन काल में सस्कृत से सम्बन्ध था।

हिमालय से हमारे पूर्वज सीधे भारत में आ कर बसे। उन दिनों कोई अन्य यहां न रहता था। उन्हीं आर्यों से आगे जल-वायु के प्रभाव से लाखों वर्षों के व्यतीत होने पर अनेक आधुनिक जातिया उत्पन्न हुईं।

पण्डित बालगङ्गाधर तिलक के लेख की भी यही अवस्था है। कालडियन भाषा की उत्पत्ति से भी सहस्रो वर्ष पूर्व अथर्ववेद विद्यमान था। अत: वेद से ये शब्द कालडियन भाषा में गए हैं, कालडियन भाषा से ये वेद में नहीं आए।

आधुनिक 'भाषा-विज्ञान' के अधूरे नियमों का खण्डन हम पूर्व कर चुके हैं।

---

१ ऐतरेय ब्राह्मण ७।१८ मे भारत सीमा के पार रहने वाले अन्ध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द और मूतिब विश्वामित्र की सन्तान कहे गए हैं।

२—अस्थि-शास्त्र

जातियों का वर्गीकरण करने के लिए अस्थि-शास्त्र का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। जिस प्रकार भाषा-मानियों ने हमारे लिए एक उपादेय सामग्री उपस्थित कर दी है, उसी प्रकार अस्थि शास्त्र वालों ने भी उपयुक्त सामग्री एकत्र की है। परन्तु जिस प्रकार हम अधुनिक भाषा मत के निकाले हुए सारे पक्षों को सत्य नहीं मानते, ठीक वैसे ही हम इस अस्थि-शास्त्र के भी सारे पक्षों को सत्य स्वीकार नहीं करते। पक्ष मनुष्य बुद्धि का फल हैं, और उन में भ्रांति सम्भव है। इतिहास हमें उस भ्रांति के जानने में सहायता करता है।

आर्य लोग सदा से अपने मृतकों को जलाते रहे हैं। हां, जो लोग युद्धों में मारे गए, भूंचाल आदि में दब गए, वा कभी नदी आदि में डूब गए, और उनका शव दलदल में फस कर दब गया, वा कुष्ठ आदि रोगों से मरे, ऐसे लोगों के शव जलाए नहीं जा सके होंगे। पुराने आर्यों के यदि कोई अस्थि पञ्जर मिल सकते हैं, तो वे ऐसे ही शवों के होंगे। पांच सहस्र वा उस से अधिक पुराने मोहेञ्जोदारो नगर में जलाने की ही प्रथा प्रसिद्ध थी।[1] जो दो प्राचीन अस्थि पञ्जर **बयाना** और **स्यालकोट** में से मिले हैं, उनका काल निश्चित नहीं हो सका। परन्तु हैं वे दोनों अत्यधिक पुराने और आधुनिक पञ्जाबी वा आर्य प्रकार के।[2] मोहेञ्जोदारो में अन्य प्रकार के भी पञ्जर मिले हैं। उनके शिर आदिकों को चार प्रकारमें बांटा गया है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि प्राचीन काल के विशुद्ध आर्यदेश **ब्रह्मावर्त्त** और **मध्यदेश** आदि देश ही हैं। इन्हीं देशों के रहने वाले आर्य और विशेष कर ब्राह्मण अपनी मौलिक जातीयता को पवित्र रखते रहे हैं। अन्य देशों के लोग वैसी पवित्रता स्थिर नहीं रख सके। अतः आर्यों के अस्थि-पञ्जरों का यथार्थ अध्ययन करने के लिए हमें ध्यानविशेष से ब्रह्मावर्तादि देशों के प्राचीन ब्राह्मणों के अस्थि-पञ्जर ढूढने पड़ेंगे। यदि ये मिल जाएं, जोकि बहुत असम्भव है, तो फिर विचार आगे बढ़ सकता है।

अस्थि-पञ्जरों में विभिन्नता का कारण

पुष्पों, फलों और पशु पक्षियों के दूर देशस्थ और कुछ कुछ भिन्नता रखने वाले प्रकारों में यदि मेल करने से नए और बड़े पुष्प, फल और

1—Mohenjo Daro and the Indus Civilization, 1931, pp. 79-89
2—Prehistoric India, 1927, pp 378-382.

पशु आदि उत्पन्न किए जा सकते हैं, तो मनुष्यों में भी भिन्न जातियों के मेल से ऐसे मनुष्य उत्पन्न हुए होंगे कि जिन के अस्थि पञ्जर कुछ भिन्न हो गए हों। एक ही जीवित **अमीवा**[1] = प्रथम कीटाणु से सारी प्राणी सृष्टि की उत्पत्ति मानने वाले लोगों को इस बात के मानने में अणुमात्र भी आग्रह नहीं करना चाहिए कि जल-वायु के प्रभाव से सहस्रों वर्षों के अन्तर में लोगों के अस्थि-पञ्जर वैसे भी बदल सकते हैं। यदि यह बात स्वीकार हो जाए, तो इस विषय में अधिक विवाद नहीं रहता।

आर्य लोग पहले हिमालय पर थे। वहां का जल-वायु और प्रकार का था। पुनः वे आर्यावर्त में आ कर बसे। इस बात को लाखों वर्ष हो गए। इतने लम्बे काल में इस आर्यावर्त में ही जल-वायु के अनेक परिवर्तन हुए। उन के प्रभावों से आर्यों में ही अनेक उपजातियां बन गईं। मैगस्थनेज के पूर्वोद्धृत लेख का भी यही अभिप्राय है। अत्यन्त प्राचीन काल में आर्यावर्त के दक्षिण का भाग अफ्रीका आदि से मिला हुआ था। अफ्रीका के जल-वायु के प्रभाव से वहां भी अनेक जातियां हो चुकी थीं। दक्षिण के लोग उन से सम्बन्ध करते रहे और विशुद्ध आर्यों से बहुत भिन्न हो गए। इसी भिन्नता को ध्यान में रख कर आर्य ऋषि उन्हें पुनः कई बार शुद्ध आर्य बनाने का यत्न करते रहे। परन्तु वास्तविक परम शुद्ध आर्य प्रदेश **मध्यदेश** आदि ही रहे। इसी लिए मनुस्मृति में कहा गया है कि इन्हीं देशों के ब्राह्मणों से पृथिवी के सब लोग शिक्षा ग्रहण करें।[2] इन दाक्षिणात्य लोगों के कई समुदाय हैं जो कोल, भील, संथाल आदि के रूप में भारत में अब भी विद्यमान हैं। अनुशासन पर्व के अनुसार कोलिसर्प (कोल?) साक्षात् ब्रह्म-क्षत्र प्रसूत और भयंकर राक्षस देव प्रसूत हैं।

मृतकों को जलाने की प्रथा

पुराने यूनानी अपने मृतकों को कभी कभी जला देते थे।[3] ईसा से २०००-३००० वर्ष पूर्व की भारतीयेतर अन्य जातियां अपने मृतकों को जलाती न थीं। हमें अभी तक ऐसा ही ज्ञात है। **चाइलडे** ने अपने आर्यन नामक ग्रन्थ में जलाने के जो उदाहरण २४००-१८०० पूर्व ईसा के मध्य

१—अथर्ववेद के अनुसार अदृश्य क्रिमि। यही शब्द ग्रीक भाषा से अंग्रेजी में आया है। २—मनु २।२०॥ ३—अलबेरूनी, अध्याय ७२।

योरोप के दिए हैं, वे इस से पहले काल के प्रतीत होते हैं।[1]

भारतीय=आर्य लोग सदा से अपने मृतकों को जलाते रहे हैं। यदि आर्य लोग कहीं बाहर से आ कर भारत में बसे होते, तो वे अपने मृतकों को दबाते ही रहते। यदि कहो, कि उन्होंने भारत में आ कर जलाना सीख लिया होगा, तो यह एक क्लिष्ट कल्पना है। भला कितने विजेता मुसलमानों ने गत १००० वर्ष में और कितने पाश्चात्यों ने गत २५० वर्षों में यहां आ कर अपने मृतकों को जलाना सीखा है। यह एक धार्मिक विश्वास की बात है और बदली नहीं जा सकती। मूल धार्मिक विश्वासों में परिवर्तन के लिए एक बहुत लम्बे काल की आवश्यकता है। इस के विपरीत हम जानते हैं कि लाखों वर्ष पहले हिमालय से ही आर्यों के अनेक समूह संसार में फैले। वे सब अपने मृतकों को जलाते थे। कालान्तर में धर्म परिवर्तन से उन का व्यवहार बदला। परन्तु आर्यावर्त में धर्म की स्थिरता से वह व्यवहार चिरकाल से बना रहा है और आगे बना रहेगा।

वास्तविक याजुष प्रतिज्ञापरिशिष्ट (२८०० पूर्व विक्रम) में लिखा है—

का प्रकृतिर्ब्राह्मणस्य। मध्यदेशः। कतरो मध्यदेशः। प्राग् दशार्णात् प्रत्यक् कांपिल्याद् उदक् पारियात्राद् दक्षिणे हिमवतो गङ्गायमुनयोरन्तरमेके मध्यदेशमित्याचक्षते।

अर्थात्—कौन मूल स्थान है ब्राह्मण का। उत्तर है मध्यदेश। आगे उस मध्यदेश की सीमाएं बताई हैं।

पूर्वोक्त वचन कात्यायन के वास्तविक प्रतिज्ञा ग्रन्थ का है। नासिकक्षेत्र-वासी श्री अण्णाशास्त्री वारे के ग्रन्थ से इस की प्रतिलिपि हम ने स्वयं अपने हाथ से की थी। ग्रन्थ की तथ्यता आदि की विवेचना हम यथास्थान करेंगे। इस लेख से पता चलता है कि ५००० वर्ष पूर्व भी आर्य विद्वानों का यही मत था कि मध्यदेश ब्राह्मणों का मूलस्थान था।

आर्यावर्तस्थ इसी मध्यदेश आदि के मूल निवासी आर्य हैं कि जिन का वेद से घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। उसी वेद और तत्सम्बन्धी वैदिक वाङ्मय का विस्तृत विवरण आगे लिखा जायगा।

———

1 The Aryans by V. G Childe, 1926, p 145

षष्ठ अध्याय

वेद शब्द और उसका अर्थ

स्वरभेद से दो प्रकार का वेद शब्द

स्वर भेद से दो प्रकार का वेद शब्द प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। एक है आद्युदात्त और दूसरा है अन्तोदात्त। आद्युदात्त वेद शब्द प्रथमा के एक वचन[1] में ऋग्वेद में १५ वार प्रयुक्त हुआ है, और तृतीया के एक वचन[2] में एक वार। अन्तोदात्त वेद शब्द ऋग्वेद में नहीं मिलता। यजुर्वेद और अथर्ववेद में अन्तोदात्त[3] वेद शब्द मिलता है।

वेद शब्द के इन्हीं दो प्रकारों का ध्यान करके पाणिनि ने उञ्छादि ६।१।१६० और वृषादि ६।१।२०३ दो गणों में वेद शब्द दो वार पढ़ा है। दयानन्दसरस्वती अपने सौवर ग्रन्थ में उञ्छादि सूत्र की व्याख्या में लिखते हैं—

करण कारक में प्रत्यय किया हो तो घञन्त वेग [वेद। वेष्ट। बन्ध] आदि चार शब्द अन्तोदात्त हों। ...... वेत्ति येन स वेद। ''और भाव वा अधिकरण में प्रत्यय होगा तो आद्युदात्त ही समझे जावेंगे।

वेद शब्द की व्युत्पत्ति

१—संहिता और ब्राह्मण में

काठक, मैत्रायणी और तैत्तिरीय संहिताओं में वेद शब्द की व्युत्पत्ति निम्नलिखित प्रकार से पाई जाती है—

वेदेन वै देवा असुराणां वित्तं वेद्यमविन्दन्त तद्वेदस्य वेदत्वम्।

तै० सं० १।४।२०॥

१—वेदः १।७०।५॥३।५३।१४ इत्यादि।

२—वेदेन = स्वाध्यायेन इति वेङ्कटमाधवः। तथा वेदेन = वेदाध्ययनेन ब्रह्मयज्ञेन इति सायण। ८।१९।५॥

३—वेदः। य० २।२१॥अ० ७।२८।१॥

तैत्तिरीय ब्राह्मण में ऐसा वचन मिलता है—

वेदिर्देवेभ्यो निलायत। तां वेदेनान्वविन्दन्।

वेदेन वेदिं विविदु पृथिवीम्। तै० ब्रा० ३।३।९।६९॥

पूर्वोक्त प्रमाणों में—अन्वविन्दन्। अविन्दन्। अविन्दन्त। और विविदुः—आदि सब प्रयोग पाणिनीय मतानुसार विद्लृ=लाभे से व्युत्पन्न हुए हैं। भट्टभास्कर तै० स० के प्रमाण के अर्थ में लिखता है—

विद्यते=लभ्यते ऽनेनेति करणे घञ्।

उञ्छादित्वादन्तोदात्तम्॥

और तै० ब्रा० के प्रमाण के अर्थ में वह लिखता है—

विविदु=लब्धवन्तः।[1]

२—आथर्वण पिप्पलाद शाखा संबन्धी किसी नवीन उपनिषद् अथवा खिल में

आनन्दतीर्थ ने अपने विष्णुतत्त्वनिर्णय में वेद शब्द की व्युत्पत्ति दिखाने वाला एक प्रमाण दिया है—

नेन्द्रियाणि नानुमानं वेदा ह्येवैनं वेदयन्ति।

तस्मादाहुर्वेदा इति पिप्पलादश्रुतिः॥[2]

३—आयुर्वेद के ग्रन्थों में

क—सुश्रुत संहिता में लिखा है—

आयुरस्मिन् विद्यते ऽनेन वा आयुर्विन्दतीत्यायुर्वेद।

सूत्रस्थान १।१४॥

इस वचन की व्याख्या में डल्हण लिखता है—

आयुर् अस्मिन्नायुर्वेदे विद्यते=अस्ति''' विद्यते=ज्ञायतेऽनेन''' विद्यते=विचार्यतेऽनेन वा ' '' आयुरनेन विन्दति=प्राप्नोति इति वा आयुर्वेद।

सुश्रुत के वचन से प्रतीत होता है, कि सुश्रुतकार करण और अधिकरण दोनों अर्थों में प्रत्यय हुआ मानता है। और उस का टीकाकार

---

१ तै० स० ३।३।४।७ के भाष्य में भट्टभास्कर लिखता है—

पुरुषार्थानां वेदयिता वेद उच्यते।

२. प्रथम परिच्छेद का आरम्भ।

डल्हण समझता है कि विद्=सत्तायाम् । विद्=ज्ञाने । विद्=विचारणे। और विद्लृ=लाभे इन सभी धातुओं से सुश्रुतकार को वेद शब्द की सिद्धि अभिप्रेत थी ।

ख—चरक संहिता में लिखता है—

तत्रायुर्वेदयतीत्यायुर्वेद । सूत्रस्थान ३०।२०॥

चरक का टीकाकार चक्रपाणि इस पर लिखता है—

वेदयति=बोधयति।

अर्थात्—विद्=ज्ञाने से कर्त्ता में प्रत्यय मान कर वेद शब्द बना है।

४—नाट्य वेद में

नाट्यशास्त्र १।१ की विवृत्ति में अभिनवगुप्त लिखता है—

नाट्यस्य वेदन सत्ता लाभो विचारश्च यत्र तन्नाट्यवेद-शब्देन ' ' उच्यते ।

इस से प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त भाव में भी प्रत्यय मानता है । और सत्ता, लाभ तथा विचार अर्थ वाले विद् धातु से वेद शब्द की सिद्धि करता है ।

५—कोष और उन की टीकाओं म

क—अमरकोष १।५।३ की टीका में क्षीरस्वामी लिखता है—

विदन्त्यनेन धर्मं वेदः ।

और सर्वानन्द लिखता है—

विदन्ति धर्मादिकमनेनेति वेदः ।

ख—जैनाचार्य हेमचन्द्र अपनी अभिधानचिन्तामणि पृ० १०६ पर लिखता है—

विन्दत्यनेन धर्मं वेदः ।

इन लेखों से विदित होता है कि क्षीरस्वामी, सर्वानन्द और हेमचन्द्र प्रत्यय तो करण में ही मानते हैं, पर पहले दोनों विद्वान् वेद शब्द की व्युत्पत्ति ज्ञान अर्थ वाले विद् धातु से मानते हैं और तीसरा विद्लृ धातु से मानता है ।

६—मानवधर्मशास्त्र-भाष्य में

मानवधर्मशास्त्र २।६ के भाष्य में मेधातिथि लिखता है—

व्युत्पाद्यते च वेदशब्दः। विदन्त्यनन्यप्रमाणवेद्यं धर्मलक्षणमर्थमस्मादिति वेदः। तच्च वेदनमेकैकस्माद्वाक्याद् भवति।

७—आपस्तम्बपरिभाषा-भाष्य में

आप० सूत्र १।३३ के भाष्य में कपर्दी स्वामी लिखता है—

नि श्रेयसकराणि कर्माण्यावेदयन्ति वेदाः।

और सूत्र १।३ की वृत्ति में हरदत्त लिखता है—

वेदयतीति वेदः।

८—ऋग्वेदादि-भाष्य भूमिका में

दयानन्दसरस्वती स्वामी ने अपनी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखा है—

विदन्ति जानन्ति विद्यन्ते भवन्ति, विन्दन्ति अथवा विन्दन्ते लभन्ते, विन्दन्ति विचारयन्ति, सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्या यैर्येषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः।

इस प्रकार विदित होता है कि काठकादि संहिताओं के काल से लेकर वर्तमानकाल तक १—विद्=ज्ञाने, २—विद्—सत्तायाम्, ३—विद्लृ=लाभे, ४—विद् विचारणे, इन चार धातुओं में से किसी एक वा चारों से करण अथवा अधिकरण में प्रत्यय हुआ मान कर विद्वान् वेद शब्द को सिद्ध करते आए हैं। तथा कई ग्रन्थकार भाव में प्रत्यय मान कर भी वेद शब्द को सिद्ध करते हैं।

स्वामी हरिप्रसाद अपने वेदसर्वस्व के उपोद्घात में अधिकरण अर्थ में प्रत्यय मानना और सत्ता, लाभ तथा विचार अर्थ वाले विद् धातु से व्युत्पत्ति मानना असम्भव वा निरर्थक समझते हैं। पूर्वोक्त प्रमाण समूह से यह पक्ष युक्तिशून्य प्रतीत होता है।

जिस वेद शब्द की व्युत्पत्ति का प्रकार पूर्व कहा गया है, वह वेद शब्द वेद-संहिताओं के लिए प्रयुक्त हुआ है। कहीं कहीं भाष्यकारों ने उस से दर्भमुष्टि आदि अर्थ का भी ग्रहण किया है। परन्तु इस अर्थ वाले वेद शब्द से हमें यहां प्रयोजन नहीं।

वेद-संहिता अर्थ वाले वेद शब्द को व भाष्यकार अन्तोदात्त समझते हैं। वेद शब्द से हमारा अभिप्राय यहां मन्त्र-संहिताओं से है। अनेक विद्वान्

मन्त्र ब्राह्मण दोनों को ही वेद मानते हैं। उन की परम्परा भी पर्याप्त पुरानी है। उन के मत की विस्तृत आलोचना इस ग्रन्थ के ब्राह्मण भाग में करेंगे। हिरण्यकेशीय श्रौत सूत्र २७।१।१४४ तथा आपस्तम्ब धर्मसूत्र २।४।८।१२ में लिखा है—

शब्दार्थमारम्भणानां तु कर्मणां समाम्नायसमाप्तौ वेदशब्दः।

अर्थात्—प्रत्यक्ष आदि से न सिद्ध होने वाले, परन्तु शब्द प्रमाण से विहित कर्मों के अर्थात् उपदेश की समाप्ति जितने ग्रन्थों पर होती है उन के लिए वेद शब्द प्रयुक्त होता है।

इस का अभिप्राय वैजयन्तिकार महादेव यह लिखता है कि मन्त्र, ब्राह्मण और कल्प सब ही वेद शब्द से अभिप्रेत हैं। यह लक्षण बहुत व्यापक और औपचारिक है। अस्तु, यहां हम ने सामान्य रूप से वेद शब्द की सिद्धि का प्रकार दिखा दिया है। वेद शब्द की जैसी सिद्धि और जो अर्थ स्वामी दयानन्दसरस्वती ने बताया है, उस में सारा अभिप्राय आ जाता है।

———

सप्तम अध्याय

क्या पहले वेद एक था और द्वापरान्त में वेदव्यास ने उस के चार विभाग किए

आर्यावर्तीय मध्य-कालीन अनेक विद्वान् लोग ऐसा मानते थे कि आदि में वेद एक था। द्वापर तक वह वैसा ही चला आया और द्वापर के अन्त में व्यास भगवान् ने उसके चार अर्थात् ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, और अथर्ववेद, विभाग किए।

पूर्व पक्ष

देखिए मध्य-कालीन ग्रन्थकार क्या लिखते हैं—

१—महीधर अपने यजुर्वेद-भाष्य के आरम्भ में लिखता है—

तत्रादौ ब्रह्मपरम्परया प्राप्तं वेदं वेदव्यासो मन्दमतीन् मनुष्यान् विचिन्त्य तत्कृपया चतुर्धा व्यस्य ऋग्यजुःसामाथर्वाख्यांश्चतुरो वेदान् पैलवैशम्पायनजैमिनिसुमन्तुभ्यः क्रमादुपदिदेश।

अर्थात्—वेदव्यास को ब्रह्मा की परम्परा से वेद मिला और उसने उस के चार विभाग किए।

२—महीधर का पूर्ववर्ती भट्टभास्कर अपने तैत्तिरीय संहिता-भाष्य के आरम्भ में लिखता है—

पूर्वं भगवता व्यासेन जगदुपकारार्थमेकीभूयस्थिता वेदा व्यस्ताः शाखाश्च परिच्छिन्ना।

अर्थात्—भगवान् व्यास ने एकत्र स्थित वेदों का विभाग कर के शाखाएं नियत कीं।

३—भट्टभास्कर से भी बहुत पहले होने वाला आचार्य दुर्ग निरुक्त १।२० की वृत्ति में लिखता है—

वेदं तावदेकं सन्तमतिमहत्त्वाद् दुरध्येयमनेकशाखाभेदेन समाम्नासिषुः। सुखग्रहणाय व्यासेन समाम्नातवन्तः।

अर्थात्—वेद पहले एक था, पीछे व्यास रूप में उस की अनेक शाखाएं समाम्नात हुईं।

इस मत का स्वल्प मूल पुराणों में मिलता है। विष्णु पुराण में लिखा है—

> जातुकर्णो ऽभवन्मत्त. कृष्णद्वैपायनस्ततः।
> अष्टाविंशतिरित्येते वेदव्यासा पुरातनाः ॥
> एको वेदश्चतुर्धा तु यैः कृतो द्वापरादिषु।
>
> विष्णु पु० ३।३।१६, २०॥

> वेदश्चैकश्चतुर्धा तु व्यस्यते द्वापरादिषु।
>
> मत्स्य पु० १४४।११॥

अर्थात्—प्रत्येक द्वापर के अन्त में एक ही चतुष्पाद् वेद चार भागों में विभक्त किया जाता है। यह विभागीकरण अब तक २८ बार हो चुका है। जो कोई उस विभाग को करता है उसका नाम व्यास होता है।

उत्तर पक्ष

दयानन्द सरस्वती स्वामी इस मत का खण्डन करते हैं। सत्यार्थप्रकाश समुल्लास एकादश में लिखा है—

" जो कोई यह कहते हैं कि वेदों को व्यास जी ने इकट्ठे किये, यह बात झूठी है। क्योंकि व्यास के पिता, पितामह, [प्रपितामह] पराशर, शक्ति वसिष्ठ और ब्रह्मा आदि ने भी चारों वेद पढ़े थे।

इन दोनों पक्षों में से कौन सा पक्ष प्राचीन और सत्य है, यह अगली विवेचना से स्पष्ट हो जायगा।

मन्त्रों में अनेक वेदों का उल्लेख

१—समस्त वैदिक इस बात पर सहमत हैं कि मन्त्र अनादि हैं। मन्त्रों में दी गई शिक्षा सर्वकालों के लिए है। अत. यदि मन्त्रों में बहुवचनान्त **वेदा·** पद आ जाए तो निश्चय जानना चाहिए कि आदि से ही वेद बहुत चले आये हैं। अब देखिये अगला मन्त्र क्या कहता है—

यस्मिन् वेदा निहिता विश्वरूपाः। अथर्व० ४।३५।६॥

अर्थात्—जिस परब्रह्म में समस्त विद्याओं के भण्डार वेद स्थिर हैं।

२—पुनः—

ब्रह्म प्रजापतिर्धाता लोका वेदाः सप्त ऋषयोऽग्नय· ।

तैर्मे कृत स्वस्त्ययनमिन्द्रो मे शर्म यच्छतु ॥

अथर्व० १६।६।१२॥

यहा भी वेदा बहुवचनान्त पद आया है। इस मन्त्र पर भाष्य करते हुए आचार्य सायण लिखता है—

वेदा साङ्गाश्चत्वारः।

अर्थात्—इस मन्त्र में बहुवचनान्त वेद पद से चारों वेदों का अभिप्राय है।

३—पुनरपि तैत्तिरीय सहिता में एक मन्त्र आया है—

वेदेभ्य. स्वाहा ॥७।५।११।२॥

४—यही पूर्वोक्त मन्त्र काठकसहिता ५।२ में भी मिलता है।

इन प्रमाणों से ज्ञात होता है कि प्राचीनतम काल से वेद अनेक चले आए हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों का मत

इस विषय में ब्राह्मणों की भी यही सम्मति है। इतना ही नहीं, उन में तो यह भी लिखा है कि चारों वेद आदि से ही चले आ रहे हैं। माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण काण्ड ११ के स्वाध्याय-प्रशसा ब्राह्मण के आगे आदि से ही अनेक वेदों का होना लिखा है। ऐसा ही ऐतरेयादि दूसरे ब्राह्मणों में भी लिखा है।

१—कठब्राह्मण मे लिखा है—

चत्वारि शृङ्गा इति वेदा वा एतदुक्ता.।[१]

अर्थात्—चत्वारि शृङ्गा. प्रतीक वाले प्रसिद्ध मन्त्र में चारों वेदों का कथन मिलता है।

पुन.—

२—काठक शताध्ययन ब्राह्मण के आरम्भ के ब्रह्मौदन प्रकरण में अथर्ववेद की प्रधानता का वर्णन करते हुए चार ही वेदों का उल्लेख किया है—

.... आथर्वणो वै ब्रह्मण. समानः.... चत्वारो हीमे वेदास्तानेव भागिनः करोति, मूलं वै ब्रह्मणो वेदा, वेदानामेतन्मूलं, यदृत्विजः प्राश्नन्ति तद् ब्रह्मौदनस्य ब्रह्मौदनत्वम्।

१ वै० वा० का इतिहास द्वितीय भा० पृ० २६६। पुराना सस्करण।

अर्थात्—चार ही वेद हैं। अथर्व उन में प्रथम है, इत्यादि।

३—गोपथ ब्राह्मण पूर्वभाग १।१६ में लिखा है—

ब्रह्म ह वै ब्रह्माण पुष्करे ससृजे। स ' सर्वांश्च वेदान् ...।

अर्थात्—परमात्मा ने ब्रह्मा को पृथिवी-कमल पर उत्पन्न किया। उसे चिन्ता हुई। किस एक अक्षर से मैं सारे वेदों को अनुभव करूं।

उपनिषदों का मत

उपनिषदों के उन अंशों को छोड़ कर कि जिन में अलङ्कार, गाथाएं या ऐतिहासिक कथाएं आती हैं, शेष अंश जो मन्त्रमय हैं, निर्विवाद ही प्राचीनतमकाल के हैं। श्वेताश्वतरों की उपनिषद् मन्त्रोपनिषद् कही जाती है। उसका एक मन्त्र विद्वन्मण्डल में बहुत काल से प्रसिद्ध चला आता है। उस से न केवल व्यास से पूर्व ही वेदों का एक से अधिक होना निश्चित होता है, प्रत्युत सर्गारम्भ में ही वेद एक से अधिक थे, ऐसा सुनिर्णीत हो जाता है। वह सुप्रसिद्ध मन्त्र यह है—

यो ब्रह्माण विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।

इत्यादि ६।१८॥

अर्थात्—जो ब्रह्मा को आदि में उत्पन्न करता ,है और उसके लिए वेदों को दिलवाता है।

हमारे पक्ष में यह प्रमाण इतना प्रबल है कि इस के अर्थों पर सब ओर से विचार करना आवश्यक है।

(क) शङ्कराचार्य का अर्थ

वेदान्त सूत्र भाष्य १।३।३० तथा १।४।१ पर स्वामी शङ्कराचार्य लिखते हैं—

ईश्वराणां हिरण्यगर्भादीनां वर्तमानकल्पादौ प्रादुर्भवतां परमेश्वरानुगृहीतानां सुप्तप्रबुद्धवत् कल्पान्तरव्यवहारानुसंधानोपपत्तिः। तथा च श्रुतिः—यो ब्रह्माण इति।

शङ्कर स्वामी ब्रह्मा से हिरण्यगर्भ अभि`त मानते हैं। यही उनका ईश्वर है। वह मनुष्यों से ऊपर है। उस देव ब्रह्मा को कल्प के आरम्भ में परमेश्वर की कृपा से अपनी बुद्धि में वेद प्रकाशित हो जाते हैं।

वाचस्पति-मिश्र 'ईश्वर' का अर्थ **धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यातिशयसंपन्न** करता है।

वैदिक देवतावाद में ऐसे स्थानों पर 'देव' का अर्थ विद्वान् मनुष्य भी होता है। अत पहले सर्वत्र अधिष्ठातृ-देवता का विचार करना, पुन. वैदिक ग्रन्थों की तदनुसार सगति लगाना क्लिष्टकल्पना मात्र है। अत अलमनया क्लिष्टकल्पनया।

ब्रह्मा आदि सृष्टि का विद्वान् मनुष्य है, इस अर्थ में मुण्डकोपनिषद् का प्रथम मन्त्र भी प्रमाण है—

ब्रह्मा देवानां प्रथम· सम्बभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥

यहा पर भी शङ्कर वा उस के चरण-चिन्हों पर चलने वाले लोग **देवानां** पद के आ जाने से ब्रह्मा को मनुष्येतर मानते हैं। पर आगे 'ज्येष्ठपुत्राय' पद जो पढा गया है, वह उन के लिए आपत्ति का कारण बनता है। क्योंकि अधिष्ठाता ब्रह्मा के पुत्र ही नहीं हैं, तो उन में से कोई ज्येष्ठ कैसे होगा ?[1] इस लिए पूर्व प्रमाण में ब्रह्मा को मनुष्येतर मानना युक्तियुक्त नहीं। इसी ब्रह्मा को आदि सृष्टि में अग्नि आदि से चार वेद मिले।

(ख) श्रीगोविन्द की व्याख्या

वेदान्त सूत्र १।३।३० के शाङ्करभाष्य की व्याख्या करते हुए श्रीगोविन्द लिखता है—

पूर्वं कल्पादौ सृजति तस्मै ब्रह्मणे प्रहिणोति=गमयति=तस्य बुद्धौ वेदानाविर्भावयति।

यहा भी चाहे उस का अभिप्राय अधिष्ठातृदेवता से ही हो, पर वह भी वेदों का आरम्भ म ही अनेक होना मानता है।

(ग) आनन्दगिरीय व्याख्या

इस सूत्र के भाष्य पर आनन्दगिरि लिखता है—

विपूर्वो दधातिः करोत्यर्थः। पूर्वं कल्पादौ प्रहिणोति ददाति।

आनन्दगिरि भी ब्रह्मा को ही वेदों का मिलना मानता है।

दूसरे स्थल पर जो शङ्करादिकों ने यह प्रमाण उद्धृत किया है, वहां पर भी हमारे प्रदर्शित अभिप्राय से उस का कोई विरोध नहीं पड़ता। यही

---

१ यद्यपि जड पदार्थों में भी कारणकार्य भाव से पुत्र आदि शब्द का प्रयोग देखा जाता है, परन्तु यहा अथर्वा जडपदार्थ नहीं है।

अर्थात्—चार ही वेद हैं। अथर्व उन में प्रथम है, इत्यादि।

३—गोपथ ब्राह्मण पूर्वभाग १।१६ में लिखा है—

ब्रह्म ह वै ब्रह्माण पुष्करे ससृजे। स सर्वांश्च वेदान् ...।

अर्थात्—परमात्मा ने ब्रह्मा को पृथिवी-कमल पर उत्पन्न किया। उसे चिन्ता हुई। किस एक अक्षर मे मैं सारे वेदों को अनुभव करूं।

उपनिषदों का मत

उपनिषदों के उन अंशों को छोड़ कर कि जिन में अलङ्कार, गाथाएं या ऐतिहासिक कथाएं आती हैं, शेष अंश जो मन्त्रमय हैं, निर्विवाद ही प्राचीनतमकाल के हैं। श्वेताश्वतरों की उपनिषद् मन्त्रोपनिषद् कही जाती है। उसका एक मन्त्र विद्वन्मण्डल में बहुत काल से प्रसिद्ध चला आता है। उस से न केवल व्यास से पूर्व ही वेदो का एक से अधिक होना निश्चित होता है, प्रत्युत सर्गारम्भ मे ही वेद एक से अधिक थे, ऐसा सुनिर्णीत हो जाता है। वह सुप्रसिद्ध मन्त्र यह है—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।

इत्यादि ६।१८॥

अर्थात्—जो ब्रह्मा को आदि में उत्पन्न करता है और उसके लिए वेदों को दिलवाता है।

हमारे पक्ष में यह प्रमाण इतना प्रबल है कि इस के अर्थों पर सब ओर से विचार करना आवश्यक है।

(क) शङ्कराचार्य का अर्थ

वेदान्त सूत्र भाष्य १।३।३० तथा १।४।१ पर स्वामी शङ्कराचार्य लिखते हैं—

ईश्वराणां हिरण्यगर्भादीनां वर्तमानकल्पादौ प्रादुर्भवतां परमेश्वरानुगृहीतानां सुप्तप्रबुद्धवत् कल्पान्तरव्यवहारानुसंधानोपपत्तिः। तथा च श्रुतिः—यो ब्रह्माणं इति।

शङ्कर स्वामी ब्रह्मा से हिरण्यगर्भ अभिप्रेत मानते हैं। यही उनका ईश्वर है। वह मनुष्यों से ऊपर है। उस देव ब्रह्मा को कल्प के आरम्भ में परमेश्वर की कृपा से अपनी बुद्धि में वेद प्रकाशित हो जाते हैं।

वाचस्पति-मिश्र 'ईश्वर' का अर्थ **धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यातिशयसंपन्न** करता है।

वैदिक देवतावाद में ऐसे स्थानों पर 'देव' का अर्थ विद्वान् मनुष्य भी होता है। अतः पहले सर्वत्र अधिष्ठातृ-देवता का विचार करना, पुनः वैदिक ग्रन्थों की तदनुसार संगति लगाना क्लिष्टकल्पना मात्र है। अतः अलमनया क्लिष्टकल्पनया।

ब्रह्मा आदि सृष्टि का विद्वान् मनुष्य है, इस अर्थ में मुण्डकोपनिषद् का प्रथम मन्त्र भी प्रमाण है—

ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह॥

यहां पर भी शङ्कर वा उस के चरण-चिन्हों पर चलने वाले लोग **देवानां** पद के आ जाने से ब्रह्मा को मनुष्येतर मानते हैं। पर आगे 'ज्येष्ठपुत्राय' पद जो पढ़ा गया है, वह उन के लिए आपत्ति का कारण बनता है। क्योंकि अधिष्ठाता ब्रह्मा के पुत्र ही नहीं हैं, तो उन में से कोई ज्येष्ठ कैसे होगा?[1] इस लिए पूर्व प्रमाण में ब्रह्मा को मनुष्येतर मानना युक्तियुक्त नहीं। इसी ब्रह्मा को आदि सृष्टि में अग्नि आदि से चार वेद मिले।

(ख) श्रीगोविन्द की व्याख्या

वेदान्त सूत्र १।३।३० के शाङ्करभाष्य की व्याख्या करते हुए श्रीगोविन्द लिखता है—

पूर्वं कल्पादौ सृजति तस्मै ब्रह्मणे प्रहिणोति=गमयति=तस्य बुद्धौ वेदानाविर्भावयति।

यहां भी चाहे उस का अभिप्राय अधिष्ठातृदेवता से ही हो, पर वह भी वेदों का आरम्भ में ही अनेक होना मानता है।

(ग) आनन्दगिरीय व्याख्या

इस सूत्र के भाष्य पर आनन्दगिरि लिखता है—

विपूर्वो दधातिः करोत्यर्थः। पूर्वं कल्पादौ प्रहिणोति ददाति।

आनन्दगिरि भी ब्रह्मा को ही वेदों का मिलना मानता है।

दूसरे स्थल पर जो शङ्करादिकों ने यह प्रमाण उद्धृत किया है, वहां पर भी हमारे प्रदर्शित अभिप्राय से उस का कोई विरोध नहीं पड़ता। यही

---

१ यद्यपि जड़ पदार्थों में भी कारणकार्य भाव से पुत्र आदि शब्द का प्रयोग देखा जाता है, परन्तु यहां अथर्वा जड़पदार्थ नहीं है।

अर्थात्—चार ही वेद हैं। अथर्व उन में प्रथम है, इत्यादि।

३—गोपथ ब्राह्मण पूर्वभाग १।१६ में लिखा है—

ब्रह्म ह वै ब्रह्माणं पुष्करे ससृजे। स ' सर्वांश्च वेदान् ...।

अर्थात्—परमात्मा ने ब्रह्मा को पृथिवी-कमल पर उत्पन्न किया। उसे चिन्ता हुई। किस एक अक्षर से मैं सारे वेदों को अनुभव करूं।

उपनिषदों का मत

उपनिषदों के उन अंशों को छोड़ कर कि जिन में अलङ्कार, गाथाएं या ऐतिहासिक कथाएं आती हैं, शेष अंश जो मन्त्रमय हैं, निर्विवाद ही प्राचीनतमकाल के हैं। श्वेताश्वतरों की उपनिषद् मन्त्रोपनिषद् कही जाती है। उसका एक मन्त्र विद्वन्मण्डल में बहुत काल से प्रसिद्ध चला आता है। उस से न केवल व्यास से पूर्व ही वेदों का एक से अधिक होना निश्चित होता है, प्रत्युत सर्गारम्भ मे ही वेद एक से अधिक थे, ऐसा सुनिर्णीत हो जाता है। वह सुप्रसिद्ध मन्त्र यह है—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।

इत्यादि ६।१८॥

अर्थात्—जो ब्रह्मा को आदि में उत्पन्न करता है और उसके लिए वेदों को दिलवाता है।

हमारे पक्ष में यह प्रमाण इतना प्रबल है कि इस के अर्थों पर सब ओर से विचार करना आवश्यक है।

(क) शङ्कराचार्य का अर्थ

वेदान्त सूत्र भाष्य १।३।३० तथा १।४।१ पर स्वामी शङ्कराचार्य लिखते हैं—

ईश्वराणां हिरण्यगर्भादीनां वर्तमानकल्पादौ प्रादुर्भवतां परमेश्वरानुगृहीतानां सुप्तप्रबुद्धवत् कल्पान्तरव्यवहारानुसंधानोपपत्तिः। तथा च श्रुतिः—यो ब्रह्माणं इति।

शङ्कर स्वामी ब्रह्मा से हिरण्यगर्भ अभि[illegible]त मानते हैं। यही उनका ईश्वर है। वह मनुष्यों से ऊपर है। उस देव ब्रह्मा को कल्प के आरम्भ में परमेश्वर की कृपा से अपनी बुद्धि में वेद प्रकाशित हो जाते हैं।

वाचस्पति-मिश्र 'ईश्वर' का अर्थ **धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यातिशयसंपन्न** करता है।

आधुनिक सभ्यता वालों को भला प्रतीत नहीं होता, परन्तु इन कारणों से सकल इतिहास पर अविश्वास करना आग्रहमात्र है।

कृष्णद्वैपायन वेदव्यास एक ऐतिहासिक व्यक्ति था। उसी के शिष्य प्रशिष्यों ने ब्राह्मणादि ग्रन्थों का सङ्कलन किया। उसी ने महाभारत रचा। उसी के पिता पितामह पराशर, शक्ति आदि हुए हैं। वह आर्यज्ञान का अद्वितीय पण्डित था। उस को कल्पित कहना इन विदेशीय विद्वानों की ही धृष्टता है।[1] ऐसा दुराग्रह संसार की हानि करता है, और जनसाधारण को भ्रम में डालता है।

हम अगले प्रमाण महाभारत से ही देंगे। हमारी दृष्टि में यह ग्रन्थ वैसा ही प्रामाणिक है, जैसा संसार के अन्य ऐतिहासिक ग्रन्थ। नहीं, नहीं, यह तो उन से भी अधिक प्रामाणिक है। यह इतिहास ऋषिप्रणीत है। हां, इस के थोड़े से साम्प्रदायिक भाग नवीन हैं।

क—महाभारत शल्यपर्व अध्याय ४१ में कृतयुग की एक वार्ता सुनाते

---

1 a—In other words, there was no one author of the great epic, though with a not uncommon confusion of editor with author, an author was recognized, called Vyasa Modern scholarship calls him The Unknown, Vyasa for convenience

W Hopkins, The Great Epic of India, p, 58

but this Vyasa is a very shadowy person Infact his name probably covers a guild of revisors and retellers of the tale.

W Hopkins, India Old and New, p 69

b—Badarayana is very loosely identified with the legendry person named Vyasa

Monior Williams, Indian Wisdom, p 111, footnote 2

c—Tradition invented as the name of its author the designation Vyasa (arranger).

A A Macdonell, India's Past p 88.

To Ramanuja the legerdry Vyasa was the seer

A A Macdonell, India's Past p 149.

d—Vyasa Parasarya is the name of a mythical sage.

A A Macdonell & A, B Keith, Vedic Index p 339.

इसी विषय में योरोपीय लेखकों का अधिक प्रलाप हमारे 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' प्रथम भाग, पृष्ठ २८४ पर देखिए।

आदि ब्रह्मा था, जिसे महाभारत में धर्म, अर्थ और कामशास्त्र के वृहत् त्रिवर्ग शास्त्र का उपदेष्टा कहा गया है।[1]

चार वेद के जानने से ब्रह्मा होता है। ऐसे ब्रह्मा आदिसृष्टि से अनेक होते आए हैं। व्यास जी के प्रपितामह का पिता भी ब्रह्मा ही था। इन सब में से पहला अथवा आदिसृष्टि का ब्रह्मा मुण्डकोपनिषद् के प्रथम मन्त्र में कहा गया है। उसी उपनिषद् में उस का वंश ऐसा लिखा है—

ब्रह्मा
अथर्वा
अङ्गिर
भारद्वाज सत्यवाह
अङ्गिरस्
शौनक

यह शौनक, बृहद्देवता आदि के कर्ता, आश्वलायन के गुरु शौनक से बहुत पूर्व का होगा। अत कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास से भी बहुत पहले का है। इसी शौनक को उपदेश देते हुए भगवान् अङ्गिरस् कह रहे हैं—

ऋग्वेदो यजुर्वेद. सामवेदोऽथर्ववेदः।

जब इतने प्राचीन काल में चारों वेद विद्यमान थे, तो यह कहना कि प्रत्येक द्वापरान्त में कोई व्यास एक वेद का चार वेदों में विभाग करता है, अथवा मन्त्रों को इकट्ठा कर के चार वेद बनाता है, युक्त नहीं।

प्राचीन इतिहास में

पूर्व दिए गए प्रमाण इतिहासेतर ग्रन्थों के हैं। इतिहास इस विषय में क्या कहता है, अब यह देखना है। हमारा प्राचीन इतिहास रामायण,महाभारत आदि ग्रन्थों में मिलता है। इन से भी प्राचीनकाल के अनेक उपाख्यान अब इन्हीं ग्रन्थों में सम्मिलित हैं। हमारे इन इतिहासों को प्रमाण कोटि से गिराने का अनेक पक्षपाती विदेशीय विद्वानों ने यत्न किया है। कतिपय भारतीय विद्वान् भी उन्हीं का अनुकरण करते हुए देखे जाते हैं। माना, कि इन ग्रन्थों में कुछ प्रक्षेप हुआ है, कुछ भाग निकल गया है, कुछ असगत है और कुछ

---

१ देखो मेरा बार्हस्पत्य सूत्र पृ० १६।

आधुनिक सभ्यता वालों को भला प्रतीत नहीं होता, परन्तु इन कारणों से सकल इतिहास पर अविश्वास करना आग्रहमात्र है।

कृष्णद्वैपायन वेदव्यास एक ऐतिहासिक व्यक्ति था। उसी के शिष्य प्रशिष्यों ने ब्राह्मणादि ग्रन्थों का सङ्कलन किया। उसी ने महाभारत रचा। उसी के पिता पितामह पराशर, शक्ति आदि हुए हैं। वह आर्यज्ञान का अद्वितीय पण्डित था। उस को कल्पित कहना इन विदेशीय विद्वानों की ही धृष्टता है।[1] ऐसा दुराग्रह संसार की हानि करता है, और जनसाधारण को भ्रम में डालता है।

हम अगले प्रमाण महाभारत से ही देंगे। हमारी दृष्टि में यह ग्रन्थ वैसा ही प्रामाणिक है, जैसा संसार के अन्य ऐतिहासिक ग्रन्थ। नहीं, नहीं, यह तो उन से भी अधिक प्रामाणिक है। यह इतिहास ऋषिप्रणीत है। हां, इस के थोड़े से साम्प्रदायिक भाग नवीन हैं।

क—महाभारत शल्यपर्व अध्याय ४१ में कृतयुग की एक वार्ता सुनाते

---

1 a—In other words, there was no one author of the great epic, though with a not uncommon confusion of editor with author, an author was recognized, called Vyasa Modern scholarship calls him The Unknown, Vyasa for convenience

W Hopkins, The Great Epic of India, p, 58

but this Vyasa is a very shadowy person Infact his name probably covers a guild of revisors and retellers of the tale.

W Hopkins, India Old and New, p 69

b—Badarayana is very loosely identified with the legendry person named Vyasa

Monior Williams, Indian Wisdom, p. 111, footnote 2.

c—Tradition invented as the name of its author the designation Vyasa (arranger').

A A. Macdonell, India's Past p 88.

To Ramanuja the legerdry Vyasa was the seer.

A A Macdonell, India's Past p 149

d—Vyasa Parasarya is the name of a mythical sage.

A. A Macdonell & A, B Keith, Vedic Index p 339

इसी विषय में योरोपीय लेखकों का अधिक प्रलाप हमारे 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' प्रथम भाग, पृष्ठ २८८ पर देखिए।

अष्टम अध्याय

आम्नाय

आम्नाय का मूलार्थ—आम्नाय पद का अर्थ है अपने अपने शास्त्र का आदि ग्रन्थ अथवा उपदेश।

१.—आम्नाय=ब्रह्मोपदिष्ट त्रिवर्गशास्त्र अथवा मानव धर्मशास्त्र

धर्मशास्त्र का मूल उपदेश ब्रह्मा ने त्रिवर्ग-शास्त्र द्वारा किया। तत्पश्चात् उसी के आधार पर स्वायम्भुव मनु का धर्मशास्त्र रचा गया। इसी परम्परा के अनुसार धर्म का आदि शास्त्र, ब्रह्मा का त्रिवर्गशास्त्र अथवा मानव धर्मशास्त्र माना जाता है। धर्मशास्त्र का आदि सुप्रसिद्ध ग्रन्थ मानव धर्मशास्त्र है। इस विषय के ग्रन्थों में प्राय. उसे ही आम्नाय कहा गया है। यथा—गौतम धर्मसूत्र के—

(क) यत्र चाम्नायो विदध्यात् ॥११५१॥

(ख) आम्नायैरविरुद्धा' ॥१०।२२॥

इन सूत्रों में आम्नाय का मुख्य अभिप्राय मानव धर्मशास्त्र से है।

(ग) शख लिखित धर्मसूत्र में लिखा है—

आम्नायप्रामाण्याद् आचारः सर्वेषामुपदिश्यते।[1]

(घ) बृहस्पति ने अपने धर्मशास्त्र में ब्रह्मा के उपदेश को ही आम्नाय माना है। यथा—

आम्नाये स्मृतितन्त्रे च।[2]

बृहस्पति का धर्मशास्त्र मूल मानव धर्मशास्त्र का सक्षिप्त प्रवचन मात्र था। अत. वह अपने तन्त्र को आम्नाय न कहकर ब्रह्मा के मूल उपदेश को आम्नाय कहता है।

२—आम्नाय=ब्रह्मा का आयुर्वेद का मूल उपदेश

आयुर्वेद का आदि ग्रन्थ ब्रह्मा का उपदेश था। आयुर्वेद के ग्रन्थों में उसके अथवा इन्द्रादि के मूल उपदेश के लिए आम्नाय शब्द प्रयुक्त होता है। यथा—**पृच्छा तन्त्राद् यथाम्नायविधिना प्रश्न उच्यते।**

चरक सूत्रस्थान ३०।६७॥

---

१ कृत्यकल्पतरुगत ब्रह्मचारी काण्ड, पृष्ठ २६।

२ सरस्वतीविलास पृष्ठ ४०६ पर उद्धृत।

३—आम्नाय=नाट्यवेद

नाट्यवेद का भी अपना आम्नाय था। पाणिनि सूत्र ४।३।१२६ पर काशिकावृत्ति में लिखा है—

नटशब्दादपि धर्माम्नाययोरेव।

अर्थात्—नट शब्द से भी धर्म और आम्नाय अर्थ में नाट्य शब्द बनता है। यथा भरत नाट्य-शास्त्र।

पाणिनि के उक्त सूत्रानुसार छन्दोगों, औक्थिकों, याज्ञिकों और बह्वृचों के अपने अपने आम्नाय थे।

४—आम्नाय=ब्राह्मण

मीमांसा सूत्रों में जैमिनि मुनि आम्नाय पद का बहुधा प्रयोग करता है। उस का एक सूत्र है—

आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्।१।२।१॥

अर्थात्—(पूर्वपक्षानुसार) आम्नाय अर्थात् ब्राह्मण वचन क्रिया-परक हैं।

यहां आम्नाय पद स्पष्ट ही मीमांसा और याज्ञिकों के मूल ग्रन्थ ब्राह्मण ग्रन्थ का वाची है।

टिप्पणी=वर्तमान सम्पूर्ण ब्राह्मणों में जो अनेक वचन लगभग एक समान उपलब्ध होते हैं, वे मूल ब्राह्मण के वचनों के ही विभिन्न प्रवचन हैं।

५—आम्नाय=चरण

वैदिक ग्रन्थों में शाखाओं का आदि ग्रन्थ आम्नाय था। उसे चरण कहा गया है। इसी अभिप्राय से कात्यायन मुनि[1] ने ऋक्सर्वानुक्रमणी के आरम्भ में लिखा है—

अथ श्री ऋग्वेदाम्नाये शाकलके......

अर्थात्—शैशिरि आदि शाखाओं का मूल शाकलक आम्नाय था।

महाभारत में इस अभिप्राय को बहुत अधिक स्पष्ट किया है। शान्ति-पर्व अध्याय २६६ में लिखा है—

---

१. यही कात्यायन वाजसनेय प्रातिशाख्य में सूत्र रचता है—'स्वाद् वाऽऽम्नायधर्मित्वाच्छन्दसि नियमः' (१।१)। यहां आम्नाय का अर्थ मूल चरण अथवा मूल पार्षद् हो सकता है।

आम्नायेभ्यः पुनर्वेदाः प्रसृता. सर्वतोमुखा. ।

अर्थात्—चरणों से शाखाए विस्तृत हुई ।

पुनश्च अ० २७४ में लिखा है—

आम्नायमार्षं पश्यामि यस्मिन् वेदा प्रतिष्ठिता ।

अर्थात—मूल आम्नाय अथवा चरण में वेद अर्थात् शाखाए प्रतिष्ठित हैं ।

यहा स्पष्ट ही वेद शब्द औपचारिक भाव से शाखाओं के लिए प्रयुक्त हुआ है । उन दिनों शाखाओं में मन्त्रों के साथ ब्राह्मण पाठ सम्मिलित हो गए थे । यजु और आथर्वणों में ऐसी बात अधिक हुई थी । इसी बात को दृष्टि में रख कर भारत युद्ध कालिक तथा तदुत्तरवर्ती याजुष ग्रन्थकारों ने वेद का लक्षण ही मन्त्र-ब्राह्मणात्मक ग्रन्थ कर दिया ।[1]

---

१ मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् ।

नवम अध्याय

वेद्-श्रुति-प्रणाश

प्राचीन ऐतिह्य कुछ ऐसी घटनाओं का साक्ष्य उपस्थित करता है, जिन से पता चलता है कि संसार के कुछ देशों से कभी कभी श्रुति का प्रणाश हुआ और भारतवर्ष में भी कोई समय इसी प्रकार का आया। इस विषय के वचन आगे लिखे जाते हैं—

१—वाल्मीकीय रामायण किष्किन्धा काण्ड ६।५ में हनुमान् का वचन है—

तामहमानयिष्यामि नष्टां वेद-श्रुतिमिव।

अर्थात्—मैं सीता को उसी प्रकार से ले आऊंगा जैसे नष्ट हुई श्रुति लाई गई थी।

यह वचन दाशरथि राम से पूर्वकाल की किस घटना का संकेत करता है, यह हम अभी नहीं कह सकते।

I. कृत युग में श्रुति-प्रणाश और हरि (विष्णु) द्वारा उद्धार

२—महाभारत शान्तिपर्व अ० ३४८ में भीष्म जी श्वेत-द्वीपस्थ नारद और हरि (विष्णु) का एक संवाद सुनाते हैं। उस में विष्णु कहता है—

यदा वेदश्रुतिर्नष्टा मया प्रत्याहृता पुनः।
सवेदाः सश्रुतिकाश्च कृताः पूर्वं कृते युगे ॥५६॥

अर्थात्—जब वेद श्रुति नष्ट हुई, मुझ से पुनः लाई गई, साथ वेद (=ब्राह्मणों) के और साथ श्रुति (=मन्त्रों) के (पूर्ण) की गई। यह बात पहले मैंने कृतयुग में की।

इसी घटना का वर्णन शान्तिपर्व अ० ३५७ में भी किया है। यथा—

एतस्मिन्नन्तरे राजन् देवो हयशिरोधरः।
जग्राह वेदानखिलान् रसातलगतान् हरिः ॥

अर्थात्—[मधु और कैटभ दानवों के द्वारा] रसातल को ले जाए गए अखिल वेद को हयशिरोधर हरि ने प्राप्त करके ब्रह्मा को दिया।

II त्रेता के प्रारम्भ में श्रुति प्रणाश और दत्त द्वारा उद्धार

३—त्रेता के प्रारम्भ में अत्रि कुल में दत्त नामक ऋषि उत्पन्न हुआ।

उसमें वैष्णव यश का आभास था। उस ने भी कभी वेदों (ब्राह्मणों), विधि-विधानों और यज्ञों के लुप्त होने तथा धर्म की बहुविध क्रियाओं और चातुर्वर्ण्य के सकीर्ण होने पर उन की पुनः स्थापना की। हरिवंश १।४१ में लिखा है—

दत्तात्रेय इति ख्यात क्षमया परया युत ।
तेन नष्टेषु वेदेषु प्रक्रियासु मखेषु च ॥
सहयज्ञक्रिया वेदा प्रत्यानीता हि तेन वै ।

सारस्वत द्वारा विस्मृत श्रुति का प्रवचन

४—महाभारत शल्यपर्व अ० ५२ में वर्णित है कि कभी भयङ्कर अनावृष्टि और दुर्भिक्ष के कारण सम्पूर्ण ऋषि बिखर गए और उन का वेद पाठ उच्छिन्न हो गया। तब विमर्शानन्तर वे सारस्वत ऋषि के पास पहुचे। सारस्वत ऋषि सरस्वती के तट पर रहता था। उस से उन्होंने पुनः वेदाभ्यास किया।

इसी घटना की ओर अश्वघोष ने बुद्ध चरित (१।४७) में सकेत किया है—

सारस्वतश्चापि जगाद नष्टं वेदं पुनर्यं ददृशुर्न पूर्वे ।

अश्वघोष अपने सौन्दरनन्द काव्य के सर्ग ७ में स्पष्ट करता है कि यह सारस्वत ऋषि अङ्गिरा पुत्र था।[१] इसी को मनुस्मृति २।१५१ और ताण्ड्य १३।३।२४ तथा जैमिनि ब्राह्मणों में शिशु आङ्गिरस कवि कहा है। वही अपने वृद्धों को भी वेद की शिक्षा देने वाला हुआ।

इन घटनाओं का गम्भीर विवेचन आवश्यक है। हम पूरे परिणाम अभी नहीं निकाल सके, पर इस विषय के ऐतिहासिक तथ्यों को एकत्रित करना चाहिए।

———

१ तथाङ्गिरा रागपरीतचेत: सरस्वती ब्रह्मसुत: सिषेवे।
सारस्वतो यत्र सुतो ऽस्य जज्ञे नष्टस्य वेदस्य पुन प्रवक्ता ॥

दशम अध्याय

अपान्तरतमा और वेदव्यास

(त्रेता आरम्भ)

१.—अपान्तरतमा=प्राचीनगर्भ

(क) आचार्य शङ्कर अपने वेदान्तसूत्रभाष्य ३।३।३२ में लिखते हैं—

तथा हि—अपान्तरतमा नाम वेदाचार्यः पुराणर्षि विष्णुनियोगात् कलिद्वापरयो सन्धौ कृष्णद्वैपायनः सम्बभूव इति स्मरन्ति ।

अर्थात्—अपान्तरतमा नाम का वेदाचार्य और प्राचीन ऋषि ही कलि द्वापर की सन्धि में विष्णु की आज्ञा से कृष्ण द्वैपायन के रूप में उत्पन्न हुआ ।

(ख) इसी सम्बन्ध में अहिर्बुध्न्यसंहिता अध्याय ११ में लिखा है—

अथ कालविपर्यासाद् युगभेदसमुद्भवे ॥५०॥
त्रेतादौ सत्त्वसंकोचाद्रजसि प्रविजृम्भिते ।
अपान्तरतमा नाम मुनिर्वाक्सम्भवो हरेः ॥५३॥
कपिलश्च पुराणर्षिरादिदेवसमुद्भवः ।
हिरण्यगर्भो लोकादिरहं पशुपतिः शिवः ॥५४॥
उद्भूतस्तत्र धीरूपमृग्यजुःसामसंकुलम् ।
विष्णुसंकल्पसंभूतमेतद् वाच्यायनेरितम् ॥५८॥

अर्थात्—वाक् का पुत्र वाच्यायन अपरनाम अपान्तरतमा था । [कालक्रम के विपर्यय होने से त्रेता युग के आरम्भ में] विष्णु की आज्ञा से अपान्तरतमा, कपिल और हिरण्यगर्भ आदिकों ने क्रमशः ऋग्यजु सामवेद, सांख्य शास्त्र और योग आदि का विभाग किया ।

अहिर्बुध्न्यसंहिता शङ्कर से बहुत पहले काल की है ।

(ग) इस अहिर्बुध्न्यसंहिता से भी बहुत पहले के महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय ३५६ में वैशम्पायन जी राजा जनमेजय को कह रहे हैं—

अपान्तरतमा नाम सुतो वाक्सम्भवः प्रभो ।
भूतभव्यभविष्यज्ञः सत्यवादी दृढव्रतः ॥३९॥
तमुवाच नतः मूर्ध्ना देवानामादिरव्ययः ।

वेदाख्याने श्रुतिः कार्या त्वया मतिमतां वर ॥४०॥
तस्मात्कुरु यथाज्ञप्तं ममैतद्वचनं मुने ।
तेन भिन्नास्तदा वेदा मनोः स्वायंभुवेन्तरे ॥४१॥
अपान्तरतमाश्चैव वेदाचार्यः स उच्यते ।
प्राचीनगर्भं तमृषिं प्रवदन्तीह केचन ॥६६॥

इन श्लोकों का और महाभारत के इस अध्याय के अन्य श्लोकों का अभिप्राय यही है कि अपान्तरतमा ऋषि वेदाचार्य अथवा प्राचीनगर्भ कहा जाता है। उसी ने एक बार पहले वेदों का शाखाविभाग किया था।

अपान्तरतमा का कोई सिद्धान्त ग्रन्थ भी था। योगियाज्ञवल्क्य में उस का उल्लेख मिलता है।[1] सात महान् सिद्धान्त ग्रन्थों में यह अन्यतम है। वही अपान्तरतमा जो एक ओर शाखाओं का आदि–प्रवक्ता था, दूसरी ओर लोक-भाषा में अपने सिद्धान्त ग्रन्थ का उपदेश करता था। इस ऐतिहासिक तथ्य के विरुद्ध पाश्चात्य कल्पित भाषा मत मान्य नहीं।

इन लेखों से पता लगता है कि कृष्ण द्वैपायन व्यास से बहुत बहुत पहले भी वेद विभाग विद्यमान था, और सम्भवतः वेदों के कई चरण विद्यमान थे। यही चरण सामग्री व्यास काल तक इधर उधर विकीर्ण थी। व्यास ने उसे पुनः एकत्र कर दिया और प्रत्येक वेद की शाखाएं पृथक् पृथक् कर दीं। इन शाखाओं के ब्राह्मण भागों में नए प्रवचन भी मिलाए गए।

२—वेदव्यास

महाभारत और वेद-प्रवचन

महाभारत शान्तिपर्व अ० २३८ में भीष्म जी व्यास शुक सवाद सुनाते हैं। उस में निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य है—

त्रेतायां संहता वेदा यज्ञा वर्णास्तथैव च ।
सरोधादायुषस्त्वेते व्यस्यन्ते द्वापरे युगे ॥१०४॥

अर्थात्—त्रेता में चरण एकत्र किए गए अथवा पृथक्ता से एकत्र

१ याज्ञवल्क्य स्मृति अपरार्क टीका।

तथा ब्रह्माण्ड पुराण पाद २, अध्याय ३५। श्लोक १२६–११४। यहां ३२ व्यासों का नाम लेकर अन्त में कहा है कि ये अठाईस व्यास हो चुके हैं।

पढ़े गए, यज्ञ और वर्ण भी ऐसे ही । और द्वापर में आयु के संरोध=ह्रास से शाखा रूप में प्रोक्त हुए ।

शान्तिपर्व अ० २४४, संख्या १४ में यही श्लोक पठित है। वहां 'संहताः' के स्थान में 'सकला' पाठ है ।

३—अट्ठाईस व्यास

पुराणों में वैवस्वत मनु से आरम्भ करके कृष्ण द्वैपायन तक प्रति द्वापर की दृष्टि से २८ व्यास गिनाए हैं ।[1] वैवस्वत मनु त्रेता के आरम्भ में था और वेद-प्रवचन द्वापर में माना गया है। अतः त्रेता-युगीन वैवस्वत मनु से वेद-प्रवचन किस प्रकार आरम्भ हुआ, यह परस्पर विरोधी बात प्रतीत होती है। पुराणों के इस प्रसंग में 'द्वितीयेद्वापरे, तृतीयद्वापरे' आदि कह कर 'परिवर्ते पुन. षष्ठे' और 'पर्यायश्च चतुर्दश' आदि से गणना चलाई गई है। इससे प्रतीत होता है कि वेद प्रवचन विषयक गणना का अभिप्राय सर्वथा अन्य प्रकार का है। तदनुसार त्रेता के आरम्भ से लेकर द्वापर के अन्त तक २८ बार वेद प्रवचन माना गया है।

यदि माना जाए कि यहां प्रत्येक चतुर्युगी के द्वापर गिनाए गए हैं, तो भी ठीक नहीं बैठता। कारण—

१ वैवस्वत मनु प्रथम चतुर्युगी के द्वापर में नहीं था, वह त्रेता के आरम्भ में था।

२. ऋक्ष अर्थात् वाल्मीकि २४वें परिवर्त का व्यास माना गया है। वह दाशरथि राम का समकालिक था। राम से भारत युद्ध तक केवल ३५ पीढ़िया गिनी जाती हैं, अधिक नहीं। ये प्रधान पीढ़िया नहीं हैं, सम्पूर्ण पीढ़ियां हैं। अत ऋक्ष को चौबीसवीं चतुर्युगी का मानना इतिहास के विरुद्ध बैठता है।

३ २६वें परिवर्त का व्यास पराशर और २७वें परिवर्त का व्यास जातूकर्ण्य क्रमशः कृष्ण द्वैपायन के पिता और चाचा थे। ये दोनों महात्मा पूर्व चतुर्युगी के न थे।

इन २८ वेद-प्रवचनों में अपान्तरतमा का नाम कहीं दिखाई नहीं देता। निश्चय ही वह वैवस्वत मनु से पूर्व स्वायम्भुव अन्तर में वेद प्रवचन कर

---

१. यथा—वायुपुराण अ० २३, श्लोक ११४ से आगे।

चुका था। यही बात पहले लिखी गई है।[1]

४—विशिष्ट-व्यास

वेद-प्रवचन कर्त्ताओं में से निम्नलिखित व्यासों का विशेष ध्यान रखना चाहिए। इनके द्वारा प्रोक्त अनेक चरण कृष्ण द्वैपायन के वेद प्रवचन की गिनती में सम्मिलित कर लिए गए हैं।

१. भार्गव उशना काव्य—तीसरे द्वापर का वेद-प्रवक्ता उशना-काव्य था। असुराचार्य उशना कवि भृगु का पुत्र होने से भार्गव था। अथर्ववेद को भृगु-अङ्गिरोवेद भी कहा है। अनेक आथर्वण सूक्त उशना-दृष्ट हैं। उशना महान् भिषक् था। आथर्वण सूक्तों में भिषक शब्द का प्रयोग बहुधा मिलता है।

अथर्व संहितान्तर्गत एक मन्त्र में **भिषक्** शब्द पढ़ा है। मैत्रायणी संहितागत उसी मन्त्र में भिषक् के स्थान में कवि शब्द पठित है। अत इस पर्याय उक्ति से उशना भी कवि था।

इसी प्राचीन प्रयोग के अनुसार आज भी वैद्य अथवा भिषक् **कविराज** कहाते हैं।

अवेस्ता और उशना—उशना के मन्त्रों का विकृतरूप अवेस्ता में मिलता है। वहां भी **भिषक्** शब्द **बेशाक** के विकृतरूप में मिलता है। निश्चय ही वेद का कोई चरण ईरान के ब्राह्मणों द्वारा पढ़ा जाता था। उसी का अत्यन्त परिवर्तित रूप अवेस्ता में बचा है।

जर्मन भाषा-मत के अनुसार ईरानी भाषावर्ग को जो भारतीय भाषा-वर्ग से पृथक् गिना है वह घोर पक्षपात अथवा बुद्धि की न्यूनता का फल है।

यह उशना अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, और धनुर्वेद आदि का कर्त्ता था। एक ओर वह वेद-प्रवचन कर्ता था और दूसरी ओर उसने प्राचीन लोकभाषा में अर्थशास्त्र आदि का प्रवचन किया।

२–सारस्वत—सारस्वत नवम परिवर्त का व्यास था। इस सारस्वत के विषय में पूर्व अध्याय में लिख चुके हैं। इसके पराशर, गार्ग्य, भार्गव और अङ्गिरा चार शिष्य कहे हैं। इस प्रकरण में अन्य व्यासों के भी कहीं चार पुत्र और कहीं चार शिष्य गिनाए हैं। पुत्र का अभिप्राय है शिष्य।

---

१ पूर्व पृष्ठ १६० पर महाभारत का वचन।

प्रवचन कर्ता ऋषि अपने शिष्यों को भी पुत्र कहा करते थे। यथा शिशु सारस्वत=आङ्गिरस ने वृद्ध ऋषियों को पुत्र कहा।

सारस्वत का वेद-प्रवचन—सारस्वत के वेद प्रवचन में निम्न प्रमाण उपलब्ध होते हैं—

क—संस्काररत्नमाला में कृष्ण यजुः सम्बन्धी सारस्वत पाठ का वर्णन मिलता है।

ख—अश्वघोष के बुद्ध चरित तथा सौन्दरनन्द काव्यों में इस के वेद प्रवचन का संकेत है।

ग—ताण्ड्य ब्राह्मण का निम्नलिखित पाठ इस पक्ष को पूरा स्पष्ट करता है—**शिशुर्वा आङ्गिरसो मन्त्रकृतां मन्त्रकृदासीत्।**

अर्थात्—अङ्गिरा गोत्रोत्पन्न शिशु सारस्वत कवि चरण प्रवचन कर्त्ताओं में अत्यन्त श्रेष्ठ प्रवक्ता था।

मन्त्रकृत् का अर्थ मन्त्र रचयिता नहीं, अपितु मन्त्र-प्रवचनकार है। इस पर विशेष विचार हमारे 'ऋग्वेद पर व्याख्यान' में देखें।

सारस्वत पाठ—सारस्वत प्रोक्त वेद पाठ याजुष तैत्तिरीय संहिता आदि में पर्याप्त सुरक्षित है।

शैशव साम—शिशु सारस्वत-दृष्ट शैशव साम प्रसिद्ध है। उपर्युक्त ताण्ड्य वचन उसी शैशव साम की प्रशंसा में लिखा गया है।

३—भरद्वाज—भरद्वाज १९वे परिवर्त का व्यास था। इसके हिरण्यनाभ कौसल्य, कुथुमि आदि पुत्र थे। यह बार्हस्पत्य भरद्वाज ही आयुर्वेद और अनेक शास्त्रों का प्रवक्ता था। इस लिए ऐतरेय आरण्यक में महीदास ने लिखा कि वह ऋषियों में अनूचानतम और दीर्घजीवितम था।[1] भारद्वाज शिक्षा, भारद्वाज श्रौत तथा गृह्य का सम्बन्ध संभवतः भारद्वाज प्रोक्त चरण से था।

४—ऋक्ष अर्थात् वाल्मीकि—ऋक्ष अर्थात् वाल्मीकि २४वें परिवर्त का व्यास था। उसके शालिहोत्र अग्निवेश्य, युवनाश्व, और शरद्वसु पुत्र थे। यही दीर्घजीवी अग्निवेश द्रोण का गुरु था और उसी ने बहुत पूर्व पुनर्वसु आत्रेय के आयुर्वेदोपदेश को तन्त्रबद्ध किया।

---

१. भरद्वाजो ह वा ऋषीणामनूचानतमो दीर्घजीवितमस्तपस्वितम आस १।२।२॥

इस वाल्मीकि के वेद प्रवचन अर्थात् उसके चरण के सन्धि तथा उच्चारण सम्बन्धी तीन नियम तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में दिए हैं। वे इस प्रकार हैं।

क—पकारपूर्वश्च वाल्मीकेः। ५।३६॥

अर्थात्—जिस 'श्' से पूर्व 'प्' हो उसको 'छ्' नहीं होता।

इस नियम के अनुसार तैत्तिरीय संहिता ४।३।२ के 'अनुष्टुप्छारदी' पाठ के स्थान में वाल्मीकि चरण में 'अनुष्टुप् शारदी' पाठ ही था।

ख—कपवर्गपरश्चाग्निवेश्यवाल्मीक्योः। ९।४॥

अर्थात्—जिस विसर्जनीय से परे कवर्ग और पवर्ग हो, उसको सस्थान (=समान स्थान वाला) ऊष्म[1] नहीं होता है। अर्थात् कवर्ग परे रहने पर ⋏ जिह्वामूलीय, और पवर्ग परे रहने पर ⋏ उपध्मानीय नहीं होता।

इस नियम के अनुसार वाल्मीकि के प्रवचन में 'यः कामयेत' (तै० सं० २।१।२) और 'अग्निः पशुरासीत्' (तै० सं० ५।७।३६) पाठ था। उस समय के अन्य चरणों में 'य⋏ कामयेत' में यः के विसर्ग के स्थान पर जिह्वामूलीय और 'अग्नि⋏पशुरासीत्' में विसर्ग के स्थान पर उपध्मानीय का उच्चारण होता था। यह प्रवृत्ति किन देशों में थी, इसका ज्ञान भाषाशास्त्र के स्पष्टीकरण में बहुत सहायक होगा।

ग—उदात्तो वाल्मीकेः।१८।६॥

अर्थात्—वाल्मीकि शाखा में 'ओम्' का उच्चारण केवल उदात्तस्वर से होता था। (अन्य आचार्यों के समान अनुदात्त और स्वरित में नहीं।) इसी प्रकार मैत्रायणी प्रातिशाख्य के २।६॥२।२०॥५।३८॥६।४। में वाल्मीकि चरण सम्बन्धी नियमों का निदश उपलब्ध होता है।

तैत्तिरीय और मैत्रायणी प्रातिशाख्यों के इन नियमों से वाल्मीकि प्रोक्त वेदपाठ का सद्भाव अत्यन्त स्पष्ट है।

वेद-प्रवचन के कारण वाल्मीकि ऋषि था। अतः उसके काव्यमय इतिहास को रामायण में ही बहुधा आर्ष काव्य[2] कहा है। उस रामायण को

---

१. तै० प्रातिशाख्य १।१६ के 'परे षडूष्माणः' सूत्रानुसार क्रमशः '⋏क, श, ष, स, ⋏प, ह' ये ६ ऊष्म हैं। इन में प्रारम्भिक पाच ऊष्म क्रमशः कवर्गादि के सस्थान ऊष्म कहाते हैं।

२. बालकाण्ड पश्चिमोत्तर शाखा ४।४०॥ ५।४॥

लगड़े लूले भाषा नियमों के आधार पर विक्रम से चार पाच सौ वर्ष पूर्व की रचना मानना बुद्धि का दिवाला निकालना है। वाल्मीकि काव्य का आदि कर्ता होते हुए भी श्लोक का उपज्ञाता नहीं है। इसी भाव को काशिका २।४।२१ का 'वाल्मीके श्लोका' प्रत्युदाहरण व्यक्त करता है।

रघुकार हरिषेण कालिदास (प्रथमशती विक्रम) रघुवश में लिखता है—

निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोक । १४।७०॥
सखा दशरथस्यापि जनकस्य च मन्त्रकृत् ।
सचस्कारोभयप्रीत्या मैथिलेयौ यथाविधि ॥१५।३१॥
वृत्त रामस्य वाल्मीके कृतिस्तौ किन्नरस्वरौ ॥१५।६४॥

अर्थात्—व्याध द्वारा मारे गये पक्षी को देख कर उत्पन्न हुआ शोक जिसके श्लोकत्व को प्राप्त हो गया। रामवृत्त मन्त्रकृत् वाल्मीकि ने रचा था।

५—पराशर—पराशर २६वे परिवर्त का व्यास था। यह पराशर शक्ति का पुत्र और कृष्ण द्वैपायन व्यास का पिता था। उसके उलूक आदि पुत्र थे। भविष्य पुराण ब्रह्मपर्व १ अ० ४२ श्लोक २८ के अनुसार इसी उलूक की भगिनी उलूकी का पुत्र वैशेषिक शास्त्र का प्रवक्ता महामुनि कणाद था। यह पराशर अग्निवेश का सहपाठी था। इसने आयुर्वेद और ज्योतिष शास्त्र की सहिताएं रचीं थीं।

६—जातूकर्ण्य—जातूकर्ण्य २७वें परिवर्त का व्यास था। यह कृष्ण द्वैपायन का चाचा था।[1] इसके अक्षपाद, कणाद, उलूक और वत्स पुत्र थे। यह अक्षपाद न्याय शास्त्र का प्रवचन कर्ता था[2] और कणाद वैशेषिक शास्त्र का।

जातूकर्ण्य कृत वेद प्रवचन के सहिता और पदपाठ सम्बन्धी तीन नियम वाजसनेय प्रातिशाख्य में उल्लिखित हैं। तदनुसार—

क—नकारपरो जातूकर्ण्यस्य ॥४।१२०॥

अर्थात्—जातूकर्ण्य प्रोक्त चरण में यदि हकार से परे ऋकार हो और पूर्व में वर्ग के पञ्चम वर्ण को छोड़ कर कोई प्रथम द्वितीय तृतीय या चतुर्थ वर्ण हो तो उस हकार को घ झ ढ ध और भ विकार नहीं होता। यथा—**समसुप्तोदू हृत** या अन्य चरण शाखाओं में **समसुप्तोद्धृत'** (मा० स० १७।५८) पाठ है।

---

[1] देखो आगे कृष्णद्वैपायन व्यास का प्रकरण।

[2] तदनुसारः प्रवरो मुनिना शमाय शास्त्र जगतो जगाद। न्यायवा० आरम्भ।

ख—कश्यपस्यानार्षेये जातूकर्ण्यस्य । ४।१०६॥

अर्थात्—जातूकर्ण्य की संहिता में ऋषि अर्थ में 'कश्यप' और ऋषि से भिन्न अर्थ में 'कशप' शब्द व्यवहृत होता है। अर्थात् ऋषि से भिन्न अर्थ में यकार से रहित हो जाता है। यथा—'**अपामुद्रो मासां कशप**'।[1] अन्य शाखाओं में '**अपामुद्रो मासां कश्यप**' (मा० सं० २४।३४) पाठ है।

ग—पारावतान् आग्निमारुताश्चेति जातूकर्ण्यस्य ॥५।२॥

अर्थात्—जातूकर्ण्य संहिता के पदपाठ में 'पारावतान्' और 'आग्नि-मारुताः' पदों में अवग्रह होता है। यथा—'**पारावतानिति पाराऽवतान्' आग्निमारुता इत्याग्निऽमारुताः**' अन्य संहिताओं के पदपाठ में इन पदों में अवग्रह नहीं होता। अर्थात् 'पारावतान्, आग्निमारुता' ऐसा ही विच्छेद होता है।

वाजसनेय प्रातिशाख्य के उपर्युक्त सूत्रों से जातूकर्ण्य संहिता और उस के पदपाठ की स्थिति स्पष्ट है।

७—कृष्ण द्वैपायन

ब्रह्मा नाम के अगणित ऋषि हो चुके हैं। कृतयुग के आरम्भ में एक ब्रह्मा था। उस का निज नाम हम नहीं जानते। उस का पुत्र मैत्रावरुण वसिष्ठ[2] और वसिष्ठ का पुत्र शक्ति था। पराशर इसी शक्ति का लड़का था। पराशर बड़ा तपस्वी और अलौकिक प्रभाव का ऋषि था। उस से दाशराज की कन्या मत्स्यगन्धा, योजनगन्धा अथवा सत्यवती में कृष्ण द्वैपायन जन्मा।

बाल्यकाल और गुरु

कृष्ण द्वैपायन बाल्यकाल से ही विद्वान् था। परन्तु परम्परा के अनुसार उस ने विधिवत् गुरुमुख से वेद और अन्य शास्त्रों का अध्ययन किया। इस विषय में वायु पुराण का प्रथमाध्याय देखने योग्य है—

---

१ वाजसनेय प्रातिशाख्य के मुद्रित संस्करणों (कलकत्ता-मद्रास) में 'कच्छपः' छपा है। वह प्रकरणानुसार अशुद्ध प्रतीत होता है।

२ आदि पर्व ६३।५ के अनुसार सम्भवत. एक आपव वसिष्ठ था। भीष्म जी ने बाल्यकाल में अपनी माता गङ्गा के पास रहते हुए इसी आपव वसिष्ठ से सारे वेद पढे थे। आदिपर्व ६४।३२ का यही अभिप्राय प्रतीत होता है। पार्जिटर रचित प्राचीन भारतीय ऐतिह्य के पृ० १६१ के अनुसार आपव वसिष्ठ भीष्म जी से अनेक पीढी पहले हो चुका था।

ब्रह्मवायुमहेन्द्रेभ्यो नमस्कृत्य समाहितः ।
ऋषीणां च वरिष्ठाय वासिष्ठाय महात्मने ॥९॥
तन्नप्त्रे चातियशसे जातूकर्ण्याय चर्षये ।
वसिष्ठायैव शुचये कृष्णद्वैपायनाय च ॥१०॥
तस्मै भगवते कृत्वा नमो व्यासाय वेधसे ।
पुरुषाय पुराणाय भृगुवाक्यप्रवर्तिने ॥४२॥
मानुषच्छद्मरूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे ।
जातमात्रं च य वेद उपतस्थे ससंग्रह ॥[1]४३॥
धर्ममेव पुरस्कृत्य जातूकर्ण्यादवाप तम् ।
मतिं मन्थानमाविध्य येनासौ श्रुतिसागरात् ॥४४॥
प्रकाशं जनितो लोके महाभारतचन्द्रमा. ।
वेदद्रुमश्च यं प्राप्य सशाख' समपद्यत ॥४५॥

अर्थात्—वसिष्ठ का पौत्र जातूकर्ण्य था । उसी से व्यास ने वेदाध्ययन किया । वह वेदद्रुम द्वैपायन व्यास के कारण अनेक शाखाओं वाला हुआ ।

भृगु-वाक्यप्रवर्तक—छान्दोग्योपनिषद् ३।४।२ में अथर्वाङ्गिरसों को इतिहास पुराण का प्रकाशित करने वाले लिखा है । भृगु और अथर्वा साथी हैं । अत. भृगुवाक्यप्रवर्तक का अर्थ है इतिहास पुराण की विद्या की परम्परा का चलाने वाला ।

ब्रह्माण्ड पुराण १।१।११ में लिखा है कि व्यास ने जातूकर्ण्य से ही पुराण का पाठ पढ़ा । पाराशर्य = व्यास ने जातूकर्ण्य से विद्या सीखी, यह वैदिक वाङ्मय में भी उल्लिखित है । बृहदारण्यक उप० २।६।३ और ४।६।३ में लिखा है—

पाराशर्यो जातूकर्ण्यात् ।

अर्थात्—पराशरपुत्र व्यास ने जातूकर्ण्य से विद्या सीखी ।

वायुपुराण के पूर्वोद्धृत दशम श्लोक के अनुसार यह जातूकर्ण्य वसिष्ठ का पौत्र था । जातूकर्ण्य शक्ति का नामान्तर था अथवा उस के भाई का, यह

---

१. तुलना करो, महाभारत शान्तिपर्व, ३३२।२८—भीष्म जी शुक के विषय में कहते हैं—उत्पन्नमात्रं तु त वेदाः सरहस्याः ससंग्रहाः ।
उपतस्थुर्महाराज यथास्य पितरं तथा ॥

अभी अनुसन्धान-योग्य है। इसलिए ध्यान रखना चाहिए कि जातूकर्ण्य पराशर का भाई होगा। सहोदर भाई अथवा ताया या चाचा का पुत्र, यह हम अभी नहीं कह सकते। पाणिनि ने गर्गादिगण (४।१।१०५) में पराशर और जतूकर्ण दोनों पद साथ साथ पढे हैं। इस से अनुमान होता है कि ये दोनों परस्पर सम्बन्धी थे।

आश्रम

व्यास का आश्रम हिमालय की उपत्यका में था। शान्तिपर्व अध्याय ३४९ में वैशम्पायन कहता है।

गुरोर्मे ज्ञाननिष्ठस्य हिमवत्पाद आस्थितः ॥१०॥

शुशुभे हिमवत्पादे भूतैर्भूतपतिर्यथा ॥१३॥

पुन. अध्याय ३४९ में लिखा है—

वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमान् ।

मेरौ गिरिवरे रम्ये सिद्धचारणसेविते ॥२०॥

पुनः अध्याय ३३५ मे एक श्लोकार्द्ध है—

विविक्ते पर्वततटे पाराशर्यो महातपाः ॥२६॥

अर्थात्—पर्वतों में श्रेष्ठ, सिद्ध और चारणों से सेवित मेरु पर्वत पर, जो हिमालय की उपत्यका में था, व्यास का आश्रम था।

अन्यत्र इसे ही बदरिकाश्रम या बदर्याश्रम कहा है।

सात्वत शास्त्र की जयाख्यसहिता १।४५ के अनुसार इसी **बदर्याश्रम** में वास करते हुए शाण्डिल्य ने मृकण्डु, नारद आदिकों को सात्वत शास्त्र का उपदेश किया था। ईश्वर सहिता प्रथमाध्याय के अनुसार यह उपदेश द्वापर के अन्त और कलियुग के आरम्भ में किया गया था।

वेदव्यास और बनारस

कूर्म पुराण ३४।३२ के अनुसार बनारस की प्रसिद्धि के कारण व्यास जी वहा भी रहते थे। काशी से लगभग ३ कोस पर गगा के दूसरे तट पर व्यास का स्थान आज भी प्रसिद्ध है।

शिष्य और पुत्र

इसी बदर्य आश्रम में व्यास के चारों शिष्य और अरणीसुत पुत्र शुक रहते थे। चार शिष्यों के नाम सुमन्तु, जैमिनि, वैशम्पायन और पैल थे। अरणीपुत्र

होने से शुक जी को आरणेय भी कहते थे। पिता की आज्ञा से शुक जब किसी विदेह जनक से मिल कर और सांख्यादि ज्ञान सुन कर आश्रम में लौट आया, तो उन दिनों वेदव्यास जी चारों शिष्यों को वेदाध्ययन कराया करते थे। इस के कुछ काल उपरान्त व्यास अपने प्रिय शिष्यों से बोले—

भवन्तो बहुलाः सन्तु वेदो विस्तार्यतामयम् ॥४४॥

शान्तिपर्व अध्याय ३३५।

अर्थात्—तुम्हारे शिष्य प्रशिष्य अनेक हों और तुम्हारे द्वारा वेद का शाखा प्रशाखा रूप में विस्तार हो।

तब व्यास-शिष्य बोले—

शैलादस्मान्महीं गन्तुं काङ्क्षितं नो महामुने।
वेदाननेकधा कर्तुं यदि ते रुचितं प्रभो ॥३॥ अ० ३३६।

अर्थात्—हे महामुने व्यास जी अब हम इस पर्वत से पृथ्वी पर जाना चाहते हैं और आप की रुचि हो, तो वेदों की अनेक शाखाएं करना चाहते हैं।

तब वे शिष्य उस पर्वत से पृथ्वी पर उतर के भारत में फैले। ऐसे समय में नारदजी व्यास-आश्रम में उपस्थित हुए। वे व्यास से बोले—

भो भो महर्षे वासिष्ठ ब्रह्मघोषो न वर्तते।
एको ध्यानपरस्तूष्णीं किमास्से चिन्तयन्निव ॥१२॥अ० ३३६।

अर्थात्—हे वसिष्ठ-कुलोत्पन्न महर्षे अब आप के आश्रम में वेदपाठ की ध्वनि सुनाई नहीं देती। आप अकेले चिन्तन करते हुए के समान ध्यान-मग्न क्यों बैठे हैं।

तब व्यास जी बोले कि हे वेदवादविचक्षण नारद जी—मैं अपने शिष्यों से वियुक्त हो गया हूँ, मेरा मन प्रसन्न नहीं। जो मैं अनुष्ठान करूँ वह आप कहें। तब नारद ने कहा कि महाराज आप अपने पुत्र सहित ही वेदपाठ किया करें। तब व्यास जी शुक सहित ऐसा करने लगे।

वेद-व्यास परमर्षि थे

भगवान् व्यास परमयोगी, सत्यवादी, तपस्वी तथा भूत, भव्य और भविष्य का ज्ञान रखने वाले थे। अपने परम तप से उन्होंने ये दिव्य गुण प्राप्त किये थे। वे दीर्घजीवी थे। उन का जन्म भीष्म जी के जन्म से लगभग, बारह वर्ष पश्चात् हुआ। भारत युद्ध के समय भीष्म जी कोई १५० वर्ष के थे। तब

व्यास जी लगभग १६० वर्ष के होंगे। पुनः युधिष्ठिर राज्य ३६ वर्ष तक रहा। तत्पश्चात् परीक्षित ने २४ वर्ष तक राज्य किया। परीक्षित की मृत्यु के समय व्यास जी लगभग २२० वर्ष के थे। पुनः जनमेजय के सर्पसत्र में वे वैशम्पायन को महाभारत कथा सुनाने का आदेश कर रहे हैं। इतना ही नहीं, प्रत्युत इस सर्पसत्र के सदस्य हो कर वे पुत्र और शिष्यों की सहायता भी कर रहे हैं।[1] इस प्रकार प्रतीत होता है कि व्यास जी का आयु २५० वर्ष से अधिक ही था। आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् इस बात को कदाचित् अभी न समझ सकें, परन्तु इस में हमारा या ऋषियों का दोष नहीं है।

व्यास जी और वेद-शाखा-प्रवचन काल

कलि आरम्भ से लगभग १५० वर्ष पूर्व

कृष्ण द्वैपायन के अस्तित्व पर योरोप का प्रहार—महाभारत सहित प्राचीन इतिहास का अद्वितीय और विस्तृत भण्डार है। महाभारत प्रमाणित करता है कि आर्य लोग कृतयुग के आरम्भ से भारतवर्ष में रहते थे। महाभारत सिद्ध करता है कि योरोप की सम्पूर्ण वर्तमान जातियां दैत्य और दानवों की सन्तान में हैं। महाभारत सारे योरोप पर कभी संस्कृत का साम्राज्य मानता है। महाभारत साक्ष्य देता है कि जब से वेद था तभी से लोक-भाषा संस्कृत भी संसार में प्रचलित थी। महाभारत आर्य राजाओं के वंश-क्रम को सुरक्षित रख के सत्य इतिहास का परिचयदेता है। इस लिए यहूदी और ईसाई घोर पक्ष-पाती लेखकों को महाभारत के विरुद्ध एक चिढ़ थी। इस लिए मोनियर विलियम्स के काल (सन् १८७६) से लेकर विण्टरनिट्स के काल (सन् १९२७) तक अनेक पाश्चात्य लोगों ने महाभारत की ऐतिहासिकता और उस के व्यास रचित होने के विरुद्ध एक आंधी चलाई।[2] पर अंग्रेजी द्वारा संस्कृत पढे हुए दो चार ब्रिटिश सरकार के वेतन भोगी अध्यापको के अतिरिक्त संस्कृतज्ञों ने उनकी कल्पना की पूरी अवहेलना की।

द्वैपायन व्यास का ऐतिहासिक अस्तित्व भदन्त अश्वघोष सदृश प्रकाण्ड

---

१. आदि पर्व ४८।७॥ तथा ५४।७॥

२ देखो—भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग १, पृष्ठ २८४। वहां योरोपियन लेखकों के मूल वचन उद्धृत किए गए हैं।

बौद्ध पण्डित भी मानते हैं। भारतीय अनवच्छिन्न परम्परा के विपरीत योरोप की ऐसी कल्पनाओं का दो कौड़ी मूल्य भी नहीं है।

युधिष्ठिर राज्य की समाप्ति पर कलि का आरम्भ माना जाता है। युधिष्ठिर राज्य तक द्वापर अथवा उस का २०० वर्ष का सन्धिकाल था। सब शास्त्रों का समान मत है कि शाखा प्रवचन द्वापरान्त में हुआ। अतः शाखा-प्रवचन युधिष्ठिर राज्य अथवा उस से कुछ पूर्व हुआ। ईश्वर का धन्यवाद है कि महाभारत आदिपर्व ६६।१४–२२ में शाखा प्रवचन का काल मिलता है। वहां लिखा है कि विचित्रवीर्य की पत्नियों में नियोग करने से पूर्व व्यास जी शाखा-विभाग कर चुके थे। उस के चिरकाल पश्चात् महाभारत की रचना हुई। तब पाण्डव आदि स्वर्ग को चले गये थे। भारत-रचना में व्यास जी को तीन वर्ष लगे थे। तत्पश्चात् वेदों के समान महाभारत-कथा भी व्यास जी ने अपने चारों शिष्यों और शुक जी को पढ़ा दी थी। भारत-कथा पढ़ने से पहले व्यास शिष्य वेद और उन की शाखाओं का विस्तार कर चुके थे। शुक के पास भारत कथा पढ़ने वे दूसरी बार गए होंगे। भारत बनने से बहुत पहले ही शुक जी जनक से उपदेश ले कर आ गए थे। यदि इस जनक का नाम धर्मध्वज ही माना जाए, तो उस का काल भी निश्चित हो सकता है। महाभारत शान्तिपर्व अ० ३३५,३३६ में व्यास-शिष्यों के वेदाध्ययन मात्र का कथन है, परन्तु अ० ३४९ में वेदों के साथ महाभारत पढ़ने का भी उल्लेख है। अतः इन सब बातों को ध्यान में रख कर हम स्थूल रूप से कह सकते हैं। कि वेद-शाखा-प्रवचन कलि से कोई १५० वर्ष पूर्व हुआ। शाखा-प्रवचन के समय व्यास जी लगभग ५० वर्ष के थे।

व्यास और बादरायण

महाभारत आदि में तो व्यास नाम प्रसिद्ध ही है। तैत्तिरीय आरण्यक १।६।३५ में भी व्यास पाराशर्य नाम मिलता है। अनेक लोग ऐसा भी कहते हैं कि बादरायण भी इसी पाराशर्य व्यास का नाम था। प० अभयकुमार गुह ने यही प्रतिपादन किया है कि ये दोनों नाम एक ही व्यक्ति के हैं।[1] दूसरे लोग इस में सन्देह करते हैं। हमें अभी तक सन्देह के लिए प्रबल कारण नहीं मिले।[2] सम्भव है बदर्याश्रम में वास करने के कारण बादरायण नाम हो।

1. Jivatman in the Brahma Sutras, 1921.

२. मत्स्यपुराण १४।१६ में कहा है कि वेदव्यास का बादरायण भी एक नाम था।

वेद-प्रवचन विषयक पार्जिटर और प्रधान के मत

पार्जिटर का मत है कि व्यास जी ने शाखा प्रवचन भारत-युद्ध से एक चौथाई शती पूर्व समाप्त कर दिया था।[1] सीतानाथ प्रधान का मत है कि व्यास ने खाण्डव दाह के पश्चात् वेद सङ्कलन किया।[2]

अश्वघोष और व्यास

मञ्जुश्रीमूलकल्प की उपलब्धि के पश्चात् अश्वघोष का काल अब सुनिश्चित ही समझना चाहिए। वह काल विक्रम की पहली शताब्दी से पूर्व का है। उस काल में भी व्यास एक ऐतिहासिक व्यक्ति समझा जाता था और उस का शाखा-प्रवचन करना भी एक ऐतिहासिक सत्य ही था। बुद्धचरित १।४७ में अश्वघोष कहता है—

सारस्वतश्चापि जगाद नष्टं वेदं पुनर्यं ददृशुर्न पूर्वे।
व्यासस्तथैनं बहुधा चकार न यं वसिष्ठः कृतवान्न शक्तिः॥

अर्थात्—सारस्वत ने नष्ट वेद का पुनः प्रवचन किया, जिस को उस के वृद्ध पूर्वज देख न सके। तथा उसी प्रकार जो काम वसिष्ठ और शक्ति न कर सके, वह उन्हीं के वंशज व्यास ने किया।

जब अश्वघोष सदृश विद्वान् व्यास और उस के कुल को जानता है, और व्यास को एक ऐतिहासिक व्यक्ति मानता है, तो कुछ पश्चिमीय लोगों के कहने मात्र से हम यह नहीं मान सकते कि व्यास कोई ऐतिहासिक व्यक्ति था ही नहीं।

व्यास और उन के शिष्यों ने जिन शाखाओं का प्रवचन किया, उन शाखाओं का स्वरूप आदि अगले अध्याय में लिखा जायगा।

---

१ एनशेण्ट इण्डियन हिस्टोरिकल ट्रैडिशन।

२ क्रानोलोजी आफ एनशेण्ट इण्डिया, पृष्ठ १६८।

एकादश अध्याय

चरण, शाखा और अनुशाखा

त्रयी का अनादित्व—शतपथ ब्राह्मण ६।१।१।१० में लिखा है—

सोऽनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत्, तत आण्डं समवर्तत।

अर्थात्—वह [महान्] इस त्रयी विद्या के साथ 'अपः' में प्रविष्ट हुआ। (आपः में उस ने सङ्क्षोभ उत्पन्न किया।) उस से अण्ड उत्पन्न हुआ।

अण्ड के भेदन के समय त्रयी विद्या व्यक्त रूप में प्रकट हुई। अव्यक्त रूप में त्रयी विद्या उस से पूर्व भी विद्यमान थी। मानव सृष्टि के उत्पन्न होने पर कृतयुग के अन्त में उस त्रयी विद्या अथवा वेद के चरण बने।

चरण—चरण शब्द सामान्यतया अनेक अर्थों का वाचक है, पर वैदिक वाङ्मय में चरण शब्द विशेष अर्थ में प्रयुक्त होता है। इस पारिभाषिक चरण शब्द का प्रयोग निरुक्त १।१७, पाणिनीयाष्टक २।४।३, महाभाष्य ४।२। १०४,१३४ और प्रतिज्ञा परिशिष्ट आदि ग्रन्थों में हुआ है।

शाखा—इसी प्रकार शाखा शब्द भी उत्तर मीमांसा २।४।८, परिशिष्टों और महाभाष्य आदि में विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

पारिभाषिक चरण और शाखा शब्दों का अर्थ—चरण और शाखा शब्द अति प्राचीन हैं। मूल में निश्चय ही इन दोनों में भेद रहा होगा, परन्तु काल के अतीत होते जाने पर जन साधारण में इन का एक ही अर्थ रह गया। जहां तक हमारा विचार है, शाखा चरण का अवान्तर विभाग है। जैसे शाकल, बाष्कल, वाजसनेय, चरक आदि चरण हैं। इन की आगे क्रमशः पांच, चार, पन्द्रह और बारह शाखाएं हैं। इस विचार का पोषक एक पाठ है—

जमदग्निप्रवराय वाजसनेयचरणाय यजुर्वेदकण्वशाखाध्यायिने ……।[1]

अर्थात्—जमदग्नि प्रवर, वाजसनेय चरण और यजुः काण्वशाखाध्यायी के लिये……………

---

१. भोजवर्मा (लगभग १२वीं शताब्दी) का ताम्रपत्र।

इन्स्क्रिप्शन्ज़्, आफ बंगाल, भाग ३ पृष्ठ २१। वरेन्द्र रिसर्च सोसायटी राजशाही द्वारा प्रकाशित, सन् १९२९।

निरुक्त १।१७ में लिखा है—

सर्वचरणानां पार्षदानि ।

अर्थात्—सब चरणों के पार्षद ।

कात्यायन कृत वाजसनेय पार्षद माध्यन्दिन, काण्व आदि सभी १५ पन्द्रह शाखाओं का है । माध्यन्दिनों का पृथक् , काण्वों का पृथक् और बैजवाप का पृथक् पार्षद नहीं है । इसी प्रकार शौनक प्रोक्त ऋक्पार्षद सब शाकल शाखाओं से सम्बन्ध रखता है । अत: प्रतीत होता है कि चरणों का अवान्तर विभाग शाखाएं हैं ।

अनुशाखा

विष्णुपुराण ३।४।२५ में पाठ है—

इत्येता: प्रतिशाखाभ्योऽप्यनुशाखा द्विजोत्तम ।

अर्थात्—इन प्रतिशाखाओं से भी अनुशाखाएं हुईं ।

श्रीधर स्वामी इस वचन की व्याख्या करता हुआ लिखता है—

अनुशाखा अवान्तरशाखा: ।

अर्थात्—अनुशाखा अवान्तर शाखाएं कहाती हैं ।

विष्णुपुराण के उपर्युक्त वचन में 'प्रतिशाखा' शब्द भी विशेष ध्यान देने योग्य है ।

अनुब्राह्मण शब्द के अर्थ में एक भूल—अनुब्राह्मण शब्द का प्रयोग पाणिनीयाष्टक ४।२।६२ में उपलब्ध होता है । काशिकाकार ने इस का अर्थ लिखा है—

ब्राह्मणसदृशोऽय ग्रन्थोऽनुब्राह्मणम् ।

अर्थात्—ब्राह्मण सदृश ग्रन्थ अनुब्राह्मण कहाता है ।

अनुब्राह्मण शब्द का निर्देश करके निदान सूत्र में अनेक वचन उद्धृत हैं ।

हमारे विचार में अनुशाखा के समान अनुब्राह्मण भी ब्राह्मणों के अवान्तर विभाग थे ।

इस विषय पर अधिक विचार ब्राह्मण ग्रन्थों के इतिहास में करेंगे ।

इसी प्रकार अनुकल्प, अनुस्मृति, अनुतन्त्र और अनुशासन आदि शब्द द्रष्टव्य हैं ।

सौत्र शाखाएं

अनेक शाखाए इस समय केवल सौत्र शाखाए हैं। यथा भारद्वाज, सत्याषाढ आदि शाखाए। इन्हें कोई विद्वान् चरणों में नहीं गिनता। न इनकी वर्तमान में स्वतन्त्र संहिता है और न ब्राह्मण। बहुत सम्भव है किसी काल में इन की स्वतन्त्र शाखाए थीं।

महाभारत कुम्भघोण संस्करण शान्तिपर्व अध्याय १७० में लिखा है—

पृष्टश्च गोत्रचरण स्वाध्याय ब्रह्मचारिकम् ॥२॥

अर्थात्—राक्षस ने उस ब्राह्मण से उसका गोत्र, चरण, शाखा और ब्रह्मचर्य पूछा। स्वाध्याय का अर्थ यहां शाखा प्रतीत होता है और चरण से यह पृथक् गिना गया है।

शाखाएं क्या हैं

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि ये चरण और शाखाए क्या हैं। इस विषय में दो मत उपस्थित किये जाते हैं। प्रथम मत है कि शाखाए वेद के अवयव हैं। सब शाखाएं मिलकर चरण बनता है। और सब चरण मिलकर पूरा वेद बनता है। दूसरा मत है, कि शाखाए वेद व्याख्यान हैं। अब इन दोनों मतों की परीक्षा की जाती है।

प्रथम मत—शाखाएं वेदावयव हैं

इस मत के पूर्णतया मानने में भारी आपत्ति है। यदि यह मत मान लिया जाए तो निम्नलिखित दोष आते हैं—

१—हम अभी कह चुके हैं, कि कई विद्वानों के अनुसार अनेक शाखाएं सौत्र शाखाए हैं। यदि शाखाए वेदावयव ही मानी जाए, तो अनेक सूत्र ग्रन्थ भी वेद बन जाएगे। यह बात वैदिक विचार के सर्वथा विपरीत है।

२—यह मत पहले भी अनेक विद्वानों को अभिमत नहीं रहा। नृसिंहपूर्वतापिनी उपनिषद् प्राचीन उपनिषद् प्रतीत नहीं होती, पर शङ्कर आदि आचार्यों से पूर्व ही मान्यदृष्टि से देखी जाने लग पड़ी थी। उस में लिखा है—

ऋग्यजु:सामाथर्वाणश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः सशाखाश्चत्वारः पादा भवन्ति ।१।२॥

अर्थात्—ऋग्, यजुः, साम और अथर्व चार वेद हैं ये साथ अङ्गों के और साथ शाखाओं के चार पाठ होते हैं।

यहां शाखाओं को वेदों से पृथक् कर दिया है।

३—बृहज्जाबालोपनिषद् के आठवें ब्राह्मण के पांचवें खण्ड में लिखा है—

य एतद्बृहज्जाबालं नित्यमधीते स ऋचोऽधीते स यजूंष्यधीते स सामान्यधीते सोऽथर्वाणमधीते सोऽङ्गिरसमधीते स शाखा अधीते स कल्पानधीते।

यहां भी शाखा और कल्प आदिकों को वेदों से पृथक् गिना है।

४—इसी प्रकार यदि सब शाखाएं वेदावयव ही होतीं तो विश्वरूप बालक्रीडा १।७ में यह न लिखता—

न हि मैत्रायणीशाखा काठकस्यात्यन्तविलक्षणा।

अर्थात्—मैत्रायणी शाखा काठक से बहुत भिन्न नहीं है।

सम्भवतः विश्वरूप ने यह भाव पतञ्जलि से ग्रहण किया है। वह लिखता है—

अनुवदते कठः कलापस्य।२।४।३॥

अर्थात्—कठ कलाप का अनुवाद (= उत्तरकालीन प्रवचन) है।

दूसरा मत—शाखाएं वेद-व्याख्यान हैं

इस मत के पोषक अनेक प्रमाण हैं, जो नीचे लिखे जाते हैं—

१—वायु आदि पुराणों में लिखा है—

सर्वास्ता हि चतुष्पादाः सर्वाश्चैकार्थवाचिकाः।
पाठान्तरे पृथग्भूता वेदशाखा यथा तथा॥५९॥

वायु पु० अध्याय ६१।

अर्थात्—उस चतुष्पाद एक पुराण की अनेक संहिताएं बनीं। उन में पाठान्तरों के अतिरिक्त अन्य कोई भेद नहीं था। यह पाठान्तरों का भेद वैसा ही था जैसा कि वेद शाखाओं में है।

इस वचन से ज्ञात होता है कि मूल पुराण के पाठान्तर जिस प्रकार जान बूझ कर व्याख्यानार्थ ही किये गये थे, वैसे ही वेद संहिताओं के पाठान्तर भी जान बूझ कर व्याख्यानार्थ ही किए गए। अब इन पाठान्तरों वाली संहिताओं का नाम ही शाखा है।

२—इसी विचार की पुष्टि में पुराणों का दूसरा वचन है—

प्राजापत्या श्रुतिर्नित्या तद्विकल्पास्त्विमे स्मृता ॥

वायु० पु० ६१।७५॥

अर्थात्—प्रजापति=हिरण्यगर्भ से उत्पन्न श्रुति नित्य है, पर शाखाएं उस का विकल्पमात्र हैं।

३—पाणिनीय सूत्र **तेन प्रोक्तम्** ४।३।१०१ पर टीका करते हुए काशिका-विवरण-पञ्जिका का कर्ता जिनेन्द्रबुद्धि लिखता है—

तेन व्याख्यात तदध्यापितं वा प्रोक्तमित्युच्यते।

अर्थात्—व्याख्या करने अथवा पढाने को प्रवचन कहते हैं। शाखा प्रोक्त हैं। अतः व्याख्यान या अध्यापन के कारण ये ऐसा कहाती हैं।

इसी सूत्र पर महाभाष्यकार पतञ्जलि का भी ऐसा ही मत है—

न हि च्छन्दांसि क्रियन्ते। नित्यानि च्छन्दांसीति। यद्यप्यर्थो नित्यो या त्वसौ वर्णानुपूर्वी सानित्या। तद्भेदाच्चैतद्भवति काठक कालापकं मौदक पैप्पलादकमिति।

अर्थात्—छन्द कृत नहीं हैं। छन्द नित्य हैं। यद्यपि अर्थ नित्य हैं, पर वर्णानुपूर्वी अनित्य है। उसी अनित्य वर्णानुपूर्वी के भेद से काठक, कालापक आदि भेद हो गये हैं।

इससे स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि वर्णानुपूर्वी अनित्य कहने से पतञ्जलि का अभिप्राय शाखाओं के पाठान्तरों से ही है। परन्तु क्योंकि वह अर्थ को नित्य मानता है, अत. पाठान्तर एक ही मूल अर्थ को कहने वाले व्याख्यान हैं।

४—महाभाष्य ४।१।३९ में आये हुए **छन्दसि क्नमेके** वचन का यही अर्थ है कि शाखाओं में कई आचार्य **असिक्न्यस्योषधे** पाठ पढ़ते हैं और दूसरे **असितास्योषधे** पढते हैं। प्रातिशाख्यो में भी यही नियम पढा गया है। इस का अभिप्राय भी यही है कि शाखाओं के अनेक पाठ अनित्य हैं। वेद का मूल पाठ ही नित्य है।

याज्ञवल्क्य का निर्णय

५—भगवान् याज्ञवल्क्य इस विषय में एक निर्णयात्मक सिद्धान्त बतलाते हैं। माध्यन्दिन शतपथ १।४।३।३५ में उन का प्रवचन है—

तदु हैके ऽन्वाहुः। होता यो विश्ववेदस इति नेदरमित्यात्मान

ब्रवाणीनि तदु तथा न ब्रूयान्मानुषꣳ हि ते यज्ञे कुर्वन्ति व्यृद्ध वै तद्यज्ञस्य यन्मानुष नेदृव्यद्ध यज्ञे करवाणीति तस्माद् यथैवर्चानूक्तमेवानुब्रूयाद् ।

अर्थात्—अमुक यज्ञ में शाखा के पाठ न पढे। कई लोग ऐसा करते हैं। ऐसा पाठ मानुष है और यज्ञ की सिद्धि का बाधक है। अतः जैसा ऋचा=मूल ऋग्वेद में पाठ है, वैसा पढे।

मूल ऋक् पाठ की रक्षा का याज्ञवल्क्य को कैसा ध्यान था। विद्वान् लोग इस पर गम्भीर विचार करें।

६—इस मत को स्पष्ट करने वाला एक और भी प्रमाण है। भरत नाट्यशास्त्र का प्रसिद्ध भाष्यकार आचार्य अभिनवगुप्त लिखता है—

तत्र नाट्यशास्त्रशब्देन चेदिह ग्रन्थस्तद्ग्रन्थस्येदानीं करण न तु प्रवचनम्। तद्धि व्याख्यानरूप करणाद्भिन्नम्। कठेन प्रोक्तामिति यथा।

अर्थात्—यदि नाट्यशास्त्र शब्द से यहा ग्रन्थ का ग्रहण है, तो उसका कर्तृत्व अभिप्रेत है, प्रवचन नहीं। प्रवचन व्याख्यान होता है और करण से पृथक् होता है, जैसे काठक प्रवचन कठका व्याख्यान है।

अभिनवगुप्त का यहां स्पष्ट यही अभिप्राय है कि शाखाप्रवचन और व्याख्यान समानार्थक शब्द हैं।

शाखाओं के पाठान्तर

शाखाओं में पाठान्तर करके किस प्रकार से व्याख्यान किया गया है, इसके कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

१—ऋग्वेद में एक पाठ है—**सचिविद सखाय** १०।७१।६॥ इसी का व्याख्यान तै० आ० में है—**सखिविद सखायं** १।३।१॥२।१५।१॥

२—यजुर्वेद में एक पाठ है—**भ्रातृव्यस्य वधाय** १।१८॥ इसी का व्याख्यान काण्व स० मे है—**द्विषतो वधाय** १।३॥

३—अगला मन्त्रभाग यजुर्वेद ६।४०॥१०।१८, काण्व सहिता ११।३।३, तैत्तिरीय सहिता १।८।१०।१२, काठक सहिता १५।७ और मैत्रायणीय सहिता ११।६।६ में क्रमशः उपलब्ध है—

एष वो ऽमी राजा	यजुः
एष व कुरवो राजैष पञ्चाला राजा	काण्व
एष वो भरता राजा	तै०
एष ते जनते राजा	काठक
एष ते जनते राजा	मैत्रा०

यजु पाठ मूल पाठ है।[1] उस के स्थान में प्रत्येक शाखाकार अपने जनपद का स्मरण करता है। काठक और मैत्रायणी शाखाएं गणराज्यों में प्रवचन की जाने लगी थीं। अत. उन का पाठ 'जनते' है। वहा जनता ही सर्व प्रधान थी।

यही पाठान्तर हैं, जो एक प्रकार का व्याख्यान हैं। इन्ही पाठान्तरों के कारण अनेक शाखाएं बनी हैं। इनके अतिरिक्त कुछ शाखाओं में और विशेषतया ऋग्वेदीय शाखाओं में, दो चार सूक्तों की न्यूनता वा अधिकता दिखाई देती है। यथा शाकलों में कई वालखिल्य सूक्त नहीं हैं, परन्तु बाष्कलों में ये मिलते हैं। मूल ऋग्वेद में ये सारे समाविष्ट हैं।

उच्चारण-भेद से शाखाभेद—तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के अनुसार अनेक शाखाए उच्चारणभेद से बनी हैं। एक मन्त्राश के तीन पाठ उपलब्ध होते हैं। यथा—

सरद् ढ वा अश्वस्य।
सरद् ह वा अश्वस्य।
सरद्ढ् ह वा अश्वस्य।[2]

लुप्त ऋचाएं

ब्राह्मण, उपनिषद् और श्रौत सूत्रों में अनेक ऋचाए हैं, जो वर्तमान ऋग्वेद में नहीं मिलतीं, परन्तु उन में से कुछ एक उपलब्ध शाखाओं में मिल जाती हैं। यथा ऐतरेय ब्राह्मण में प्रतीक-पठित अनेक ऋचाएं। उनकी स्थिति किस प्रकार से निर्णीत होगी, यह गम्भीर प्रश्न है।

यह शाखा-विषय अत्यन्त जटिल है। जब तक वेदों की अधिकाश शाखाए उपलब्ध न हों, तब तक हम इससे अधिक कुछ नहीं कह सकते। अत अनुपलब्ध शाखाओं के अन्वेषण का पूर्ण प्रयत्न होना चाहिए।

१—माध्यन्दिन पाठ क्यों मूल यजु पाठ है, यह आगे लिखेंगे।
२—तै० प्रा० ५।३८—४०॥

द्वादश अध्याय

ऋग्वेद की शाखाएं

आचार्य पैल

व्यास मुनि से ऋग्वेद पढने वाले शिष्य का नाम पैल था। पाणिनीय सूत्र २।४।५१ के अनुसार पैल पिता और पैल पुत्र हैं। पाणिनीय सूत्र ४।१।११८ के अनुसार माता पीला का पुत्र पैल है। भगवान् व्यास महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के समय ऋत्विक् कर्म के लिए पैल को अपने साथ लाए थे। उसके विषय में महाभारत सभापर्व अध्याय ३६ में लिखा है—

पैलो होता वसोः पुत्रो धौम्येन सहितोऽभवत् ॥३५॥

अर्थात्—उस यज्ञ में धौम्य के साथ वसु का पुत्र पैल होता का कर्म कर रहा था।

इससे पता लगता है कि यह पैल वसु का पुत्र था। होता का कर्म ऋग्वेदीय लोग करते हैं, अतः बहुत सम्भव है कि यह पैल व्यास का ऋग्वेद पढ़ने वाला शिष्य ही हो। पुराणों में लिखा है कि व्यास से ऋग्वेद पढ कर पैल ने उसकी दो शाखाएं कीं। एक को उसने बाष्कल को पढ़ाया और दूसरी को इन्द्रप्रमति को। इन्द्रप्रमति की परम्परा में उसके चरण की आगे कई अवान्तर शाखाएं बनीं। इन्द्रप्रमति की संहिता माण्डूकेय को मिली। उस से यह सत्यश्रवा, सत्यहित और सत्यश्रिय को क्रमश मिलती गई। ये तीनों नाम कुछ भ्राताओं के से प्रतीत होते हैं। सम्भव है कि ये तीनों माण्डूकेय के शिष्य हों, परन्तु पुराणों में ऐसा नहीं लिखा। अनुशासन पर्व अध्याय ८ श्लोक ५८—६७ तक गार्त्समद वंश का वर्णन है। उस वंश में वागिन्द्र के पुत्र का नाम प्रमति बताया गया है। उसके सम्बन्ध में वहीं लिखा है—

प्रकाशस्य च वागिन्द्रो बभूव जयतांवरः।
तस्यात्मजश्च प्रमतिर्वेदवेदाङ्गपारगः ॥६४॥

अर्थात्—वागिन्द्र का पुत्र प्रमति वेद-वेदाङ्ग पारग था।

इस प्रमति का विशेषण वेदवेदाङ्ग पारग है। हमें तो यही पैल का शिष्य प्रतीत होता है। यह सारी परम्परा निम्नलिखित चित्र से स्पष्ट हो जायगी-

पैल का शिष्य इन्द्रप्रमति कहा गया है। एक इन्द्रप्रमति एक वसिष्ठ का पुत्र था। इस का दूसरा नाम कुणि भी था। ब्रह्माण्ड पुराण तीसरा पाद ८।९७ में लिखा है कि इस इन्द्रप्रमति का पुत्र वसु और वसु का पुत्र उपमन्यु था। एक उपमन्यु निरुक्तकार भी था। यद्यपि अधिक सामग्री के अभाव में सुनिश्चित रूप से अभी तक कुछ नहीं कहा जा सकता, परन्तु इतना जान पड़ता है कि पैल, वसु, यह इन्द्रप्रमति और उपमन्यु आदि परस्पर सम्बन्धी थे। शाकपूणि और बाष्कलि भारद्वाज के शिष्य इस चित्र में नहीं लिखे गए।
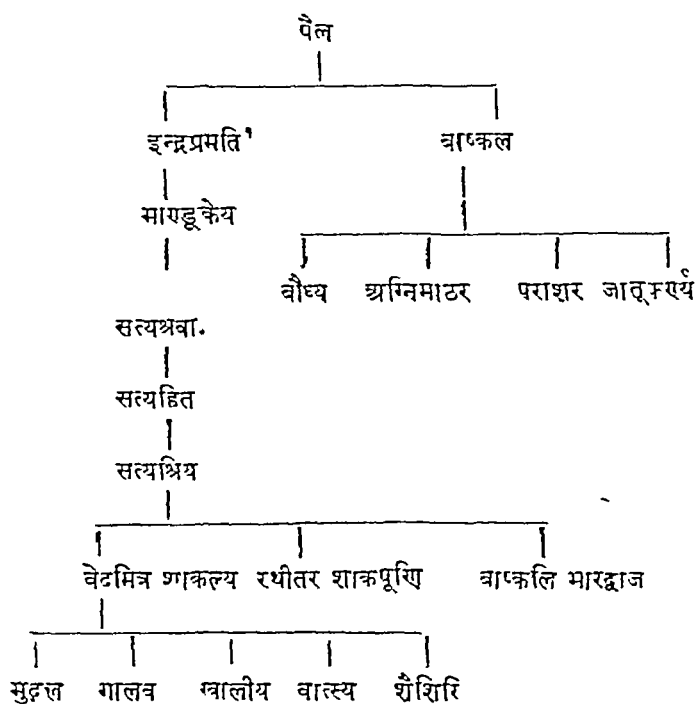
इन ऋषियों द्वारा ऋग्वेद की जितनी शाखाएं बनीं, अब उनका उल्लेख किया जाता है।

---

१. विष्णु पुराण षष्ठ अंश अ० ८ में पुराण प्राप्ति की परम्परा का उल्लेख है। तदनुसार मुनि वेदशिरा ने प्रमति को पुराण दिया और प्रमति ने जातूकर्ण (=जातूकर्ण्य) को दिया। गीता प्रेस गोरखपुर के संवत् १९९० के संस्करण में महाभ्रष्ट पाठ है।

इक्कीस आर्च शाखाएं

पतञ्जलि अपने व्याकरण महाभाष्य के पस्पशाह्निक में लिखता है—

एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्।

अर्थात्—इक्कीस प्रकार का बह्वृच आम्नाय है।

प्रपञ्चहृदय के द्वितीय अर्थात् वेदप्रकरण में लिखा है—

बाह्वृच एकविंशतिधा। अथर्ववेदो नवधा। तत्र केनचित्कारणेन शतक्रतुना वज्रघातिता वेदशाखाः। तत्रावशिष्टाः सामबाह्वृचयोर्द्वादश द्वादश। . . . । बाह्वृचस्य—

ऐतरेय-बाष्कल-कौषीतक जानन्ति-वाहवि गौतम-शाकल्य-बाभ्रव्य-पैङ्ग-मुद्गल-शौनकशाखा।

अर्थात्—ऋग्वेद इक्कीस प्रकार का है। उन में से बारह प्रकार की वेद शाखा बची हैं। वे हैं ऐतरेय आदि।

ध्यान रहे कि १२ बारह कह कर गिनती ग्यारह की की है, सम्भव है मुद्रित पाठ भ्रष्ट हो गया हो।

इन्हीं शाखाओं से सम्बन्ध रखने वाला एक लेख दिव्यावदान (सभवत दूसरी शती विक्रम) नामक बौद्ध ग्रन्थ में मिलता है। उस पाठ को शुद्ध करके हम नीचे लिखते हैं—

सर्वे ते बह्वृचाः पुष्प एको भूत्वा विंशतिधा भिन्नाः। तद्यथा शाकलाः। बाष्कलाः। माण्डव्या इति। तत्र दश शाकला। अष्टौ बाष्कला। सप्त माण्डव्या इत्ययंब्राह्मण बह्वृचानां शाखा पुष्प एको भूत्वा पञ्चविंशतिधा भिन्नाः।

यह पाठ मुद्रित पुस्तक में बड़ा अशुद्ध है। इस की अशुद्धता का इसी से प्रमाण है कि बह्वृचों की पहले २० शाखा कह कर पुन. २५ गिना दी हैं। सम्भव है प्राचीन पाठ में दोनों स्थानों पर २१ पाठ हो।

जैन आचार्य अकलङ्कदेव अपने राजवार्तिक में दो स्थानों पर वेद की कुछ शाखाओं का नाम लिखता है।[1] उन दोनों स्थानों का पाठ मिला कर और शुद्ध कर के हम नीचे लिखते हैं—

शाकल्य वाष्कल कौथुमि सात्यमुग्रि चारायण कठ माध्य-

---

१ पृ० ५१ और २६४। मुद्रित-पाठ बहुत भ्रष्ट है।

न्दिन मौद पैप्पलाद बादरायण अंबष्टकृत ? ऐतिकायन वसु जैमिनि आदीनामज्ञानदृष्टीनां सप्तषष्टिः।

अर्थात्—शाकल्य आदि ६७ शाखाएं हैं। इन में से प्रथम दो ऋग्वेद की शाखाएं हैं।

आथर्वण परिशिष्ट चरणव्यूह में लिखा है—

तत्र ऋग्वेदस्य सप्त शाखा भवन्ति । तद्यथा आश्वलायनाः । शांखायना । साध्यायना । शाकला । बाष्कलाः । औदुम्बराः । माण्डूकाश्चेति ।

इन मे साध्यायन और औदुम्बर कौन हैं, यह निर्णय करना कठिन है । सम्भव है ये पाठ भ्रष्ट हो गए हों ।

अणुभाष्य १।१।१८ में स्कन्द पुराण से निम्नलिखित प्रमाण दिया गया है—

चतुर्धा व्यभजत्तांश्च चतुर्विंशतिधा पुनः ।
शतधा चैकधा चैव तथैव च सहस्रधा ॥
कृष्णो द्वादशधा चैव पुनस्तस्यार्थवित्तये ।
चकार ब्रह्मसूत्राणि येषां सूत्रत्वमञ्जसा ॥

अर्थात्—ऋग्वेद की चौबीस शाखाएं थीं ।

आर्च शाखाओं के पांच मुख्य विभाग

ऋग्वेदीय इक्कीस शाखाओं के पाच मुख्य विभाग हैं । उन के विषय मे कहा है—

एतेषां शाखा पञ्चविधा भवन्ति । शाकलाः । बाष्कला । आश्वलायना । शांखायना । माण्डूकेयाश्चेति ।

अर्थात्—ऋग्वेदीय शाखाएं पञ्चविध हैं । कई शाकल, कई बाष्कल, कई आश्वलायन, कई शांखायन और कई माण्डूकेय कहाती हैं ।

मैक्समूलर और हरिप्रसाद की भ्रान्ति

चरणव्यूह के पूर्वोक्त वचन का अर्थ करते हुए हमने कई शाकल, कई बाष्कल आदि माने हैं । मैक्समूलर चरणव्यूह के इस वचन का ऐसा अर्थ नहीं समझता । चरणव्यूह कथित ऋग्वेद के इन पाच चरणों का नाम लिख कर वह कहता है—

---

१ तुलना करो—पातञ्जल महाभाष्य, २।४।५८॥

We miss the names of several old Sakhas such as the Aitareyins, Saisiras, Kaushitakins, Paingins,[1]

परन्तु नीचे शैशिर पर टिप्पणी में लिखता है—

The Saisira sakha, however, may perhaps be considered as a subdivision of the Sakala sakha [1]

अर्थात्—"चरणव्यूह में ऐतरेय, शैशिर, कौषीतकि और पैङ्गि आदि प्राचीन शाखाओं के नाम नहीं हैं। हां शैशिर शाखा सम्भवतः शाकल शाखा का अवान्तर भेद हो सकता है, क्योंकि पुराणों में ऐसा ही लिखा है।"

इसी प्रकार स्वामी हरिप्रसाद भी शाकल को कोई एक ऋषिविशेष समझते हैं। उन के वेदसर्वस्व में लिखा है—

इस संहिता का सब से प्रथम सूक्त और मण्डलों में विभाग करने वाला शाकल ऋषि माना जाता है। पृ० २४।

पुनः वहीं लिखा है—

ऋक्संहिता का प्रवचनकर्ता शाकल बहुत प्राचीन और पदसंहिता का आविष्कर्ता शाकल्य उसकी अपेक्षा अर्वाचीन है। पृ० ३४

मैक्समूलर को इन पांच मुख्य विभागों के अवान्तर भेदों के सम्बन्ध में कुछ खटका हुआ, परन्तु स्वामी हरिप्रसाद ने शाकल को शाकल्य से भी पूर्व मान कर बड़ी भूल की है। मैक्समूलर, हरिप्रसाद आदि विद्वानों की इस भूल का कारण अगले लेख से स्पष्ट हो जाएगा।

शाकल्य का काल

ऋग्वेद सायण भाष्य के पूना संस्करण के चतुर्थ भाग में खिल सूक्तों की भूमिका लिखते हुए काशीकर जी ने लिखा है—

Sakalya, who redacted the Rigveda Samhita lived, as Geldner has shown, in the later Vajasaneya period he was a contemporary of Aruni mentioned in many Brahmanas

अर्थात्—शाकल्य जिस ने ऋग्वेद संहिता का संकलन किया उत्तर वाजसनेय काल में था।

आलोचना—इतिहास ज्ञान से शून्य योरोपियन लेखकों के उच्छिष्ट-

1, History of ancient Sanskrit Literature, 1860, p, 368

भोजी काशीकर जी का यह लेख सार का एक अणु भी नहीं रखता। पूर्व संहिता काल और उत्तर संहिता काल की तर्कहीन वृथा कल्पना के आधार पर लिखा गया लेख हेय है। शाकल्य संहिता का प्रवचन कर्त्ता कृष्ण द्वैपायन के प्रशिष्यों में है। उसका काल भारतयुद्ध से लगभग १०० वर्ष पूर्व का है। इस निश्चित कालगणना को छोड़ कर अनृत भाषा मतों पर आश्रित कालगणना का अनुसरण बुद्धिमानों का काम नहीं।

१—शाकल शाखाएं

तेरह वर्ष हो चुके, जब ऋग्वेद पर व्याख्यान नाम का ग्रन्थ हमने लिखा था।[1] उस के प्रथम ३३ पृष्ठों में हमने यह बताया था कि शाकल नाम का कोई ऋषिविशेष नहीं हुआ। इस के विपरीत शाकल शब्द शाकल्य के छात्रों वा शाकल्य की शिक्षा आदि के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। यह बात अब और भी अधिक सत्य प्रतीत होती है। जिस प्रकार वाजसनेय याज्ञवल्क्य के पन्द्रह शिष्य वाजसनेय कहाए और उन की प्रवचन की हुई जाबाल आदि संहिताएं वाजसनेय संहिता के समान-नाम से पुकारी जाने लगीं, तथा जिस प्रकार याजुष आचार्य वैशम्पायन चरक के अनेक शिष्य चरकाध्वर्यु कहाए, और उन की कठादि शाखाएं चरकशाखा भी कहाईं, और जिस प्रकार कलापि के हरिद्रु आदि शिष्य कालाप कहाए और उन की शाखाएं कालाप कहाईं, ठीक उसी प्रकार शाकल्य के अनेक शिष्य शाकल कहाए और उन की प्रवचन की हुई संहिताएं भी शाकल कहाईं। वे शाकल संहिताएं कौन कौन थीं, अब इस विषय की विवेचना की जाती है। वायुपुराण अध्याय ६० में कहा है—

> देवमित्रस्तु शाकल्यो महात्मा द्विजसत्तमः।
> चकार संहिताः पञ्च बुद्धिमान् पदवित्तम ॥६३॥
> तच्छिष्या अभवन् पञ्च मुद्गलो गोलकस्तथा।
> खालीयश्च तथा मत्स्यः शैशिरेयस्तु पञ्चमः ॥६४॥[2]

इसी प्रकार ब्रह्माण्ड पुराण अध्याय ३५ में लिखा है—

> वेदमित्रश्च शाकल्यो महात्मा द्विजपुंगवः।

१. आज संवत् २०१२ में इसे ३४ वर्ष हो गए।

२. आनन्दाश्रम संस्करण।

चकार संहिताः पञ्च बुद्धिमान् वेदवित्तम ॥१॥
पञ्च तस्याभवञ्छिष्या मुद्गलो गोखलस्तथा ।
खलीयान् सुतपा वत्स शैशिरेयश्च पञ्चमः ॥२॥[1]

इसी विषय का निम्नलिखित पाठ विष्णु पुराण ३।४ में है—

देवमित्रस्तु[2] शाकल्य संहितां तामधीतवान् ।
चकार संहिता पञ्च शिष्येभ्यः प्रददौ च ता ।
तस्य शिष्यास्तु ये पञ्च तेषां नामानि मे शृणु ॥२१॥
मुद्गलो गोखलश्चैव वात्स्य. शालीय एव च ।
शिशिर पञ्चमश्चासीत् मैत्रेय स महामुनिः ॥२२॥[3]

पूर्वोक्त पाठ मुद्रित पुराणों से दिए गए हैं । इन पाठों में शाखा प्रवचन कर्ता ऋषियों के नाम बड़े भ्रष्ट हो गए हैं । दयानन्द कालेज के पुस्तकालय में ब्रह्माण्ड पुराण का एक कोष है । संख्या उस की है २८११ । विष्णु पुराण के तो वहां अनेक कोष हैं । उन में से संख्या १८५० और ४५४७ के कोषों का पाठ अधिक शुद्ध है । उन सब को मिलाने से वायु का निम्नलिखित पाठ हमने शुद्ध किया है—

वेदमित्रस्तु शाकल्यो महात्मा द्विजसत्तमः ।
चकारसंहिताः पञ्च बुद्धिमान् पदवित्तम. ॥६३॥
तच्छिष्या अभवन् पञ्च मुद्गलो गालवस्तथा ।
शालीयश्च तथा वात्स्य शैशिरेयस्तु पञ्चमः ॥६४॥[4]

अर्थात्—वेदमित्र[5] शाकल्य के पांच शिष्य थे । उन को उस ने पांच संहिताएं दीं । उन के नाम ये मुद्गल, गालव, शालीय, वात्स्य और शैशिरेय ।

१—वेङ्कटेश्वरप्रेस संस्करण ।

२—कलकत्ता संस्करण में 'वेदमित्रस्तु' पाठ है ।

३—कृष्णशास्त्री का संस्करण, मुम्बई ।

४ आश्चर्य है कि वायु पुराण के पाठ में शाखा-प्रवचनकारों के नामों का जो शोधित पाठ हमने दिया है वैसा पाठ केशव के ऋग्वेद कल्पद्रुम के उपोद्घात मे वायु पुराण के नाम से उद्धृत श्लोकों में हैं । इस पुस्तक की प० युधिष्ठिरजी मीमांसक ने काशी के प्रसिद्ध ऋग्वेदी जडेजी दीक्षित की पुस्तक से सं० १९९१ में प्रतिलिपि की थी ।

५. तुलना करो, कौषीतकि गृह्य २।५।५ 'पाञ्चाल वेदमित्रम् ।'

शिशिर ऋषि का जो पुत्र था उसके नाम के तद्धित नियम के अनुसार तीन रूप थे—शैशिरेय, शैशर, और शैशिरि (तुलना करो-अष्टाध्यायी ४।१।११६)।

इस विषय से सम्बन्ध रखने वाले निम्नलिखित श्लोक भी ध्यान देने योग्य हैं। ये श्लोक शैशिरि शिक्षा के आरम्भ में मिलते हैं। इस शिक्षा का एक हस्तलेख मद्रास के राजकीय संग्रह में है—

मुद्गलो गालवो गार्ग्य शाकल्यशैशिरीस्तथा।[1]
पञ्च शौनक शिष्यास्ते शाखाभेदप्रवर्तका ॥
शैशिरस्य तु शिष्यस्य शाकटायन एव च ।[2]

इन श्लोकों का पाठ भी पर्याप्त भ्रष्ट हो गया है। **गार्ग्य** के स्थान में यहां **वात्स्य** पाठ चाहिए और शाकल्य के स्थान में शालीय चाहिए। इसी प्रकार शौनक के स्थान में शाकल्य चाहिए, इत्यादि।

विकृतिवल्ली पर गङ्गाधर की एक टीका है। उस टीका में उद्धृत किए दो श्लोक हमने अपने ऋग्वेद पर व्याख्यान के पृ० ३२ पर लिखे हैं। उन श्लोकों का पाठ भी अत्यधिक बिगड़ गया है, और प्राचीन सम्प्रदाय के सर्वथा विरुद्ध है।

इतने लेख से यह ज्ञात हो जायगा कि शाकल शाखाएं पांच थीं। उन के नाम निम्नलिखित थे।

पांच शाकल शाखाएं

१—मुद्गल शाखा। इस शाखा की संहिता का अभी तक हमें ज्ञान नहीं हो सका। न ही इस के ब्राह्मण, सूत्रादि का पता लगा है। प्रपञ्च-हृदय नामक ग्रन्थ के लिखे जाने के काल तक यह शाखा विद्यमान थी। ऋग्वेदीय शाखाओं के नामों में वहां मुद्गल शाखा का नाम मिलता है। एक मुद्गल का नाम बृहद्देवता में दो वार आया है।

महानैन्द्र प्रत्नवत्याम् अग्निं वैश्वानरं स्तुतम्।
मन्यते शाकपूणिस्तु भार्म्यश्वश्चैव मुद्गल ॥४६॥ अध्याय६।

१ त्रिगर्तों का पुरोहित शैशिरायण (शैशिरिका पुत्र) गार्ग्य हरिवंश पृष्ठ ५७ पर स्मृत है।

2 Triennial Catalogue of Sanskrit Mss Vol IV, part, IC, 1928, pp. 549, 97

आय गौरिति यत्सूक्तं सार्पराज्ञी स्वयं जगौ ॥८९॥
तस्मात्सा देवता तत्र सूर्यमेके प्रचक्षते ।
मुद्गलः शाकपूणिश्च आचार्यं शाकटायन. ॥९०॥ अध्याय ९

इन दो प्रमाणों में से प्रथम प्रमाण में मुद्गल को भृम्यश्व का पुत्र कहा गया है । दूसरे प्रमाण में उस के साथ कोई विशेषण नहीं जोड़ा गया । परन्तु दोनों स्थानों को ध्यानपूर्वक देख कर यह कहा जा सकता है कि इन दोनों स्थानों में वर्णन है एक ही आचार्य का । इसी भार्म्यश्व मुद्गल का नाम निरुक्त ९।२३ में मिलता है—

तत्रेतिहासमाचक्षते । मुद्गलो भार्म्यश्व ऋषिर्वृषभ च द्रुघणं च युक्त्वा सग्रामे व्यवहृत्याजिं जिगाय ।

यही भार्म्यश्व मुद्गल ऋग्वेद १०।१०२ का ऋषि है । इस सूक्त के कई मन्त्रों में मुद्गल शब्द आता है । वह शब्द किसी व्यक्तिविशेष का वाचक नहीं । यास्क ने वेद मन्त्रों को समझाने के लिए एक काल्पनिक ऐतिहासिक घटना लिखी है । यह नहीं हो सकता कि शाकल्य, जैमिनि आदि ऋषियों का समकालीन मुद्गल मन्त्रों को बनाए और जैमिनि आदि ऋषि उन्हीं मन्त्रों को नित्य कहें ।[1] विद्वानों को इस बात पर गम्भीर विचार करना चाहिए ।

शाकपूणि ऋग्वेद का एक शाखाकार है । उसके साथ स्मरण होने वाला आचार्य शाखाकार है अथवा शाखाकारों के काल का कोई वेद-विद्या-विशारद अध्यापक । यदि वह पूर्व-वर्णित मुद्गल है तो वह अतिदीर्घ-जीवी होगा । इसका निर्णय अभी हम नहीं कर पाए । इतना निश्चित है कि शाखाकार मुद्गल शाकल्य का एक शिष्य था ।

कलकत्ता के प्रोफेसर सीतानाथ प्रधान वृहस्पति ने एक पुस्तक सन् १९२७ में प्रकाशित की थी । नाम है उसका प्राचीन भारत का कालक्रम (Chronology of Ancient India) । उस में उन्होंने अनेक स्थानों पर इसी

---

१ वर्तमान मीमांसा सूत्र उसी जैमिनि मुनि के हैं जो शाखाकार जैमिनि था । इस विषय पर सत्क्षेप से इस इतिहास के दूसरे भाग (प्रथम स०) के पृ० ८०–८३ पर लिखा जा चुका है । इसका विस्तृत वर्णन सूत्र ग्रन्थों के इतिहास लिखते समय किया जायगा ।

भार्म्यश्व मुद्गल का उल्लेख किया है। उन के अनुसार भृम्यश्व की कुल परम्परा ऐसी थी—
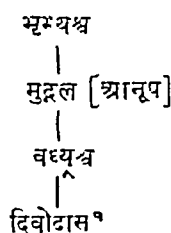
इस परम्परा को हम भी ठीक मानते हैं। अब विचारने का स्थान है कि यह दिवोदास भृम्यश्व से चौथे स्थान पर है। हम यह भी जानते हैं कि किसी मुद्गल का एक गुरु शाकल्य था। गुरु-परम्परा की दृष्टि से व्यास इस शाकल्य से कुछ पहले था। प्रो० सीतानाथ प्रधान वध्र्यश्व के पुत्र दिवोदास का वर्णन कई ऋग्वेदीय मन्त्रों में बताते हैं।[2] दिवोदास ही नहीं, प्रत्युत उनके अनुसार तो दिवोदास के पुत्र या दिवोदास के समकालीन पैजवन के पुत्र सुदास का वर्णन भी ऋग्वेद में है।[3]

महाभारत और पुराणों के अनुसार मुद्गल आङ्गिरस पक्ष या गोत्र वाले थे। महाभारत वन पर्व अध्याय २६१ में किसी मुद्गल का उल्लेख है। व्यास जी उस के दान की कथा युधिष्ठिर को सुनाते हैं। महाभारत शान्तिपर्व अध्याय २४०।३२ में शतद्युम्न के मुद्गल के लिए हिरण्य-वेश्म के दान का उल्लेख है। बिहार प्रान्त में कई लोगों ने हम से कहा था कि वर्तमान मुंगेर प्राचीन अङ्गदेश की राजधानी थी। वहीं जाह्नवी तीर पर मुद्गल का आश्रम था। हमें इस के निर्णय करने का अवसर नहीं मिल सका।

---

१. पृ० ११ तथा ८६।

२. पृ० ८६।

३. पृ० ८५,८६। प्रो० सीतानाथ इस विषय में ऋग्वेद ७।८।२५ का प्रमाण देते हैं। एक दिवोदास भीमसेन का पुत्र था। देखो काठक संहिता ७।८।। परन्तु प्रो०सीतानाथ का अभिप्राय वध्र्यश्व पुत्र दिवोदास से ही है। उनके अनुसार ऋ० ६।६१।१ में ऐसा ही संकेत है—

दिवोदासं वध्र्यश्वाय दाशुषे

गोत्र भेद—मुद्गल नाम के अनेक ऋषि हो सकते हैं। यदि शाखाकार दीर्घजीवी और भार्म्यश्व नहीं था, तो किसी दूसरे मुद्गल की खोज करनी चाहिए जो शाखाकार हो।

क्या निरुक्त ९।९ में स्मरण किया हुआ शतबलाक्ष मौद्गल्य इसी मुद्गल का पुत्र और वध्र्यश्व का भ्राता था। यह विचार करना चाहिए।

आयुर्वेदीय चरक संहिता सूत्रस्थान २५।८ में **पारीक्षि मौद्गल्य** और २६।३।८ में **पूर्णाक्ष मौद्गल्य** के नाम मिलते हैं। बृहदारण्यक के अन्त में **नाक मौद्गल्य** स्मृत है। ये ऋषि महाभारत कालीन हैं।

मुद्गलों का उल्लेख आश्वलायन श्रौत १२।१२ आदि में है।

२—गालव शाखा—इस शाखा की संहिता अभी तक अप्राप्त है। न इस का ब्राह्मण और न सूत्र अभी तक मिला है। यह गालव पाञ्चाल अर्थात् पञ्चाल देश निवासी था। इस का दूसरा नाम बाभ्रव्य था। कामसूत्र में इसी को बाभ्रव्य पाञ्चाल कहा गया है।[1] इसी ने ऋग्वेद का क्रमपाठ बनाया था। इस का उल्लेख ऋक्प्रातिशाख्य, निरुक्त, बृहद्देवता और अष्टाध्यायी आदि में मिलता है। ये सब बातें इस इतिहास के द्वितीय भाग में सविस्तर दी गई हैं।

इसी बाभ्रव्य=गालव का नाम आश्वलायन,[2] कौषीतकि[3] और शाम्बव्य[4] गृह्यसूत्रों के ऋषितर्पण प्रकरणों में मिलता है। प्रपञ्चहृदय में भी बाभ्रव्य शाखा का नाम मिलता है। यह बाभ्रव्य कौशिक (विश्वामित्र की परम्परा में) था। इस के लिए देखो अष्टाध्यायी ४।१।१०६॥ व्याकरण महाभाष्य १।१।४४ मे निम्नलिखित पाठ है—

आचार्यदेशशीलेन यदुच्यते तस्य तद्विषयता प्राप्नोति। इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य (६।३।६१) प्राचामवृद्धात् फिन्बहुलम् (४।१।

---

१ भारतीय इतिहास की रूपरेखा के पृ० २१८ पर विद्यालङ्कार प० जयचन्द्र का मत है कि कामशास्त्र का प्रणेता कोई दूसरा बाभ्रव्य था। मत्स्य पु० का साक्ष्य इसके विपरीत है। श्वतेकेतु नाम के समय समय पर अनेक आचार्य हो चुके हैं, अत नहीं कह सकते कि कामशास्त्र का रचयिता श्वेतकेतु कौन था।

२ ३।३।५॥

३ ४।१०॥

4. Indische Studien vol XV, p 154

१६०) इति गालवा एव ह्रस्वान् प्रयुञ्जीरन् प्राश्नु चैव हि फिन् स्यात्। तद्यथा जमदग्निर्वा एतत् पञ्चममवदानमवाद्यत् तस्माज्जामदग्न्यः पञ्चावत्तं जुहोति।

पतञ्जलि ने इस लेख से गालव के एक विशेष नियम का परिचय दिया है।

पहले लिख चुके हैं गालव पाञ्चाल था। पाञ्चाल देश आधुनिक बरेली के आस पास का प्रदेश है।

ऐतरेय आरण्यक ५।३ में लिखा है—

नेदमेकस्मिन्नहनि समापयेत' इति ह स्माह जातूकर्ण्यः। समापयेत् इति गालव।

अर्थात्—इस महाव्रताध्ययन को एक ही दिन में समाप्त न करे, ऐसा जातूकर्ण्य का मत है। समाप्त करे, यह गालव का मत है।

इस स्थान पर जिन दो आचार्यों के मत दिखाए गए हैं, वे दोनों हमारी सम्मति में शाखाकार आचार्य ही हैं। यही गालव एक शाकल है।

आयुर्वेद की चरकसंहिता के आरम्भ मे हिमालय के पास अनेक ऋषियों का एकत्र होना लिखा है। आयुर्वेद की चरक आदि संहिताएं महाभारत काल में प्रतिसंस्कृत हुई थीं। उस समय वेद की शाखाओं और ब्राह्मण ग्रन्थ का प्रवचन भी हो रहा था। वेद-शाखा-प्रवचनकर्ता अनेक ऋषि दूसरे शास्त्रों के भी कर्ता थे।[1] चरकसंहिता के आरम्भ में एक गालव का भी उल्लेख है।

महाभारत सभापर्व के चतुर्थाध्याय में लिखा है—

सभायामृषयस्तस्यां पाण्डवैः सह आसते ॥१५॥

पवित्रपाणिः सावर्णो भालुकिर्गालवस्तथा ॥२१॥

अर्थात्—जब मय वह दिव्य सभा बना चुका तो युधिष्ठिर ने उस में प्रवेश किया। उस समय गालव आदि ऋषि भी वहां पधारे थे।

---

१. इसी अभिप्राय से गौतम ने—"मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च" इत्यादि न्यायसूत्र रचा। और चरकोपवर्णित ऋषियों के सम्पूर्ण इतिहास को जानते हुए ही वात्स्यायन ने—"य एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च त एवायुर्वेद-प्रभृतीनाम्"—लिखा है।

इसी पर्व के सातवें अध्याय के दशम श्लोक में भी गालव स्मरण किया गया है। निस्सन्देह यह गालव ऋग्वेदीय आचार्य है।

स्कन्द पुराण नागर खण्ड पृ० १६८ (क) के अनुसार एक गालव कौरव राज्य के मन्त्री विदुर से मिला था। ऐतरेय ब्रा० ७।१ और आश्वलायन श्रौत में एक **गिरिज बाभ्रव्य** का नाम मिलता है। जैमिनीय उप० ब्रा० ३।४१।१ तथा ४।१७।१ में शङ्ख बाभ्रव्य स्मरण किया गया है।

बाभ्रव्य = गालव सम्बन्धी ऐतिहासिक कठिनाई

मत्स्यपुराण २१।३० में बाभ्रव्य को सुबालक और दक्षिण पाञ्चाल के राजा ब्रह्मदत्त का मन्त्री कहा है। सुबालक नाम गालव का भ्रष्ट पाठ प्रतीत होता है। हरिवंश में अध्याय २० मे इसी ब्रह्मदत्त का वर्णन मिलता है। तदनुसार यह ब्रह्मदत्त भीष्म जी के पितामह प्रतीप का समकालीन था।

इस का स्पष्टीकरण निम्नलिखित वंशक्रम से होगा।

प्रतीप (= प्रतिप)—ब्रह्मदत्त—बाभ्रव्य
|
शन्तनु
|
भीष्म— व्यास

मत्स्य आदि पुराणों में इसी के मन्त्री बाभ्रव्य को ऋग्वेद के क्रमपाठ का कर्ता कहा गया है। यह बाभ्रव्य पाञ्चाल व्यास जी से कुछ पहले हो चुका था। यदि इस का आयु बहुत ही अधिक न हो, तो यह शाखा-प्रवचन काल तक परलोक गमन कर गया होगा। अतः सम्भव है कि इस के कुल वा शिष्य परम्परा में आने वाले विद्वान् भी गालव ही कहाए हों और उन्हीं में से कोई एक ऋग्वेदीय शाखाकार हो। ऐसी ही ऐतिहासिक कठिनाई सामवेद के प्रकरण में राजा हिरण्यनाभ कौसल्य के विषय में आएगी। पार्जिटर ने भी अपनी प्राचीन भारतीय ऐतिह्य परम्परा के पृ० ६४, ६५ पर इस कठिनाई का उल्लेख किया है। अस्तु, हम इस कठिनाई को अभी तक सुलझा नहीं सके।

स्कन्द पुराण महेश्वर खण्डान्तर्गत कौमारिका खण्ड अ० ५४ में निम्न श्लोक है—

स च बाभ्रव्यनामा वै हारीतस्यान्वयोद्भव।
ब्राह्मणो नारदमुने. समीपे वर्तते सदा॥

३ – शालीय शाखा। इस शाखा के संहिता, ब्राह्मण और सूत्रादि

अभी तक नहीं मिले। काशिकावृत्ति के उदाहरणों में अन्य शाखाकार ऋषियों के साथ ही इसका भी स्मरण किया गया है। यथा—

आश्वलायनः। ऐतिकायन। औपगव। औपमन्यवः। शालीय।१।१।१॥

तथा—

गार्गीयः। वात्सीय। शालीय.।४।२।११४॥

४—**वात्स्य शाखा**—इस शाखासम्बन्धी हमारा ज्ञान शालीय शाखा के सदृश ही है। इस शाखा के विषय में महाभाष्य ४।२।१०४ पर "गोत्र-चरणाद् वुञ्" वार्तिक के चरण सम्बन्धी निम्नलिखित उदाहरण देखने योग्य हैं—

काठकम्। कालापकम्।...... गार्गकम्।' वात्सकम्। मौदकम्। पैप्लादकम्॥

इन उदाहरणों से यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि कोई वात्सी शाखा थी।

शांखायन आरण्यक के कुछ हस्तलेखों में ८।३ और ८।४ के अन्तर्गत एक **बाध्वः** पाठ है। इसी का पाठान्तर दूसरे हस्तलेखों में **वात्स्य** है। सम्भव है यहां वात्स्य पाठ ही ठीक हो। ऐतरेय आरण्यक ३।२३ में ऐसे ही स्थान पर यद्यपि **बाध्व** पाठ है, और सायण भी इसी पाठ पर भाष्य करता है तथापि ऐसा अनुमान होता है कि ऐतरेय आरण्यक में भी वात्स्यः पाठ ही चाहिये।

शान्तिपर्व ४६।६ के अनुसार भीष्म की शरशैया के समीप एक वात्स्य उपस्थित था।

शुक्ल यजुओं में एक वत्स या पौण्ड्रवत्स शाखा मानी गई है। उन्हीं के वत्स गृह्य का उल्लेख हेमाद्रि ने किया है। वत्सों अथवा वात्स्यों का अधिक उल्लेख याजुष शाखाओं के वर्णन प्रकरण में करेंगे।

५—**शैशिरि शाखा**—इस शाखा के संहिता, ब्राह्मण आदि भी नहीं मिलते। परन्तु इसका उल्लेख तो अनेक स्थानों में मिलता है। अनुवाकानुक्रमणी में लिखा है—

ऋग्वेदे शैशिरीयायां संहितायां यथाक्रमम्।
प्रमाणमनुवाकानां सूक्तैः शृणुत शाकलाः॥१॥

अर्थात्—हे शाकल्य के शैशिरि आदि शिष्यो ऋग्वेद की शैशिरि संहिता में अनुवाकों का सूक्तों के साथ जैसा क्रमानुसार प्रमाण है, वह सुनो।

ऋक्प्रातिशाख्य के प्रारम्भिक श्लोकों में लिखा है—

छन्दोज्ञानमाकार भूतज्ञानं छन्दसां व्याप्तिं स्वर्गामृतत्वप्राप्तिम् ।
अस्य ज्ञानार्थमिदमुत्तरत्र वक्ष्ये शास्त्रमखिलं शैशिरीये ॥७॥

अर्थात्—ऋक्प्रातिशाख्य शैशिरीय शाखा सम्बन्धी है।

शैशिरीय शिक्षा का उल्लेख पहले पृ० १८७ पर किया जा चुका है। एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता के ऋक्सर्वानुक्रमणी के कुछ हस्तलेखों के अन्त में लिखा है—

शाकल्ये शैशिरीयके । संख्या २२१, २२५।

विकृतिवल्ली में, जो व्याडि रचित कही जाती है, लिखा है—

शैशिरीये समाम्नाये व्याडिनैव महर्षिणा ।
जटाद्या विकृतीरष्टौ लक्ष्यन्ते नातिविस्तरम् ॥४॥

अर्थात्—शैशिरीय समाम्नाय में व्याडि ने जटा आदि आठ विकृतियां कही हैं।

शैशिरीय शाखा का परिमाण

शौनक की अनुवाकानुक्रमणी के अनुसार इस शाखा में—

८५ अनुवाक
१०१७ सूक्त
२००६ वर्ग और
१०४१७ मन्त्र हैं।

इस शाखा का जितना वर्णन अनुवाकानुक्रमणी और ऋक्प्रातिशाख्य में मिलता है, उससे इस शाखा की संहिता का ज्ञान हो सकता है।

सायण का भाष्य जिस शाखा पर है वह अधिकांश में शैशिरि है।

ब्रह्माण्ड पुराण तीसरा पाद ६७।६ के अनुसार चन्द्रवंशी शुनहोत्र के कुल में शल के लड़के आर्ष्टिषेण का पुत्र एक शिशिर था। वह क्षत्रियकुल में उत्पन्न होने पर भी ब्राह्मण था। सम्भव है इसी के कुल में शैशिरि हुआ हो।

शाकल्य संहिता

इन पांच शाकल शाखाओं का मूल शाकल्य, शाकलक या शाकलेयक संहिता थी। वैदिक सम्प्रदाय में इस संहिता का बड़ा आदर रहा है। व्याकरण महाभाष्य में लिखा है—

शाकल्यस्य संहितामनुप्रावर्षत् । ... शाकल्येन सुकृतां संहितामनुनिशम्य देवः प्रावर्षत् ।१।४।८४॥

अर्थात्—शाकल्य से भले प्रकार की गई संहिता के पाठ की समाप्ति पर बादल बरसा।

कात्यायन की ऋक्सर्वानुक्रमणी इसी संहिता पर प्रतीत होती है। उसका आरम्भ वचन है—

अथ ऋग्वेदाम्नाये शाकलके ..... ।

इस का अर्थ करते हुए षड्गुरुशिष्य अपनी वेदार्थदीपिका में लिखता है—

शाकल्योच्चारण शाकलकम् ।

इससे अनुमान होता है कि यह सर्वानुक्रमणी सम्भवत. शाकलों की सब संहिताओं के लिए है।

शाकलों की संहिता के अन्त में संज्ञान सूक्त के होने की आशा नहीं। अनेक प्रमाणों के अनुसार यह तो बाष्कल संहिता का अन्तिम सूक्त है। है। अत. ऋक्सर्वानुक्रमणी के मैकडानल के संस्करण के अन्त में संज्ञानसूक्त का उल्लेख सन्देहजनक है।

शाकल्य का पदपाठ इसी मूल संहिता पर है। उस के विषय में अनुवाकानुक्रमणी में लिखा है—

शाकल्यदृष्टे पदलक्षमेकं सार्धं च वेदे त्रिसहस्रयुक्तम् ।
शतानि चाष्टौ दशकद्वयं च पदानि षट् चेति हि चर्चितानि ॥४५॥

अर्थात्—शाकल्य संहिता में १५३८२६ पद हैं।

छन्द:संख्या नामक ग्रन्थ में भी कहा है—

एकपञ्चाशदृग्वेदे गायत्र्य. शाकलेयके ॥१॥

ऐतरेय आरण्यक के भाष्य में सायण भी शाकल्यसंहिता को स्मरण करता है—

ता एता नवसंख्याका द्विपदा शाकल्यसंहितायामाम्नाता ।

इसी शाकल्य संहिता को वा सम्भवतः इसकी अवान्तर शाखाओं को नवीन हस्तलेखों में शाकल संहिता भी कहा गया है। यथा—

एशियाटिक सोसायटी संख्या २५६ गाणी (**शाकलसंहितायां**)

अनुशासन पर्व और शाकल्य—अनुशासन पर्व के ४५वें अध्याय में महादेव की स्तुति गाई गई है। इस प्रकरण में कहा गया है कि शाकल्य ने मनोयज्ञ द्वारा भव की स्तुति की। सन्तुष्ट भगवान् ने उसे वर दिया कि तुम ग्रन्थकार हो जाओगे और तुम्हारा पुत्र सूत्रकर्त्ता होगा।[1]

यह ग्रन्थकार शाकल्यपदसंहिता का कर्त्ता प्रतीत होता है।

२—बाष्कल शाखाएं

बाष्कल नाम के कई व्यक्ति प्राचीन काल में हो चुके हैं। दिति के पुत्र हिरण्यकशिपु के पांच पुत्रों में भी एक बाष्कल था। आदि पर्व ५६।१८ में ऐसा ही लिखा है। भारत-युद्ध-काल का प्राग्ज्योतिष का प्रसिद्ध राजा भगदत्त आदि पर्व ६१।६ के अनुसार इसी बाष्कल का अवतार था। यह बाष्कल शाखाकार बाष्कल नहीं था।

विष्णुपुराण अंश ३ अ० ४ श्लोक १६, १७ में बाष्कल को बाष्कलि भी कहा है। विष्णुपुराण का टीकाकार श्रीधरस्वामी बाष्कलि में इञ् प्रत्यय स्वार्थ में मानता है। पूर्व पृष्ठ १८१ पर चित्र में दर्शाया वेदमित्र शाकल्य का सतीर्थ्य बाष्कलि इस पैल शिष्य बाष्कलि से भिन्न है। है। विष्णु पुराण के टीकाकार ने भी स्पष्ट लिखा है—

अपर एव शाकल्यसतीर्थ्यो बाष्कलिः। अंश३ अ०१४ श्लोक२६।

ब्रह्माण्ड पुराण पूर्व भाग अध्याय ३४ में लिखा है—

चतस्रः संहिताः कृत्वा बाष्कलो द्विजसत्तमः।
शिष्यानध्यापयामास शुश्रूषाभिरतान् हितान् ॥२६॥
बोध्या तु प्रथमां शाखां द्वितीयामग्निमातरम्।
पाराशरीं तृतीयां तु याज्ञवल्क्यामथापराम् ॥२७॥

ब्रह्माण्ड पुराण का एक कोष दयानन्द कालेज के पुस्तकालय में है। उसकी संख्या २८११ है। उस के १२१ पत्रे पर २७ वें श्लोक का पाठ निम्नलिखित प्रकार का है—

---

१ श्लोक ८४—८६ ॥

वौध्य तु प्रथमां शाखां द्वितीयमग्निमाठर।
पराशर तृतीय तु याज्ञवल्क्यामथापर ॥

ब्रह्माण्ड पुराण पूर्व भाग के ३३वें अध्याय में जहा बह्वृच ऋषियो के नाम हैं, लिखा है—

संध्यास्तिर्माठरश्चैव याज्ञवल्क्य पराशर ॥३॥

इन्हीं श्लोकों से मिलते हुए श्लोक वायु, विष्णु और भागवत पुराणों में मिलते हैं। विष्णु पुराण के दयानन्द कालेज के दो कोशों में, जिन में कि प्राचीन पाठ अधिक सुरक्षित प्रतीत होता है, लिखा है—

वौद्धाग्निमाठरौ तद्वज्जातूकर्णपराशरौ ।

दयानन्द कालेज के सख्या ४५४७ वाले कोश का यह पाठ है। सख्या १८५० वाले कोप में वौद्ध के स्थान मे वौध्य पाठ है।

पुराणों के मुद्रित पाठो और हस्तलेखो के अनेक पाठों को देख कर हमने ब्रह्माण्ड का निम्नलिखित पाठ शुद्ध किया है—

वौध्यं तु प्रथमां शाखां द्वितीयामग्निमाठरम् ।
पराशर तृतीयां तु जातूकर्ण्यमथापराम् ॥

अर्थात्—बाष्कल ने चार सहिताए बना कर अपने चार शिष्यों को पढाई। उन चारों के नाम थे, वौध्य, अग्निमाठर, पराशर और जातूकर्ण्य।

जातूकर्ण्य पाठ इस लिए ठीक है कि कौपीतकि गृह्य ४।१० के पितृतर्पण में जातूकर्ण्य नाम स्मृत है, याज्ञवल्क्य नहीं।

याज्ञवल्क्य के स्थान में जातूकर्ण्य पाठ इस लिए भी ठीक है कि श्रीमद्भागवत के द्वादश स्कन्ध के वेद-शाखा प्रकरण में जातूकर्ण्य को ही ऋग्वेदीय आचार्य माना है।

१—वौध्य शाखा—वौध्य आङ्गिरस गोत्र का था। पाणिनि मुनि का सूत्र है—

कपिवोधादाङ्गिरसे ॥४।१।१०७॥

अर्थात्—आङ्गिरस गोत्र वाले वोध का पुत्र वौध्य है। दूसरे गोत्र वाले वोध के पुत्र को वौधि कहते हैं।

इसी आचार्य का नाम बृहद्देवता के अष्टमाध्याय में मिलता है।

मैकडानल के संस्करण का पाठ है—

अस्यै मे पुत्रकामायै गर्भमाधेहि यः पुमान् ।
आशिषो योगमेतं हि सर्वगर्धेन मन्यते ॥८४॥
एकारमनुकम्पार्थे नाम्नि स्मरति माठरः ।
आख्याते भूतकरण बाष्कला आव्ययोरिति ॥८५॥

राजेन्द्रलाल मित्र के संस्करण के प्रथम श्लोक का पाठ निम्नलिखित है—

असौ मे पुत्रकामाया अब्दादर्द्धे च तत्कृतम् ।
आशिषो योगमेतं हि वाह्वचौ गोर्थेन मन्यते ॥१२५॥

मैकडानल इस श्लोक की टिप्पणी में लिखता है कि इस का पाठ बहुत भ्रष्ट है, और उस का अपना मुद्रित किया हुआ पाठ भी विश्वसनीय नहीं है। सर्व के स्थान में मैकडानल ६ पाठान्तर देता है । वे हैं— **बह्वचो । वाह्वचौ । वह्वो । वह्वौ । वह्वो । बह्वो ।** इन पाठान्तरों को देख कर हम इस श्लोकार्ध का निम्नलिखित पाठ समझते हैं—

आशिषो योगमेतं हि बौध्योऽर्धर्चेन मन्यते ।

इस श्लोक में किसी आचार्य के नाम के बिना **मन्यते** क्रिया निरर्थक हो जाती है । वह नाम बौध्य है । मैकडानल के पाठान्तर इस का कुछ सकेत कर रहे हैं । ८५ वें श्लोक में वर्णन किया हुआ माठर, सम्भवतः अग्निमाठर है । और ये दोनों आचार्य बाष्कल हैं ।

महाभारत आदि पर्व १।४८।६ में **बोधिपिङ्गल** नाम का एक आचार्य स्मरण किया गया है । वह जनमेजय के सर्पसत्र में अध्वर्यु का कृत्य कर रहा था । बोध्य नाम का एक ऋषि नहुषपुत्र ययाति के काल में भी था । उस के पदसचय की कथा शान्तिपर्व १७६।५७ से आरम्भ होती है ।

इस ऋषि की संहिता, ब्राह्मणादि का पता भी अभी तक नहीं लगा ।

२—अग्निमाठर शाखा—सम्भवतः इसी माठर का वर्णन बृहद्देवता के पूर्वोद्धृत श्लोक में आ चुका है। इस के सम्बन्ध में भी इस से अधिक पता अभी तक नहीं लग सका।

३—पराशर शाखा—पाराशरी संहिता का नामोल्लेख अभी तक हमें अन्यत्र नहीं मिला । एक अरुणपराशर ब्राह्मण को कुमारिल अपने तन्त्रवार्तिक में स्मरण करता है—

अरुणपराशरशाखाब्राह्मणस्य कल्परूपत्वात् ।[1]

सम्भवतः यह अरुणपराशर शाखा इस पराशर शाखा की उपशाखा हो।

अष्टाध्यायी ४।२।१०५ पर काशिका और उस के व्याख्यानों में एक **आरुणपराजी कल्प** का नाम मिलता है। क्या यह अरुणपराशर शाखा से भिन्न कोई शाखा है।

बौधायन श्रौत गोत्र प्रकरण पृष्ठ ४६२ पर अरुणपराशर एक गोत्र उल्लिखित है।

व्याकरण महाभाष्य मे एक उदाहरण है—

पाराशरकल्पिक । ४।२।६०॥

निस्सन्देह यह ऋग्वेदीय पराशर शाखा का कल्प था।

४—जातूकर्ण्य शाखा—बाष्कलों की चौथी शाखा जातूकर्ण्य शाखा है। एक जातूकर्ण्य आचार्य का नाम शाखायन श्रौतसूत्र मे चार बार मिलता है।[2] अन्तिम स्थान में उसे जल=जड जातूकर्ण्य कहा है, और लिखा है कि वह काशी के राजा, विदेह के राजा और कोसल के राजा का पुरोहित हुआ था। उस का पुत्र एक श्वेतकेतु था ।

एक जातूकर्ण्य शाखायन गृह्य ४।१०।३ और शांव्य गृह्य के ऋषितर्पण प्रकरणों में स्मरण किया गया है। उस का इस शाखा से सम्बन्ध सम्भव प्रतीत होता है। जातूकर्ण्य का नाम कौषीतकि ब्राह्मण आदि में भी मिलता है। आयुर्वेद की चरक संहिता के प्रारम्भ में भी एक जातूकर्ण्य का नाम मिलता है, परन्तु इन सभी स्थानों पर एक ही जातूकर्ण्य स्मरण किया गया है, यह अभी निश्चित नहीं हो सका।

जातूकर्ण्य, जातूकर्ण वा जातूकर्णि धर्मसूत्र के प्रमाण बालक्रीड़ा प्रथम भाग पृ० ७ और स्मृतिचन्द्रिका आह्निक प्रकाश पृ० ३०२ आदि पर मिलते हैं। यह धर्मसूत्र ऋग्वेदीय था।

दशम अध्याय पृ० १६७ पर कृष्णद्वैपायन के गुरु एक जातूकर्ण्य का नाम उपनिषद् और पुराणों के प्रमाण से हम पहले लिख चुके हैं। वह और यह जातूकर्ण्य एक प्रतीत होता है।

---

१ चौखम्बा सस्करण पृ० १६४।

२. १।२।१७॥३।१६।१४॥३।२०।१८॥१६।२९।६॥

बाष्कल संहिता

अनुमान होता है कि शाकल्य संहिता के समान बाष्कलों की भी कोई एक सामान्य संहिता थी। संहिता ही नहीं प्रत्युत बाष्कलों का अपना ब्राह्मण भी पृथक् था। शुक्लयजु प्रतिज्ञा सूत्र के अनन्त भाष्य में लिखा है—

बाष्कलादिब्राह्मणानां तानरूपैकस्वर्यम्।[1]

अर्थात्—बाष्कल आदि ब्राह्मणों का तानरूप एक स्वर होता है। शाकल्य की वा बाष्कलों की जो विशेषताएं हैं, वे आगे लिखी जाती हैं।

१—आश्वलायन गृह्यसूत्र में लिखा है—

समानी व आकूतिरित्येका।
तच्छंयोरावृणीमह इत्येका।

इस के व्याख्यान में देवस्वामी सिद्धान्त भाष्य में लिखता है—

येषां पूर्वा समाम्नाये स्यात्तेषां नोत्तरा। येषामुत्तरा तेषां न पूर्वा। यत्तत् प्रतिज्ञासूत्रे उपदिष्ट शाकलस्य बाष्कलस्य समाम्नायस्येयुक्तम्।[2]

पुन हरदत्त अपने भाष्य में लिखता है—

समानी व इति शाकलस्य समाम्नायस्यान्त्या तदध्यायिनामेषा।

तच्छंयोरिति बाष्कलस्य तदध्यायिनामेषा।

नारायण वृत्ति में भी ऐसा ही लिखा है—

शाकलसमाम्नायस्य बाष्कलसमाम्नायस्य चेदमेव सूत्रं गृह्यं चेत्यध्येतृप्रसिद्धम्। त[illegible] [illegible]लानां—समानी व आकूतिः। इत्येषा ति संहितान्त्यत्वात

बाष्कलानां तु [illegible] णीमहे इत्येषा भवति संहिता-
।

छंयोरावृणी [illegible] सूक्त को अन्तिम अर्थात् पन्द्रहवीं [illegible] बाष्कलों [illegible] समान सूक्त है। [illegible] गृह्यसूत्र [illegible] ही मत है [illegible] ता है कि शा[illegible] ता का

सू०

अन्त भी सज्ञान सूक्त के साथ होता है। इस विषय में बाष्कलों और शांखायनों का अधिक मेल है।

शाखायन गृह्य के आङ्गल भाषा अनुवाद में अध्यापक बूहलर लिखता है—

It is well known that तच्छंयोरावृणीमहे is the last verse in the Bashkala Sakha which was adopted by the Sankhayana school[1]

अर्थात्—शाखायन चरण वाले बाष्कल शाखा को अपनी संहिता स्वीकार करते हैं।

यह भूल है। शांखायनों की अपनी शांखायन संहिता है, और यह सूक्त उसका भी अन्तिम सूक्त होगा। अथवा सम्भव है कि पूर्वोक्त चार बाष्कलों में से किसी एक के शिष्य शाखायन आदि हों। परन्तु यह निश्चित है कि शाखायनों की संहिता अपनी ही थी।

२—अनुवाकानुक्रमणी में लिखा है—

गौतमादौशिज कुत्सः परुच्छेपादृषेः परः।
कुत्साद्दीर्घतमा इत्येष तु बाष्कलक क्रम ॥२१॥

अर्थात्—शाकल्य क्रम से बाष्कलों के क्रम में प्रथम मण्डल में इतना भेद है। बाष्कलों के क्रम के अनुसार—

उप प्रयन्तः = गोतम सूक्त ७४-९३।

नासत्याभ्याम्=औशिज[२] अर्थात् उशिक् के पुत्र कक्षीवान् के सूक्त ११६—१२६।

अग्निं होतारं=परुच्छेप। सूक्त १२७-१३९।

इमं स्तोमं = कुत्स सूक्त ९४-११५।

वेदिषदे=दीर्घतमा सूक्त १४०-१६४।

यह क्रम है। शाकल क्रम में कुत्स के सूक्तों का स्थान गोतम के सूक्तों के पश्चात् है।

इसी अभिप्राय का श्लोक बृहद्देवता ३।१२५ है।

३—बाष्कलों के प्रातिशाख्य-नियम वरदत्तसुत आनर्तीय के शाखायन श्रौतसूत्र भाष्य १।२।५ और १२।१३।५ में मिलते हैं।

1,—S B E. Vol XXIX P I P 13

२—अनुक्रमणी दैर्घतमस।

वाष्कल संहिता

अनुमान होता है कि शाकल्य संहिता के समान वाष्कलों की भी कोई एक सामान्य संहिता थी। संहिता ही नहीं प्रत्युत वाष्कलों का अपना ब्राह्मण भी पृथक् था। शुक्लयजु प्रतिज्ञा सूत्र के अनन्त भाष्य में लिखा है—

वाष्कलादिब्राह्मणानां तानरूपैकस्वर्यम्।[1]

अर्थात्—वाष्कल आदि ब्राह्मणों का तानरूप एक स्वर होता है। शाकल्य की वा वाष्कलों की जो विशेषताएं हैं, वे आगे लिखी जाती हैं।

१—आश्वलायन गृह्यसूत्र में लिखा है—

समानी व आकूतिरित्येका।
तच्छयोरावृणीमह इत्येका।

इस के व्याख्यान में देवस्वामी सिद्धान्त भाष्य में लिखता है—

येषां पूर्वा समाम्नाये स्यात्तेषां नोत्तरा। येषामुत्तरा तेषां न पूर्वा। यत्तत् प्रतिज्ञासूत्रे उपदिष्ट शाकलस्य बाष्कलस्य समाम्नायस्येयुक्तम्।[2]

पुन हरदत्त अपने भाष्य में लिखता है—

समानी व इति शाकलस्य समाम्नायस्यान्त्या तदध्यायिनामेषा।

तच्छयोरिति बाष्कलस्य तदध्यायिनामेषा।

नारायण वृत्ति में भी ऐसा ही लिखा है—

शाकलसमाम्नायस्य बाष्कलसमाम्नायस्य चेदमेव सूत्रं गृह्यं चेत्यध्येतृप्रसिद्धम्। तत्र शाकलानां—समानी व आकूतिः। इत्येषा भवति संहितान्त्यत्वात्।

बाष्कलानां तु तच्छयोरावृणीमहे इत्येषा भवति संहितान्त्यत्वात्।

तच्छयोरावृणीमहे, यह संज्ञान सूक्त की अन्तिम अर्थात् पन्द्रहवीं ऋचा है। अतः बाष्कलों का अन्तिम सूक्त संज्ञान सूक्त है। शांखायनगृह्यसूत्र ४।५ का भी यह ही मत है। इस से ज्ञात होता है कि शांखायन संहिता का

---

१ प्रति० ८ सू०।

२ दयानन्द कालेज का कोष स० ५५५५ पत्र ७७ ख।

अन्त भी सज्ञान सूक्त के साथ होता है। इस विषय में बाष्कलों और शाखायनों का अधिक मेल है।

शाखायन गृह्य के आङ्गल भाषा अनुवाद में अध्यापक बूहलर लिखता है—

It is well known that तच्छंयोरावृणीमहे is the last verse in the Bashkala Sakha which was adopted by the Sankhayana school[1]

अर्थात्—शाखायन चरण वाले बाष्कल शाखा को अपनी संहिता स्वीकार करते हैं।

यह भूल है। शाखायनों की अपनी शांखायन संहिता है, और यह सूक्त उसका भी अन्तिम सूक्त होगा। अथवा सम्भव है कि पूर्वोक्त चार बाष्कलों में से किसी एक के शिष्य शाखायन आदि हों। परन्तु यह निश्चित है कि शांखायनों की संहिता अपनी ही थी।

२—अनुवाकानुक्रमणी में लिखा है—

गौतमादौशिजः कुत्सः परुच्छेपादृषेः परः।

कुत्साद्दीर्घतमा इत्येष तु वाष्कलक क्रमः ॥२१॥

अर्थात्—शाकल्य क्रम से बाष्कलों के क्रम में प्रथम मण्डल में इतना भेद है। बाष्कलों के क्रम के अनुसार—

उप प्रयन्तः=गोतम सूक्त ७४–९३।

नासत्याभ्याम्=औशिज[2] अर्थात् उशिक् के पुत्र कक्षीवान् के सूक्त ११६—१२६।

अग्निं होतारं=परुच्छेप। सूक्त १२७-१३९।

इमं स्तोमं=कुत्स सूक्त ९४–११५।

वेदिषदे=दीर्घतमा सूक्त १४०–१६४।

यह क्रम है। शाकल क्रम में कुत्स के सूक्तों का स्थान गोतम के सूक्तों के पश्चात् है।

इसी अभिप्राय का श्लोक बृहद्देवता ३।१२५ है।

३—बाष्कलों के प्रातिशाख्य-नियम वरदत्तसुत आनर्तीय के शाखायन श्रौतसूत्र भाष्य १।२।५ और १२।१३।५ में मिलते हैं।

1,—S B E. Vol XXIX P. 1 P 13

२—अनुक्रमणी दैर्घतमस।

वाष्कल संहिता

अनुमान होता है कि शाकल्य सहिता के समान वाष्कलों की भी कोई एक सामान्य सहिता थी। सहिता ही नहीं प्रत्युत वाष्कलों का अपना ब्राह्मण भी पृथक् था। शुक्लयजु प्रतिज्ञा सूत्र के अनन्त भाष्य में लिखा है—

वाष्कलादिब्राह्मणानां तानरूपैकस्वर्यम ।[1]

अर्थात्—वाष्कल आदि ब्राह्मणों का तानरूप एक स्वर होता है। शाकल्य की वा वाष्कलों की जो विशेषताएं हैं, वे आगे लिखी जाती हैं।

१—आश्वलायन गृह्यसूत्र में लिखा है—

समानी व आकूतिरित्येका ।
तच्छंयोरावृणीमह इत्येका ।

इस के व्याख्यान में देवस्वामी सिद्धान्त भाष्य में लिखता है—

येषां पूर्वा समाम्नाये स्यात्तेषां नोत्तरा । येषामुत्तरा तेषां न पूर्वा । यत्तत् प्रतिज्ञासूत्रे उपदिष्ट शाकलस्य वाष्कलस्य समाम्नायस्येयुक्तम् ।[2]

पुन हरदत्त अपने भाष्य में लिखता है—

समानी व इति शाकलस्य समाम्नायस्यान्त्या तदध्यायिनामेषा ।

तच्छयोरिति वाष्कलस्य तदध्यायिनामेषा ।

नारायण वृत्ति में भी ऐसा ही लिखा है—

शाकलसमाम्नायस्य वाष्कलसमाम्नायस्य चेदमेव सूत्रं गृह्यं चेत्यध्येतृप्रसिद्धम् । तत्र शाकलानां—समानी व आकूतिः । इत्येषा भवति सहितान्त्यत्वात् ।

वाष्कलानां तु तच्छयोरावृणीमहे इत्येषा भवति संहितान्त्यत्वात् ।

तच्छयोरावृणीमहे, यह सज्ञान सूक्त की अन्तिम अर्थात् पन्द्रहवीं ऋचा है। अत. वाष्कलों का अन्तिम सूक्त सज्ञान सूक्त है। शाखायनगृह्यसूत्र ४।५ का भी यह ही मत है। इस से ज्ञात होता है कि शाखायन सहिता का

---

१ प्रति० ८ सू० ।

२ दयानन्द कालेज का कोश सं० ५५५५ पत्र ७७ ख ।

अर्थात्—पूर्वोक्त क्रम बाष्कल पाठ का है। महिदास ने किस अनुक्रमणी से यह लिया, यह हमें ज्ञात नहीं हो सका।

इस प्रकार स्पष्ट है कि बाष्कल शाखा के आठवें मण्डल में ९६ सूक्त होंगे।

बाष्कलों की उपद्रुत सन्धि—बाष्कलों की उपद्रुत सन्धि का वर्णन शाख्यायन श्रौत भाष्य १२।३।५ में उल्लिखित है।

कवीन्द्राचार्य के सूचीपत्र में सख्या २७ पर "बाष्कलशाखीय संहिता व ब्राह्मण" का नाम लिखा है।

एक बाष्कलमन्त्रोपनिषद् इस समय भी विद्यमान है।[1]

३—आश्वलायन शाखाएं

आश्वलायन-आर्ष काल में

प्रश्न-उपनिषद् के आरम्भ में लिखा है कि छः ऋषि भगवान् पिप्पलाद के पास गये। उन में एक **कौसल्य आश्वलायन** था। यह आश्वलायन कोसल देश निवासी होने के कारण कौसल्य कहा जाता था। बृहदारण्यक उपनिषद् ३।३।१ मे जनक के बहुदक्षिणायुक्त यज्ञ का वृत्तान्त है। उस यज्ञ के समय इस वैदेह जनक का होता अश्वल था। इस का पुत्र आश्वलायन था। यह आश्वलायन पिता की परम्परा से ऋग्वेदीय होगा। होता का कर्म ऋग्वेदीय ही करते हैं। बृ० उप० के पाठानुसार अश्वल कुरु या पाञ्चाल देश का ब्राह्मण था। अत. उस का पुत्र भी तत्स्थानीय था। प्रश्न उपनिषद् में आश्वलायन को कोसल देशवासी कहा गया है। कोसल और पञ्चाल समीप ही हैं। आयुर्वेदीय चरकसंहिता १।६ में हिमालय पर एकत्र होने वाले ऋषियों में एक आश्वलायन भी गिना गया है।

महाभारत अनुशासन पर्व ७।५४ के अनुसार आश्वलायन विश्वामित्र गोत्र के कहे गए हैं।

आश्वलायन गौतम बुद्ध के काल में

मज्झिम निकाय अस्सलायण सुत्तन्त (२।५।३) में लिखा है कि जब गौतम श्रावस्ती के जेतवन में विहार कर रहे थे, तब उन से आश्वलायन

---

१. अड्यार, मद्रास के उपनिषद् संग्रह में मुद्रित।

४—अनुवाकानुक्रमणी में लिखा है—

एतत् सहस्रं दश सप्त चैवाष्टावतो बाष्कलकेऽधिकानि।
तान्पारणे शाकले शैशिरीये वदन्ति शिष्टा न खिलेषु विप्राः ॥३६॥

अर्थात्—बाष्कलशाखा पाठ में शाकलशाखा पाठ से आठ सूक्त अधिक हैं।

इस प्रकार शाकल पाठ में १११७ सूक्त हैं और बाष्कल शाखा पाठ में ११२५ सूक्त हैं। इन आठ सूक्तों में से एक तो बाष्कल शाखा के अन्त का संज्ञान सूक्त है और शेष सात सूक्त ११ वालखिल्य सूक्तों में से पहले सात हैं।[1]

इन ११ वालखिल्य सूक्तों में से १० का उल्लेख मैकडानल सम्पादित सर्वानुक्रमणी में मिलता है। यह शाकलक सर्वानुक्रमणी का पाठ नहीं हो सकता, क्योंकि शाकल शाखा में १११७ सूक्त ही हैं।

सात वालखिल्य सूक्तों का क्रम बाष्कल शाखा में कैसा है, इस विषय में चरणव्यूह की टीका में महिदास लिखता है—

स्वादोरभक्षि [८।४८] सूक्तान्ते

अभि प्र वः सुराधसम् [८।४९]

प्र सु श्रुतम् [८।५०] इति सूक्तद्वय पठित्वा अग्न आ याह्यग्निभि' [८।६०] इनि पठेत्।

तत' आ प्र द्रव [८।८२ अथवा अष्टक ६ अध्याय ६] अध्याय

गौर्धयति [८।९४—१०३] अनुवाको दशसूक्तात्मक. शाकलस्य। पञ्चदशसूक्तात्मको बाष्कलस्य। तत्रोच्यते—

गौर्धयति [८।९४] सूक्तानन्तर

यथा मनौ सांवरणौ [८।५१]

यथा मनौ विवस्वति [८।५२]

उपम त्वा [८।५३]

एतत्त इन्द्र [८।५४]

भूरीदिन्द्रस्य [८।५५] इत्यन्तानि पञ्च सूक्तानि पठित्वा आ त्वा गिरो रथीरिव [८।९५] इति पठेयुः।

१—कई विद्वान् इन वालखिल्य सूक्तों में एक सौपर्ण सूक्त मानते हैं।

अर्थात्—पूर्वोक्त क्रम बाष्कल पाठ का है। महिदास ने किस अनुक्रमणी से यह लिया, यह हमें ज्ञात नहीं हो सका।

इस प्रकार स्पष्ट है कि बाष्कल शाखा के आठवें मण्डल में ६६ सूक्त होंगे।

बाष्कलों की उपद्रुत सन्धि—बाष्कलों की उपद्रुत सन्धि का वर्णन शाङ्खायन श्रौत भाष्य १२।३।५ में उल्लिखित है।

कवीन्द्राचार्य के सूचीपत्र में संख्या २७ पर "बाष्कलशाखीय संहिता व ब्राह्मण" का नाम लिखा है।

एक बाष्कलमन्त्रोपनिषद् इस समय भी विद्यमान है।[1]

३—आश्वलायन शाखाएं

आश्वलायन—आर्ष काल में

प्रश्न-उपनिषद् के आरम्भ में लिखा है कि छः ऋषि भगवान् पिप्पलाद के पास गये। उन में एक **कौसल्य आश्वलायन** था। यह आश्वलायन कोसल देश निवासी होने के कारण कौसल्य कहा जाता था। बृहदारण्यक उपनिषद् ३।३।१ में जनक के बहुदक्षिणायुक्त यज्ञ का वृत्तान्त है। उस यज्ञ के समय इस वैदेह जनक का होता अश्वल था। इस का पुत्र आश्वलायन था। यह आश्वलायन पिता की परम्परा से ऋग्वेदीय होगा। होता का कर्म ऋग्वेदीय ही करते हैं। बृ० उप० के पाठानुसार अश्वल कुरु या पाञ्चाल देश का ब्राह्मण था। अतः उस का पुत्र भी तत्स्थानीय था। प्रश्न उपनिषद् में आश्वलायन को कोसल देशवासी कहा गया है। कोसल और पञ्चाल समीप ही हैं। आयुर्वेदीय चरकसंहिता १।६ में हिमालय पर एकत्र होने वाले ऋषियों में एक आश्वलायन भी गिना गया है।

महाभारत अनुशासन पर्व ७।५४ के अनुसार आश्वलायन विश्वामित्र गोत्र के कहे गए हैं।

आश्वलायन गौतम बुद्ध के काल में

मज्झिम निकाय अस्सलायण सुत्तन्त (२।५।३) में लिखा है कि जब गौतम श्रावस्ती के जेतवन में विहार कर रहे थे, तब उन से आश्वलायन

---

१. अड्यार, मद्रास के उपनिषद् संग्रह में मुद्रित।

नामक एक तरुण ब्राह्मण विद्यार्थी मिला। वह कल्प, शिक्षा, तीनों वेद इतिहास आदि में प्रवीण था।[१]

बुद्ध-कालीन आश्वलायन शाखाकार नहीं था

एक दो वङ्गीय लेखकों ने लिखा है कि बुद्ध कालीन आश्वलायन ही आश्वलायन गृह्य का कर्ता था। यह बात उपहासास्पद है। शाखाकार ऋषियों ने ही अपने अपने कल्प बनाए थे। अत आश्वलायन गृह्य जो आश्वलायन कल्प का एक भाग है, शाखाकार आश्वलायन का बनाया हुआ है। शाखाकार आश्वलायन व्यास के प्रशिष्यों में से कोई था। वह तो बुद्ध काल से सहस्रों वर्ष पहले हो चुका था। बुद्ध काल का आश्वलायन आश्वलायन-शाखा पढ़ने वाला कोई ब्राह्मण मानव था। आश्वलायन शाखा पढने वाले वैसे अनेक ब्राह्मण अब भी महाराष्ट्र देश में आश्वलायन कहाते है।

आश्वलायन शाखा

चरणव्यूह निर्दिष्ट ऋग्वेदीय शाखाओं का तीसरा समूह आश्वलायनों का है। पुराणों में इस विषय का कोई उल्लेख हमें नहीं मिला। तदनुसार आश्वलायनों की कोई संहिता न थी। परन्तु चरणव्यूह का कथन बहुत प्राचीन है, अतः आश्वलायन शाखा सम्बन्धी गम्भीर विवेचना आवश्यक है।

कई लोग अनुमान करते हैं कि आश्वलायन श्रौत आदि के कारण ही आश्वलायन शाखा प्रसिद्ध हो गई होगी, कोई आश्वलायन संहिता विशेष न थी। ऐसा अनुमान हो सकता है, क्योंकि और भी अनेक सौत्र शाखाएं, यथा भारद्वाज, हिरण्यकेशी, बाधूल आदि विद्यमान हैं। परन्तु निम्नलिखित प्रमाणों से सन्देह होता है कि आश्वलायनों की कोई स्वतन्त्र संहिता भी अवश्य होगी।

१—कवीन्द्राचार्य के सूचीपत्र के पृ० १ पर संख्या २६ में **आश्वलायन संहिता व ब्राह्मण** प्रविष्ट हैं।

२—चरणव्यूह का टीकाकार महिदास आश्वलायनों की पदसंख्या दूसरी आर्च शाखाओं की संख्या से भिन्न लिखता है। महिदास के इस लेख का मूल उपलब्ध चरणव्यूहों में नहीं मिलता, परन्तु चरणव्यूह के किसी प्राचीन कोष में होगा अवश्य। मुद्रित चरणव्यूहों में ये पाठ टूटे हुए प्रतीत होता है।

---

१. त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन का अनुवाद पृ० ३८६।

३—बीकानेर के सूचीपत्र में सख्या ३८, ४७ और ६२ के सहिता और पदपाठ के कोषों के सम्बन्ध में लिखा है कि वे **आश्वलायन शाखा** के हैं। ३८, सख्या का कोष अष्टम अष्टक का है। उसके अन्त में लिखा है—

इति अष्टमाष्टके अष्टमोऽध्याय ।

परन्तु अन्तिम मन्त्र पांचवें अध्याय के बीच का ही है। क्या यह भेद शाखा का है या ग्रन्थ के त्रुटित होने से है? यदि अन्तिम पक्ष माना जाए, तो **अष्टमोऽध्यायः** भूल से लिखा गया है।

४—पञ्जाब यूनिवर्सिटी लाहौर के पुस्तकालय में ऋक् सहिता के अष्टमाष्टक का एक कोष है। वह उनके सूचीपत्र पृ० २ की सख्या २८ में प्रविष्ट है। उस के प्रथम पृष्ठ की पीठ पर लिखा है—

आश्वलायन सहिता अष्टमाष्टक ८९ पत्राणि

अन्त में ४९वें वर्ग की समाप्ति अर्थात् **समानी व आकूति** मन्त्र के अनन्तर पांच मन्त्रा का एक और वर्ग है। उस वर्ग के अन्त में ५० का अङ्क दिया है। तदनन्तर लिखा है—

इति दशमं मण्डलम्

इस कोश में कई परिशिष्ट मिलते हैं। वे सारे विना स्वर के हैं। यह ५० वां वर्ग सस्वर है अत. यह परिशिष्ट नहीं है। आश्वलायन सहिता का यही अन्तिम वर्ग होगा। इस वर्ग के पाच मन्त्र निम्नलिखित हैं—

सज्ञानमुशना ······ ॥१॥
संज्ञान न स्वेभ्य. ·· · ॥२॥
यत्कक्षीवांसं वनन पुत्रो ·· · ॥३॥
स वो मनांसि ·· ·· —·· ॥४॥
तच्छंयोरावृणीमहे ·· ·· · ॥५॥

शाकल संहिता के अन्त में सज्ञान सूक्त १५ ऋचाओं का है। आश्वलायनों का इस विषय में उन से इतना भेद होगा कि इन का अन्तिम सूक्त सम्भवतः पाच ऋचाओं का हो। इस कोश में ॥ **इति दशम मडलम्** ॥ के आगे दो पक्तिया और मिलती हैं। उन मे १५ ऋचा वाले सज्ञान सूक्त के नैहस्त्य आदि दो मन्त्र हैं। दूसरा मन्त्र आधा ही है। प्रतीत होता है कि कभी इस हस्तलेख मे एक पत्र और रहा होगा। उस पर सज्ञान सूक्त के इस

से अगले मन्त्र होंगे। ये इस संहिता के परिशिष्ट हैं, क्योंकि इन पर स्वर नहीं लगा है।

५—दयानन्द कालेज के पुस्तकालय में ऋग्वेद के ५—७ अष्टकों के पदपाठ का एक कोष है। संख्या उसकी ४१३६ है। वह तालपत्रों पर ग्रन्थाक्षरों में है। उसके अन्त में लिखा है—

समाप्ता आश्वलायनसूत्रं।

पदपाठ के अन्त में **सूत्र** कैसे लिखा गया। क्या शाखा के अभिप्राय से आश्वलायन लिखा गया है?

६—रघुनन्दन अपने स्मृतितत्व के मलमास प्रकरण में आश्वलायन ब्राह्मण का एक प्रमाण उद्धृत करता है। यथा—

आश्वलायनब्राह्मण "प्राच्यां दिशि वै देवाः सोमं राजानमक्रीणन्" सोमविक्रयीति।

यह पाठ ऐतरेय ब्राह्मण ३।१।१ में मिलता है। इस से प्रतीत होता है कि अर्वाचीन वङ्गीय और मैथिल विद्वान् ऐतरेय ब्राह्मण को ही सम्भवतः आश्वलायन ब्राह्मण कहते होंगे।

एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता के सूचीपत्र में संख्या १६६ के ग्रन्थ को आश्वलायन ब्राह्मण लिखा है। इसी पर सम्पादक ने अपने टिप्पण में लिखा है कि यह ऐतरेय ब्राह्मण से भिन्न नहीं है। इस पञ्चम पञ्चिका का पाठ सोसायटी मुद्रित ऐतरेय ब्राह्मण की पचम-पञ्चिका से मिलता है।

७—मध्य भारत के एक स्थान में आश्वलायन ब्राह्मण का अस्तित्व बताया जाता है।[1]

८—आथर्वण बृहत्सर्वानुक्रमणी के २०वें काण्ड के प्रारम्भ में लिखा है कि इस काण्ड ऋषि आदि नामों का आधार आश्वलायन अनुक्रमणी है।

९—अनन्त वाजसनेय प्रातिशाख्य १।१ की व्याख्या में आश्वलायन कृत प्रातिशाख्य का उल्लेख करता है।

सारे कल्प सूत्र अपनी शाखा का मुख्य आश्रय लेते हैं। अपनी शाखा के मन्त्र उन में प्रतीक मात्र पढे जाते हैं और दूसरी शाखाओं के मन्त्र सकल पाठ में पढे जाते हैं। इस सुनिश्चित सम्प्रदाय के सम्बन्ध में आश्वलायन कल्प क्या प्रकाश डालता है, यह विचारणीय है।

1—Catalogue of Sanskrit and Prakrit Mss in the Central Provinces and Behar, by R B Hira Lal 1926.

देवस्वामी सिद्धान्ती का मत

आश्वलायन श्रौत का पुरातन भाष्यकार देवस्वामी अपने भाष्यारम्भ मे अथतस्य समाम्नायस्य विताने इस प्रथम सूत्र की व्याख्या मे लिखता है—

अस्ति कश्चित् समाम्नायविशेषोऽनेनाचार्येणाभिप्रेत. शाकलो वा वाष्कलको वा सह निविद् पुरोरुगादिभिः । ··· ··· अथवा एतस्येत्यत्र वीप्सालोपो द्रष्टव्यः । ··· ··· एवमृग्वेदसमाम्नाया. सर्वे परिगृहीता भवन्ति ।

अर्थात्—समाम्नाय पद से आश्वलायन का अभिप्राय शाकलक अथवा बाष्कल अथवा सब ऋक्शाखाओं मे है ।

देवत्रात का मत

आश्वलायन श्रौत का दूसरा पुरातन भाष्यकार देवत्रात अपने भाष्य के आरम्भ में लिखता है—

··· ···एवं सर्वा ऋग्वेदशाखा अपि प्रमाणमिति प्राप्ते एतस्येत्युच्यते। तस्माद् येन खलु पुरुषेण या शाखा अधीता तयात्र विनिर्दिशति एतस्य ··· । तत्र चाम्नायस्येति सिद्धे समिति वचनात् अखिलं समाम्नायमुपदिशति। तस्माद् ये ऽन्यशाखायां पठिता मन्त्रास्ते सकलाः शास्त्रे उपदिश्यन्ते । ··· ··· मन्त्रेष्वपि सर्वाः शाखाः प्रमाणं स्युः। तथा सति सूक्ते नवर्चं इति वैश्वदेवसूक्तम् । नवर्चं दशर्चं चेति विकल्प· स्यात् । तस्माद्विकल्पमधिकृत्य एका एव शाखा निर्दिश्यते।··· ··· ····· तस्माद्यस्य समाम्नायस्य नवर्चं समाम्नातं स नवर्चं शसति। येन दशर्चमाम्नातं स दशर्चं शसति न विकल्पः।

अर्थात्—ऋग्वेद की समस्त शाखाओं का यह एक ही कल्प है। अत. दूसरी शाखाओं [यजु साम आदि] के मन्त्रों का पाठ इस में सकल पाठ में दिया गया है। और ऋग्वेदीय अवान्तर शाखाओं के मन्त्रों के प्रयोग के लिए भी यही एक कल्प है। इस लिए सूक्त के कहने में जिन की शाखा के सूक्तों में जितने मन्त्र होते हैं, वे उतने ही मन्त्रों का प्रयोग करते हैं । यथा वैश्वदेव सूक्त जिन की शाखा मे नौ ऋचा का है, वे नौ मन्त्रों का और जिन की शाखा में दस मन्त्रों का है, वे दश का प्रयोग करते हैं ।

नरसिंहसूनु गार्ग्य नारायण का मत

वह अपने भाष्य के आरम्भ में लिखता है—

एतस्येतिशब्दो निवित्प्रैषपुरोरुक्कुन्तापवालखिल्यमहानाम्न्यैतरेयब्राह्मणसहितस्य शाकलस्य बाष्कलस्य चाम्नायद्वयस्यैतदाश्वलायनसूत्रं नाम प्रयोगशास्त्रमित्यध्येतृप्रसिद्धसबन्धविशेष द्योतयति।

अर्थात्—यह आश्वलायन सूत्र निवित् प्रैष आदि युक्त शाकल और बाष्कल दोनों आम्नायों का एक ही है।

षड्गुरुशिष्य का मत

सर्वानुक्रमणी वृत्ति के उपोद्घात मे षड्गुरुशिष्य लिखता है—

शाकल्यस्य संहितैका बाष्कलस्य तथापरा।
द्वे संहिते समाश्रित्य ब्राह्मणान्येकविंशति॥
ऐतरेयकमाश्रित्य तदेवान्यैः प्रपूरयन्।

अर्थात्—शाकल्य और बाष्कल की संहिताओं का आश्रय लेकर तथा ऐतरेय ब्राह्मण का आश्रय लेकर और शेष बीस ब्राह्मणों से इसकी पूर्ति करके यह आश्वलायन कल्प बना है।

आश्वलायन कल्प के चार प्रसिद्ध भाष्यकारों का मत हमने दे दिया। ये चारों भाष्यकार इसी एक सम्प्रदाय का समर्थन करते हैं कि इस कल्प का सम्बन्ध किसी एक संहिता विशेष से नहीं है, परन्तु कई संहिताओं से है। देवस्वामी आदि का यह मत प्रतीत होता है कि इस कल्प का सम्बन्ध समस्त ऋक् शाखाओं से है, और षड्गुरुशिष्य आदि का यह मत है कि इसका सम्बन्ध शाकल और बाष्कल दो आम्नायों से है। यदि देवस्वामी का मत सत्य समझा जाए, तो आश्वलायन श्रौत सूत्र २।१० अन्तर्गत सकल पाठ मे पढ़ी हुई **पृथिवी मातर** इत्यादि तीनों ऋचाएं कभी भी किसी ऋक् शाखा में नहीं पढ़ी गई थी। और यदि षड्गुरुशिष्य का मत ठीक समझा जाए, तो सम्भव हो सकता है कि ये तीनों ऋचाए, शाखायन माण्डूकेय आम्नायों में हो। सम्प्रति उपलब्ध वैदिक ग्रन्थ में ये केवल तै० ब्रा० २।४।६।८ और आश्वलायन श्रौत में ही हैं।

देवस्वामी का पक्ष मानने में एक आपत्ति है। बृहद्देवता निश्चित ही ऋग्वेदीय ग्रन्थ है। इसका सम्बन्ध माण्डूकेय आम्नाय से है। यह आगे स्पष्ट

किया जायगा। उस बृहद्देवता स्वीकृत ऋक् चरण में **ब्रह्म जज्ञान** सूक्त विद्यमान था[1]। आश्वलायन श्रौत ४।६ में **ब्रह्म जज्ञानं** मन्त्र सकल पाठ से पढ़ा गया है। इस से निश्चित होता है कि आश्वलायन श्रौत में कई ऋक् शाखाओं के मन्त्र भी सकल पाठ से पढ़े गये हैं। अत यह श्रौत सब ऋक् शाखाओं का नहीं है।

अन्तत: यह सम्भव है कि शाकल और बाष्कल शाखाओं से मिलती जुलती कोई मूल आश्वलायन संहिता भी हो। इस सम्भावना में भी कई कठिनाइयां है और कल्प का इस में विरोध है। अस्तु, ऐसी परिस्थिति में आश्वलायन ब्राह्मण का अस्तित्व अनिवार्य प्रतीत होता है। वह आश्वलायन ब्राह्मण ऐतरेय से कुछ भिन्न होना चाहिये। क्या उस ब्राह्मण में ऐतरेय १।१६ के समान **ब्रह्म जज्ञानं** मन्त्र की प्रतीक नहीं होगी? इस प्रकार उसमें और भी कई भेद हो सकते हैं।

आश्वलायनों से सम्बन्ध रखने वाली अन्य कितनी शाखाएं थीं, यह हम नहीं जान सके। वस्तुत. आश्वलायनों का सारा विषय अभी संदिग्ध है।

४—शांखायन शाखाएं

चरणव्यूह निर्दिष्ट चौथा विभाग शाखायनों का है। आश्वलायनों की अपेक्षा इनका हमें कुछ अधिक ज्ञान है। इसका कारण यह है कि कल्प के अतिरिक्त इनका ब्राह्मण और आरण्यक उपलब्ध हैं। पुराणों में इस शाखा की संहिता का कोई वर्णन नहीं मिलता।

शांखायन संहिता

प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या कभी शांखायनों की कोई स्वतन्त्र संहिता थी वा नहीं।

१—अलवर के राजकीय पुस्तकालय में ऋग्वेद के कुछ कोश हैं। उन्हें शांखायन शाखा का कहा गया है। हम उन्हें देख नहीं सके और सूची में उनका कोई वर्णन विशेष नहीं मिलता।

२—कवीन्द्राचार्य के सूचीपत्र में संख्या २५ पर शांखायन संहिता तथा ब्राह्मण का अस्तित्व लिखा है।

३—शाखायन श्रौत में बारह ऐसी मन्त्र प्रतीकें हैं जिन के मन्त्र

---

१. बृहद्देवता ८।१४॥

शाकलक शाखा में नहीं मिलते। इसके लिए देखो, हिल्लेब्रण्ट के सूत्र-संस्करण का पृष्ठ ६२८। इन में से कई सौपर्ण ऋचाएं हैं। शां० श्रौत १५।३ के सूत्र हैं—

वेनस्तत् पश्यदिति पञ्च ॥८॥

अय वेन इति वा ॥९॥

अर्थात्—**वेनस्तत्पश्यत्** ये पाच ऋचाए पढे, अथवा **अय वेनः** यह मन्त्र पढे।

यहा आठवें सूत्र में मन्त्रों की प्रतीक मात्र पढी गई है। इस से निश्चित होता है कि किसी काल में ये पाच मन्त्र शाखायन संहिता में पढे गए थे। परन्तु वरदत्त का पुत्र अपने भाष्य में लिखता है कि अपनी शाखा में इन ऋचाओं के उत्सन्न होने से विकल्पार्थ अगला सूत्र पढा गया है। यह बात उचित प्रतीत नहीं होती। सूत्रकार के काल में संहिता का पाठ उत्सन्न हो गया हो, यह मानना इतना सरल नहीं। क्या नवम सूत्र किसी अत्यन्त प्राचीन भाष्य का ग्रन्थ तो नहीं था? इसी प्रकार से शां० श्रौत में **सज्ञान** सूक्त और **समिद्धो अग्नि** आदि ऋचाए भी प्रतीक मात्र से पढी गई हैं। अत बहुत सम्भव है कि शाकलों से स्वल्प भेद रखती हुई शाखायनों की कोई स्वतन्त्र संहिता थी। एक और बात यहा स्मरण रखनी चाहिए। शांखायन श्रौत ६।२०।३० में एक पुरोनुवाक्या **इमे सोमासस्तिरो अह्न्यास इति** प्रतीकमात्र से पढी गई है। यही पुरोनुवाक्या आश्वलायन श्रौत ६।५ में सकल पाठ में पढी गई है। यदि दोनों सूत्रों की संहिताओं में भेद न था, तो पाठ की यह भिन्न रीति नहीं हो सकती थी।

४—शाखायन आरण्यक में अनेक ऐसी ऋचाए जो शाकलक पाठ मे विद्यमान हैं, सकल पाठ से पढी गई हैं। वे ऋचाए शांखायन संहिता में नहीं होनी चाहिए। देखो शांखायन आरण्यक ७।१४, १६, १६, २१॥ ८।४,६॥ ६।१॥ १२।२,७॥ ऐसी स्थिति में यही सभावना होती है कि शाखायनों की कोई स्वतन्त्र संहिता थी।

शांखायनों के चार भेद

इस समय तक शाखायनों के चार भेदों का हमें पता लग चुका है। उनके नाम हैं शाखायन, कौषीतकि, महाकौषीतकि और शाम्बव्य। अब इनका वर्णन किया जाता है।

१—शांखायन शाखा। शांखायन संहिता का उल्लेख अभी किया जा चुका है। शांखायन ब्राह्मण आनन्दाश्रम पूना और लिण्डनर के संस्करणों में मिलता है। शांखायन आरण्यक, श्रौत और गृह्य भी मिलते हैं। इनके संस्करणों में एक भूल हो चुकी है। उसका दूर करना आवश्यक है।

शांखायन वाङ्मय के संस्करणों में भूल

इस शाखा के ब्राह्मण आदि के संस्करणों में एक भूल हो चुकी है। आरण्यक उस भूल से बच गया है। वह भूल है शाखा सम्मिश्रण की। कौषीतकि शाखा शांखायनों का ही अवान्तर भेद है। शांखायन ब्राह्मण और कौषीतकि ब्राह्मण आदि में थोड़े से भेद हैं। अतः ये दोनों शाखाएं पृथक्-पृथक् मुद्रित होनी चाहिएं। उन भेदों का थोड़ा सा निदर्शन नीचे किया जाता है—

१—लिण्डनर अपनी भूमिका के पृष्ठ प्रथम पर लिखता है कि शांखायन ब्रा० में २७६ खण्ड हैं और कौषीतकि ब्रा० में २६०। कौषीतकि ब्रा० का उन्हें एक ही मलयालम हस्तलेख मिला था। सम्भव है, उस में कुछ पाठ त्रुटित हो, परन्तु १६ खण्डों का भेद शाखा भेद के अतिरिक्त अनुमान नहीं किया जा सकता। लिण्डनर के अनुसार मलयालम ग्रन्थ के कुछ पाठ देवनागरी ग्रन्थों से सर्वथा भिन्न हैं।

२—शांखायन आरण्यक के प्रथम दो अध्याय महाव्रत कहाते हैं। तीसरे से शांखायन उपनिषद् का आरम्भ होता है। इसी प्रकार कौषीतकि उपनिषद् भी कौषीतकि आरण्यक का एक भाग है। कौषीतकि उपनिषद् के हमारे पास दो हस्तलेख हैं। मद्रास राजकीय संग्रह के ग्रन्थों की ही ये प्रतिलिपि हैं। हमने उनकी तुलना शांखायन आरण्यक के उपनिषद् भाग से की है। इन दोनों ग्रन्थों में पर्याप्त भेद है। कौ० उप० १।२ स इह **कीटो वा** का क्रम शा० उप० में इस से भिन्न है। कौ० १।४ में **प्रति धावन्ति** पाठ है और शा० में इस के स्थान में **प्रति यन्ति** पाठ है। इसी खण्ड के इस से अगले पाठ के क्रम में पर्याप्त भेद है। इसी प्रकार १।५ के पाठ में भी बहुत भेद है। इतना ही नहीं, प्रत्युत इस से आगे खण्ड विभाग भी भिन्न हो जाता है।

३—गृह्य पाठों में भी ऐसे ही अनेक भेद हैं।

शाकलक शाखा में नहीं मिलते। इसके लिए देखो, हिल्लेब्रण्ट के सूत्र-संस्करण का पृष्ठ ६२८। इन में से कई सौपर्ण ऋचाएं हैं। शा० श्रौत १५।३ के सूत्र हैं—

वेनस्तत् पश्यदिति पञ्च ॥८॥

अथ वेन इति वा ॥९॥

अर्थात्—**वेनस्तत्पश्यत्** ये पांच ऋचाएं पढे, अथवा **अथ वेनः** यह मन्त्र पढे।

यहां आठवें सूत्र में मन्त्रों की प्रतीक मात्र पढी गई है। इस से निश्चित होता है कि किसी काल में ये पांच मन्त्र शांखायन संहिता में पढे गए थे। परन्तु वरदत्त का पुत्र अपने भाष्य में लिखता है कि अपनी शाखा में इन ऋचाओं के उत्पन्न होने से विकल्पार्थ अगला सूत्र पढा गया है। यह बात उचित प्रतीत नहीं होती। सूत्रकार के काल में संहिता का पाठ उत्पन्न हो गया हो, यह मानना इतना सरल नहीं। क्या नवम सूत्र किसी अत्यन्त प्राचीन भाष्य का ग्रन्थ तो नहीं था? इसी प्रकार से शा० श्रौत में **सञ्ज्ञान** सूक्त और **समिद्धो अञ्जन्** आदि ऋचाएं भी प्रतीक मात्र से पढी गई हैं। अतः बहुत सम्भव है कि शाकलों से स्वल्प भेद रखती हुई शांखायनों की कोई स्वतन्त्र संहिता थी। एक और बात यहां स्मरण रखनी चाहिए। शांखायन श्रौत ६।२०।३० में एक पुरोनुवाक्या **इमे सोमासस्तिरो अह्न्यास इति** प्रतीकमात्र से पढी गई है। यही पुरोनुवाक्या आश्वलायन श्रौत ६।५ में सकल पाठ में पढ़ी गई है। यदि दोनों सूत्रों की संहिताओं में भेद न था, तो पाठ की यह भिन्न रीति नहीं हो सकती थी।

४—शांखायन आरण्यक में अनेक ऐसी ऋचाएं जो शाकलक पाठ में विद्यमान हैं, सकल पाठ से पढी गई हैं। वे ऋचाएं शांखायन संहिता में नहीं होनी चाहिए। देखो शांखायन आरण्यक ७।१४, १६, १६, २१॥ ८।४,६॥ ६।१॥ १२।२,७॥ ऐसी स्थिति में यही संभावना होती है कि शांखायनों की कोई स्वतन्त्र संहिता थी।

शांखायनों के चार भेद

इस समय तक शांखायनों के चार भेदों का हमें पता लग चुका है। उनके नाम हैं शांखायन, कौषीतकि, महाकौषीतकि और शाम्बव्य। अब इनका वर्णन किया जाता है।

१—**शांखायन शाखा** । शांखायन संहिता का उल्लेख अभी किया जा चुका है । शांखायन ब्राह्मण आनन्दाश्रम पूना और लिण्डनर के संस्करणों में मिलता है । शांखायन आरण्यक, श्रौत और गृह्य भी मिलते हैं । इनके संस्करणों में एक भूल हो चुकी है । उसका दूर करना आवश्यक है ।

शांखायन वाङ्मय के संस्करणों में भूल

इस शाखा के ब्राह्मण आदि के संस्करणों में एक भूल हो चुकी है । आरण्यक उस भूल से बच गया है । वह भूल है शाखा सम्मिश्रण की । कौषीतकि शाखा शांखायनों का ही अवान्तर भेद है । शांखायन ब्राह्मण और कौषीतकि ब्राह्मण आदि में थोड़े से भेद हैं । अतः ये दोनों शाखाएं पृथक्-पृथक् मुद्रित होनी चाहिए । उन भेदों का थोड़ा सा निदर्शन नीचे किया जाता है—

१—लिण्डनर अपनी भूमिका के पृष्ठ प्रथम पर लिखता है कि शांखायन ब्रा० में २७६ खण्ड हैं और कौषीतकि ब्रा० में २६० । कौषीतकि ब्रा० का उन्हें एक ही मलयालम हस्तलेख मिला था । सम्भव है, उस में कुछ पाठ त्रुटित हो, परन्तु १६ खण्डों का भेद शाखा भेद के अतिरिक्त अनुमान नहीं किया जा सकता । लिण्डनर के अनुसार मलयालम ग्रन्थ के कुछ पाठ देवनागरी ग्रन्थों से सर्वथा भिन्न हैं ।

२—शांखायन आरण्यक के प्रथम दो अध्याय महाव्रत कहाते हैं । तीसरे से शांखायन उपनिषद् का आरम्भ होता है । इसी प्रकार कौषीतकि उपनिषद् भी कौषीतकि आरण्यक का एक भाग है । कौषीतकि उपनिषद् के हमारे पास दो हस्तलेख हैं । मद्रास राजकीय संग्रह के ग्रन्थों की ही ये प्रतिलिपि हैं । हमने उनकी तुलना शांखायन आरण्यक के उपनिषद् भाग से की है । इन दोनों ग्रन्थों में पर्याप्त भेद है । कौ० उप० १ । २ स इह **कीटो वा** का क्रम शां० उप० में इस से भिन्न है । कौ० १ । ४ में **प्रति धावन्ति** पाठ है और शां० में इस के स्थान में **प्रति यन्ति** पाठ है । इसी खण्ड के इस से अगले पाठ के क्रम में पर्याप्त भेद है । इसी प्रकार १ । ५ के पाठ में भी बहुत भेद है । इतना ही नहीं, प्रत्युत इस से आगे खण्ड विभाग भी भिन्न हो जाता है ।

३—गृह्य पाठों में भी ऐसे ही अनेक भेद हैं ।

शाकलक शाखा में नहीं मिलते। इसके लिए देखो, हिलब्रण्ट के सूत्र-सस्करण का पृष्ठ ६२८। इन में से कई सौपर्ण ऋचाएं हैं। शां० श्रौत १५।३ के सूत्र हैं—

वेनस्तत् पश्यदिति पञ्च ॥८॥

अथ वेन इति वा ॥९॥

अर्थात्—**वेनस्तत्पश्यत्** ये पाच ऋचाए पढे, अथवा **अय वेनः** यह मन्त्र पढे।

यहा आठवें सूत्र में मन्त्रों की प्रतीक मात्र पढी गई है। इस से निश्चित होता है कि किसी काल में ये पाच मन्त्र शाखायन सहिता में पढे गए थे। परन्तु वरदत्त का पुत्र अपने भाष्य में लिखता है कि अपनी शाखा में इन ऋचाओं के उत्सन्न होने से विकल्पार्थ अगला सूत्र पढा गया है। यह बात उचित प्रतीत नहीं होती। सूत्रकार के काल में सहिता का पाठ उत्सन्न हो गया हो, यह मानना इतना सरल नहीं। क्या नवम सूत्र किसी अत्यन्त प्राचीन भाष्य का ग्रन्थ तो नहीं था? इसी प्रकार से शां० श्रौत में **सज्ञान** सूक्त और **समिद्धो अग्नि** आदि ऋचाए भी प्रतीक मात्र से पढी गई हैं। अत बहुत सम्भव है कि शाकलों से स्वल्प भेद रखती हुई शांखायनों की कोई स्वतन्त्र सहिता थी। एक और बात यहां स्मरण रखनी चाहिए। शांखायन श्रौत ६।२०।३० में एक पुरोनुवाक्या **इमे सोमासस्तिरो अह्न्यास इति** प्रतीकमात्र से पढी गई है। यही पुरोनुवाक्या आश्वलायन श्रौत ६।५ में सकल पाठ में पढी गई है। यदि दोनों सूत्रों की सहिताओं में भेद न था, तो पाठ की यह भिन्न रीति नहीं हो सकती थी।

४—शाखायन आरण्यक में अनेक ऐसी ऋचाए जो शाकलक पाठ में विद्यमान हैं, सकल पाठ से पढी गई हैं। वे ऋचाए शाखायन सहिता में नहीं होनी चाहिए। देखो शांखायन आरण्यक ७।१४, १६, १६, २१॥ ८।४,६॥ ६।१॥ १२।२,७॥ ऐसी स्थिति में यही स भावना होती है कि शाखा-यनों की कोई स्वतन्त्र सहिता थी।

शांखायनों के चार भेद

इस समय तक शाखायनों के चार भेदों का हमें पता लग चुका है। उनके नाम हैं शांखायन, कौषीतकि, महाकौषीतकि और शाम्बव्य। अब इनका वर्णन किया जाता है।

पूर्वोक्त तीनों वचनों का यही अभिप्राय है कि आचार्य अग्निस्वामी और ब्रह्मदत्त ने शाखायन श्रौत और गृह्य पर अपने भाष्य लिखे थे। आचार्य अग्निस्वामी को आनर्तीय वरदत्त-सुत अपने भाष्य में स्मरण करता है। देखो १०।१२।६॥ १२ २।१७॥ १४।१०।५ इत्यादि, अतः अग्निस्वामी तो वरदत्त-सुत से पूर्व हो चुका था। अब रहा ब्रह्मदत्त।

आनर्तीय का ग्रन्थ एक भाष्य है। वह स्वयं भी अपने ग्रन्थ को भाष्य ही लिखता है। यथा —

शांखायनकसूत्रस्य मम शिष्यहितेच्छया।
वरदत्तसुनो भाष्यमानर्तीयोऽकरोन्नवम ॥

शांखायन श्रौत सूत्र पद्धति का अभी उल्लेख हो चुका है। उसके मगल श्लोक में ब्रह्मदत्त का मत स्वीकार करना लिखा है और पद्धति के अन्दर सर्वत्र भाष्यकार का स्मरण किया गया है।[1] यह भाष्यकार ब्रह्मदत्त ही है। वरदत्त के पुत्र का नाम ब्रह्मदत्त होना है भी बहुत सम्भव। अत. हमें यही प्रतीत होता है कि आनर्त देश निवासी वरदत्त का पुत्र भाष्यकार ब्रह्मदत्त ही था।

लक्ष्मीधर और ब्रह्मदत्त—कृत्यकल्पतरु का कर्त्ता लक्ष्मीधर (सं० १२०० के समीप) अपने ग्रन्थ के नियतकाल खण्ड के पृष्ठ ८० पर शाखायन गृह्य पर ब्रह्मदत्त भाष्य को उद्धृत करता है। इस लेख से हमारा पूर्वलिखित अनुमान सिद्ध हो जाता है। गृह्य और श्रौत भाष्यकार एक ही व्यक्ति था।

शंख और शांखायन

शख नाम के अनेक ऋषि समय समय पर हो चुके हैं। कापिष्ठल कठ सहिता में एक कौप्य शंख स्मरण किया गया है —

एतद्ध वा उवाच शङ्खः कौप्य पुत्रम्। अध्याय ३४।१॥
उवाच दिवा जात शाकायन्य शङ्खः कौप्यम्। अध्याय ३५।१॥

काठक आदि सहिताओं में भी यह नाम मिलता है। एक शंख नाम का ऋषि पञ्चाल के राजा ब्रह्मदत्त का समकालीन था। महाभारत अनुशासन पर्व अध्याय २०० में लिखा है—

ब्रह्मदत्तश्च पाञ्चाल्यो राजा धर्मभृतां वरः।
निधिं शङ्खमनुज्ञाप्य जगाम परमां गतिम् ॥१७॥

---

१ पंजाब यू० का कोश पत्र ६ ख, ११क, ३६ख, ५६क, इत्यादि।

शांखायन और कौषीतकि दो शाखाएं

इन बातों से निश्चित होता है कि शाखायन और कौषीतकि दो पृथक् शाखाएं हैं। सम्पादकों ने इन दोनों के सम्पादन मे कई भूलें की हैं। भावी में इन शाखाओं को पृथक् पृथक् ही मुद्रित करना चाहिए।

श्री चिन्तामणि और यह शाखाभेद

परलोकगत श्री टी० आर० चिन्तामणि ने इस प्रश्न पर एक गवेषणा-पूर्ण लेख लिखा। वह बड़ोदा की आल इण्डिया, ओरियण्टल कान्फ्रेंस के लेख सग्रह में मुद्रित हो चुका है। उन का निष्कर्ष है कि पण्डित भगवद्दत्त का कौषीतकि और शाखायन शाखा भेद विषयक परिणाम सत्य था।

शांखायन सम्प्रदाय का एक विस्मृत ग्रन्थकार

शाखायन श्रौत सूत्र पर एक पुरातन टीका मुद्रित हो चुकी है। उस के कर्ता का नाम अनुपलब्ध है। परन्तु यह लिखा है कि उस के पिता का नाम वरदत्त था और वह आनर्तीय अर्थात् आनर्त देश का रहने वाला था। गत ४३ वर्षों में उस के नाम के सम्बन्ध में कोई प्रकाश नहीं पड सका।[1]

उसका नाम आचार्य ब्रह्मदत्त था

१—शाखायन गृह्यसग्रह का कर्ता वसुदेव अपने ग्रन्थारम्भ में लिखता है—

यद्येवमाचार्याग्निस्वामिब्रह्मदत्तादिभिर्व्याख्यात एव सूत्रार्थः।

पुन वह **अनुवचन** की व्याख्या में लिखता है—

एतेषां सप्तानामपि पक्षाणाम् ऋषिर्दैवतच्छन्दांसीति आचार्यब्रह्मदत्तेन गर्हितोयं पक्षः इति व्याख्यातम्।

२—तञ्जोर के पुस्तकालय में **शांखायन श्रौतसूत्र पद्धति** नाम का एक ग्रन्थ सवत् १५२६ का लिखा हुआ मिलता है।[2] उस का कर्ता नारायण है। वह अपने मङ्गल श्लोक में लिखता है—

ब्रह्मदत्तमतं सर्वं सम्प्रदायपुरस्सरम्।
श्रुत्वा नारायणाख्येन पद्धतिः कथ्यते स्फुटम् ॥२॥

---

१ सन् १८६१ में यह भाष्य मुद्रित हुआ था।

२ सूचीपत्र भाग ४, सन् १६२६, सख्या २०४०, पृ० १५६८। यही ग्रन्थ पजाब यू० के पुस्तकालय में भी है, देखो सख्या ६५५०।

पूर्वोक्त तीनों वचनों का यही अभिप्राय है कि आचार्य अग्निस्वामी और ब्रह्मदत्त ने शाखायन श्रौत और गृह्य पर अपने भाष्य लिखे थे। आचार्य अग्निस्वामी को आनर्तीय वरदत्त-सुत अपने भाष्य में स्मरण करता है। देखो १०।१२।६॥ १२ २।१७॥ १४।१०।५ इत्यादि, अतः अग्निस्वामी तो वरदत्त-सुत से पूर्व हो चुका था। अब रहा ब्रह्मदत्त।

आनर्तीय का ग्रन्थ एक भाष्य है। वह स्वयं भी अपने ग्रन्थ को भाष्य ही लिखता है। यथा—

शांखायनकसूत्रस्य सम शिष्यहितेच्छया।
वरदत्तसुतो भाष्यमानर्तीयोऽकरोन्नवम॥

शांखायन श्रौत सूत्र पद्धति का अभी उल्लेख हो चुका है। उसके मगल श्लोक मे ब्रह्मदत्त का मत स्वीकार करना लिखा है और पद्धति के अन्दर सर्वत्र भाष्यकार का स्मरण किया गया है।[1] यह भाष्यकार ब्रह्मदत्त ही है। वरदत्त के पुत्र का नाम ब्रह्मदत्त होना है भी बहुत सम्भव। अत. हमें यही प्रतीत होता है कि आनर्त देश निवासी वरदत्त का पुत्र भाष्यकार ब्रह्मदत्त ही था।

लक्ष्मीधर और ब्रह्मदत्त—कृत्यकल्पतरु का कर्त्ता लक्ष्मीधर (स० १२०० के समीप) अपने ग्रन्थ के नियतकाल खण्ड के पृष्ठ ८० पर शाखायन गृह्य पर ब्रह्मदत्त भाष्य को उद्धृत करता है। इस लेख से हमारा पूर्वलिखित अनुमान सिद्ध हो जाता है। गृह्य और श्रौत भाष्यकार एक ही व्यक्ति था।

शंख और शांखायन

शख नाम के अनेक ऋषि समय समय पर हो चुके हैं। कापिष्ठल कठ सहिता में एक कौप्य शंख स्मरण किया गया है—

एतद्ध वा उवाच शङ्ख कौप्य पुत्रम्। अध्याय ३४।१॥
उवाच दिवा जान शाकायन्य शङ्ख कौप्यम्। अध्याय ३५।१॥

काठक आदि सहिताओं मे भी यह नाम मिलता है। एक शख नाम का ऋषि पञ्चाल के राजा ब्रह्मदत्त का समकालीन था। महाभारत अनुशासन पर्व अध्याय २०० में लिखा है—

ब्रह्मदत्तश्च पाञ्चाल्यो राजा धर्मभृतां वर।
निधिं शङ्खमनुजाप्य जगाम परमां गतिम्॥१७॥

---

१ पजाब यू० का कोश पत्र ६ ख, ११क, ३८ख, ५६क, इत्यादि।

शांखायन और कौषीतकि दो शाखाएं

इन बातों से निश्चित होता है कि शाखायन और कौषीतकि दो पृथक् शाखाएं हैं। सम्पादकों ने इन दोनों के सम्पादन म कई भूलें की हैं। भावी में इन शाखाओं को पृथक् पृथक् ही मुद्रित करना चाहिए।

श्री चिन्तामणि और यह शाखाभेद

परलोकगत श्री टी० आर० चिन्तामणि ने इस प्रश्न पर एक गवेषणा-पूर्ण लेख लिखा। वह बड़ोदा की आल इण्डिया, ओरियण्टल कान्फ्रेंस के लेख सग्रह में मुद्रित हो चुका है। उन का निष्कर्ष है कि पण्डित भगवद्दत्त का कौषीतकि और शाखायन शाखा भेद विषयक परिणाम सत्य था।

शांखायन सम्प्रदाय का एक विस्मृत ग्रन्थकार

शाखायन श्रौत सूत्र पर एक पुरातन टीका मुद्रित हो चुकी है। उस के कर्ता का नाम अनुपलब्ध है। परन्तु यह लिखा है कि उस के पिता का नाम वरदत्त था और वह आनर्तीय अर्थात् आनर्त देश का रहने वाला था। गत ४३ वर्षों में उस के नाम के सम्बन्ध में कोई प्रकाश नहीं पड़ सका।[1]

उसका नाम आचार्य ब्रह्मदत्त था

१—शांखायन गृह्यसंग्रह का कर्ता वसुदेव अपने ग्रन्थारम्भ में लिखता है—

यद्येवमाचार्याग्निस्वामिब्रह्मदत्तादिभिर्व्याख्यात एव सूत्रार्थः।

पुन वह **अनुवचन** की व्याख्या में लिखता है—

एतेषां सप्तानामपि पक्षाणाम् ऋषिर्दैवतच्छन्दांसीति आचार्यब्रह्मदत्तेन गर्हितोयं पक्ष इति व्याख्यातम्।

२—तञ्जोर के पुस्तकालय में **शांखायन श्रौतसूत्र पद्धति** नाम का एक ग्रन्थ सवत् १५२६ का लिखा हुआ मिलता है।[2] उस का कर्ता नारायण है। वह अपने मङ्गल श्लोक में लिखता है—

ब्रह्मदत्तमतं सर्वं सम्प्रदायपुरस्सरम्।
श्रुत्वा नारायणाख्येन पद्धति कथ्यते स्फुटम् ॥२॥

---

१. सन् १८६१ में यह भाष्य मुद्रित हुआ था।

२ सूचीपत्र भाग ४, सन् १६२६, सख्या २०४०, पृ० १५६८। यही ग्रन्थ पजाब यू० के पुस्तकालय में भी है, देखो सख्या ६५५०।

पूर्वोक्त तीनों वचनों का यही अभिप्राय है कि आचार्य अग्निस्वामी और ब्रह्मदत्त ने शाखायन श्रौत और गृह्य पर अपने भाष्य लिखे थे। आचार्य अग्निस्वामी को आनर्तीय वरदत्त-सुत अपने भाष्य में स्मरण करता है। देखो १०।१२।६॥ १२ २।१७॥ १४।१०।५ इत्यादि, अतः अग्निस्वामी तो वरदत्त-सुत से पूर्व हो चुका था। अब रहा ब्रह्मदत्त।

आनर्तीय का ग्रन्थ एक भाष्य है। वह स्वयं भी अपने ग्रन्थ को भाष्य ही लिखता है। यथा—

शांखायनकसूत्रस्य मम शिष्यहितेच्छया।
वरदत्तसुतो भाष्यमानर्तीयोऽकरोन्नवम॥

शांखायन श्रौत सूत्र पद्धति का अभी उल्लेख हो चुका है। उसके मंगल श्लोक में ब्रह्मदत्त का मत स्वीकार करना लिखा है और पद्धति के अन्दर सर्वत्र भाष्यकार का स्मरण किया गया है।[1] यह भाष्यकार ब्रह्मदत्त ही है। वरदत्त के पुत्र का नाम ब्रह्मदत्त होना है भी बहुत सम्भव। अतः हमें यही प्रतीत होता है कि आनर्त देश निवासी वरदत्त का पुत्र भाष्यकार ब्रह्मदत्त ही था।

लक्ष्मीधर और ब्रह्मदत्त—कृत्यकल्पतरु का कर्त्ता लक्ष्मीधर (सं० १२०० के समीप) अपने ग्रन्थ के नियतकाल खण्ड के पृष्ठ ८० पर शांखायन गृह्य पर ब्रह्मदत्त भाष्य को उद्धृत करता है। इस लेख से हमारा पूर्वलिखित अनुमान सिद्ध हो जाता है। गृह्य और श्रौत भाष्यकार एक ही व्यक्ति था।

शंख और शांखायन

शंख नाम के अनेक ऋषि समय समय पर हो चुके हैं। कापिष्ठल कठ संहिता में एक कौप्य शंख स्मरण किया गया है—

एतद्ध वा उवाच शङ्खः कौप्य पुत्रम्। अध्याय ३४।१॥
उवाच दिवा जानं शाकायन्य शङ्खः कौप्यम्। अध्याय ३५।१॥

काठक आदि संहिताओं में भी यह नाम मिलता है। एक शंख नाम का ऋषि पञ्चाल के राजा ब्रह्मदत्त का समकालीन था। महाभारत अनुशासन पर्व अध्याय २०० में लिखा है—

ब्रह्मदत्तश्च पाञ्चाल्यो राजा धर्मभृतां वरः।
निधिं शङ्खमनुज्ञाप्य जगाम परमां गतिम्॥१७॥

---

१ पंजाब यू० का कोश पत्र ६ ख, ११ क, ३६ख, ५६क, इत्यादि।

अर्थात्—[दान धर्म की प्रशंसा करते हुए भीष्म जी युधिष्ठिर को कह रहे हैं कि] शंख को बहुत धन देकर पञ्चाल का राजा ब्रह्मदत्त परम गति को प्राप्त हुआ।

महाभारत-काल के बहुत पूर्व के ऋषि-वंशों में **शंख, लिखित** नाम के दो प्रसिद्ध भाई हुए हैं। आदि पर्व ६०।२५ के ५४५ प्रक्षेपानुसार वे देवल के पुत्र थे। शान्तिपर्व अध्याय २३ में शंख, लिखित की कथा है। स्कन्द पुराण, नागर खण्ड, ११।२२,२३ में भी इन्हीं का वर्णन है। नागर खण्ड में इन के पिता का नाम शाण्डिल्य लिखा है। दोनों स्थानों में कथा में थोड़ा सा अन्तर है। कदाचित् यही दोनों धर्म-शास्त्र-प्रणेता थे।

इनमें से किसी एक शंख का वा किसी अन्य शङ्ख का पुत्र शांख्य था। गर्गादि गण में शंख शब्द का पाठ करने से पाणिनि का निर्देश इस शांख्य की ओर है। इसी शांख्य का नामान्तर शांख्यायन था।[1] एक सांख्य चरकसंहिता सूत्र स्थान १।८ में स्मरण किया गया है।

शांखायन सम्प्रदाय और आचार्य सुयज्ञ

आश्वलायन गृह्य ३।४ शांखायन गृह्य ४।१० तथा शाम्बव्य गृह्य में **सुयज्ञ शांखायन** का नाम मिलता है। शां० श्रौत० भाष्यकार स्पष्ट कहता है कि शां० श्रौत का कर्ता सुयज्ञ ही था। यथा—

स्वमतस्थापनार्थं सुयज्ञाचार्यं श्रुतिमुदाजहार। १।२।१८॥
साहचर्यं सुयज्ञेन सर्वत्र प्रतिपादितम्। ४।६।७॥
शेष परिभाषां चोक्त्वा प्रक्रमते ततो भगवान् सुयज्ञ सूत्रकारः। ११।१।१॥

शांखायन आरण्यक के अन्त में उसके वंश का आरम्भ गुणाख्य शांखायन से कहा गया है। सुयज्ञ और गुणाख्य का सम्बन्ध विचारणीय है।

२—**कौषीतकि शाखा**—इस शाखा की संहिता का अभी तक पता नहीं लगा। सम्भव है इस का शांखायन संहिता से कोई भेद न हो, अथवा अत्यन्त स्वल्प भेद हो। इन के ब्राह्मण का उल्लेख पूर्व हो चुका है। इस ब्राह्मण पर दो भाष्य मिलते हैं। एक है विनायक भट्ट का और दूसरे के कर्ता का नाम अभी तक अज्ञात है। हां, उस भाष्य, व्याख्यान या वृत्ति का नाम सदर्थविमर्श या सदर्थविमर्शिनी है। इस भाष्य के तीन कोश मद्रास राजकीय

---

१ यथा वार्तिककार के कात्य और कात्यायन दो नाम।

पुस्तकालय में है।[1] कौषीतकि श्रौत भी अपनी शाखा के अन्य ग्रन्थों के समान शाखायन श्रौत से कुछ भिन्न था। इस के सम्बन्ध में मैसूर के सूचीपत्र की एक टिप्पणी में लिखा है कि इसका खण्ड-विभाग मुद्रित शांखायन श्रौत से कुछ भिन्न है। इस के तीन हस्तलेख मद्रास, मैसूर और लाहौर में विद्यमान हैं।[2] किसी भावी सम्पादक को इस ग्रन्थ पर काम करना चाहिए।

मैसूर सूचीपत्र, सन् १९२२, संख्या २२। पंजाब यूनिवर्सिटी।

कौषीतकि और शांखायनों का सम्बन्ध

आक्सफोर्ड के बोडलियन पुस्तकालय के शांखायन ब्राह्मण के एक हस्तलेख में लिखा है—

कौषीतकिमतानुसारी शांखायनब्राह्मणम्।

नारायणकृत शांखायन श्रौतसूत्र पद्धति का जो हस्तलेख पंजाब यूनिवर्सिटी के पुस्तकालय में है, उस में अध्याय परिसमाप्ति पर लिखा है—

इति शांखायनसूत्रपद्धतौ कौषीतकिमतानुरक्तमलयदेशोद्भवाणाक्षराभिधानविरचितायां तृतीयोऽध्याय ॥

इन प्रमाणों से ज्ञात होता है कि कौषीतकि और शांखायनों का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

काशी में मुद्रित कौषीतकि गृह्य के अन्त में लिखा है—

इति शांखायनशाखायां कौषीतकिगृह्यसूत्रे षष्ठोऽध्याय.॥
इदमेव कौशिकसूत्रम्।

कौशिक का नाम यहां कैसे आ गया, यह विचारणीय है। कौषी० गृह्य कारिका का एक हस्तलेख मद्रास में है।[3]

पञ्जाब यूनिवर्सिटी लाहौर के हस्तलेखों की सूची पृष्ठ १३१ पर लिखा है—

---

१ मद्रास राजकीय संस्कृत हस्तलेखों का सूचीपत्र भाग ४, सन् १९२८, संख्या ३६५०, ३७७६। भाग ५, सन् १९३२ पृ० ६३४८।

२ मद्रास सूचीपत्र भाग ५, सन् १९३२, संख्या ४१८३।

३. कौषीतकि गृह्यकारिका। मद्रास सूचीपत्र, भाग ४, खं० तृतीय, संख्या ३८२४। भवत्रात भाष्य सहित मुद्रित कौषीतक गृह्य में पाच ही अध्याय हैं।

इति शांखयानाचार्यशिष्यकृत कौपीतकिब्राह्मणे ।

कौपीतकि क वास्तविक नाम

कौपीतकि के पिता का नाम कुपीतक था ।[1] आश्वलायनादि गृह्य सूत्रों में कहोलं कौपीतकम् प्रयोग देखने में आता है । अत. कौपीतकि का नाम कहोल ही होगा । एक कहोल उद्दालक का शिष्य और जामाता था । इस कहोल का पुत्र अष्टावक्र था । इस विषय में महाभारत वनपर्व अध्याय १३४ में कहा है—

उद्दालकस्य नियत शिष्य एको नाम्ना कहोलेति वभूव राजन् ॥८॥
तस्मे प्रादात्सद्य एव श्रुत च भार्या च वै दुहितरं स्वां सुजाताम् ॥९॥
अस्मिन् युगे ब्रह्मकृतां वरिष्ठावास्तां मुनी मातुलभागिनेयौ ।
अष्टावकश्च कहोलसूनुरौद्दालकि श्वेतकेतुः पृथिव्याम् ॥३॥
अष्टावक्र प्रथितो मानवेषु अस्यासीद्धि मातुल श्वेतकेतु ॥१२॥

अर्थात्—कहोल उद्दालक का जामाता था । कहोल का पुत्र अष्टावक्र और उद्दालक का पुत्र श्वेतकेतु था । इस सम्बन्ध से श्वेतकेतु और अष्टावक्र क्रमशः मामा और भानजा थे । वे दोनों ब्रह्मकृत् अर्थात् वेद जानने वालों में श्रेष्ठ अथवा ब्राह्मणकार थे ।

कौपीतकि को कई स्थानों पर कौपीतक भी लिखा है । यथा—

क—कहोल कौपीतकम् । आश्व० गृ० ३ । ४ । ४ ॥

ख—नत्वा कौपीतकाचार्यं शाम्बव्य सूत्रकृत्तमम् ।[2]

ग—श्रीमत्कौपीतकमुनिमहः पूर्वपृथ्वीधराग्रादुद्यत्सुज्ञसित-

घ—सुकृतिहृद्व्योमसान्द्रान्धकारः ।[3] इत्यादि ।

क्या शाखाकार कौपीतकि ही अष्टावक्र का पिता कहोल था, यह विचारना चाहिए । एक अनुमान इस विषय का कुछ समर्थन करता है । ऋग्वेदीय आरुणि अथवा गौतम शाखा का वर्णन आगे किया जायगा । वह

---

१ एक कुपीतक का नाम ता० ब्रा० १७।४।३ में मिलता है ।

२ शाम्बव्यगृह्यकारिका । मद्रास सूचीपत्र, भाग प्रथम, खं० प्रथम, सन् १६१३, सख्या ४० ।

३. कौ० ब्रा० भाष्य, मद्रास सूचीपत्र, भाग ४, खड ३, पृ० ५४०२ ।

गौतम यही उद्दालक वा इस का कोई सम्बन्धी था। सम्भव है, उस का जामाता कहोल भी ऋग्वेद का ही आचार्य हो।

पाणिनीय सूत्र ४।१।१२४ के अनुसार कौषीतकि और कौषीतकेय में भेद है। काश्यप गोत्र वाला कौषीतकेय है, और दूसरा कौषीतकि। बृह० उप० ३।४।१ में **कहोल कौषीतकेय** पाठ है। यदि यह पाठ अशुद्ध नहीं, तो पूर्व लिखे गए वचनों से इस का विरोध विचारणीय है।

३—महाकौषीतकि शाखा। आचार्य महाकौषीतक का नाम आश्वलायनादि गृह्य सूत्रों के तर्पण प्रकरण में मिलता है। इस की शाखा का उल्लेख आनर्तीय ब्रह्मदत्त अपने भाष्य में करता है—

न त्वाम्नायगतस्य मतिरेषा न पौरुषेयस्य कल्पस्य। एव तर्ह्यनुब्राह्मणमेतत् महाकौषीतकादाहृतं कल्पकारेणाध्यायत्रयम्। १४।३।३॥

महाकौषीतकिब्राह्मणाभिप्रायेण नाम्ना धर्मातिदेश इति तद्धर्मप्रवृत्तिः।१४।१०।१॥

अर्थात्—शाखायन श्रौत के तीन अन्तिम १४-१६ अध्याय सुयज्ञ कल्पकार ने महाकौषीतकि से लिए हैं। इन महाकौषीतकियों का अपना ब्राह्मण ग्रन्थ भी था।

विनायक भट्ट अपने कौषीतकि ब्राह्मण-भाष्य में सात स्थानों पर महाकौषीतकि ब्राह्मण से प्रमाण देता है। वे स्थान हैं—३।४॥ ३।५॥ ३।७॥ १८।१४॥ २४।१॥ २४।७॥ २६।१॥[1]

आश्वलायन के ऋषि तर्पण में ऐतरेय और महैतरेय पढ़े गए हैं। इसी प्रकार का महाकौषीतकि नाम प्रतीत होता है।

४—शाम्बव्य शाखा। इस शाखा की कोई संहिता वा ब्राह्मण थे वा नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। हां, इस का कल्प अवश्य था। उस कल्प का उल्लेख जैमिनीयश्रौत-भाष्य में भवत्रात ने किया है—

आश्वलायन षड्भिः [षोडशभि ?] पटलैः समस्त यज्ञतन्त्रमवोचत्। तदेव चतुर्विंशत्यावदत् शाम्बव्य.।[2]

१—कीथकृत ऋग्वेद ब्राह्मणों का अनुवाद, भूमिका पृ० ४१।

२—पंजाब यूनिवर्सिटी का हस्तलेख, ४६७२, पत्र ४४। यह कोश बड़ोदा ग्रन्थ की प्रतिकृति है।

अर्थात्—आश्वलायन ने अपना यज्ञशास्त्र १६ पटलों में कहा है, और शाम्बव्य ने अपना कल्प २४ पटलों में कहा।

इन २४ पटलों में से श्रौत के कितने और गृह्य के कितने हैं, यह नहीं कह सकते। परन्तु कौषीतकि गृह्य के समान शाम्बव्य गृह्य के यदि ६ पटल माने जाएं तो श्रौत के १८ पटल होंगे। शांखायन श्रौत के १६ पटल और महाव्रत के २ पटल मिला कर कुल १८ पटल ही बनते हैं।

शाम्बव्य गृह्य का उल्लेख हरदत्त मिश्र अपने एकाग्निकाण्ड भाष्य में करता है। देखो दूसरे प्रपाठक का दूसरा खण्ड **इयं दुरुक्तात्** मन्त्र का भाष्य। अरुणगिरिनाथ रघुवंश पर अपनी प्रकाशिका टीका ६।२५ तथा कुमार सम्भव टीका ७।१४ पर इस ग्रन्थ का एक सूत्र उद्धृत करता है।

आश्वलायन गृह्य ४।१०।२२ में शाम्बव्य आचार्य का मत दिया गया है। हरदत्त भाष्य सहित जो गृह्य त्रिवन्द्रम से प्रकाशित हुआ है। उस में यह नाम शुद्ध पढ़ा गया है। गार्ग्य नारायण की वृत्ति के साथ जो आश्वलायन गृह्य छपे हैं, उन में **शांवत्यः** अशुद्ध पाठ है।

शाम्बव्य गृह्य कारिका के मंगल श्लोकों में भी शाम्बव्य का स्मरण किया गया है। यथा—

> **नत्वा कौषीतकाचार्यं शाम्बव्यं सूत्रकृत्तमम्।**
> **गृह्यं तदीयं संक्षिप्य व्याख्यास्ये बहुविस्तृतम् ॥**
> **यथाक्रमं यथाबोधं पञ्चाध्यायसमन्वितम्।**
> **व्याख्यातं वृत्तिकाराद्यैः श्रौतस्मार्तविचक्षणैः।**

अर्थात्—कौषीतकाचार्य और सूत्र कर्ता शाम्बव्य को नमस्कार करके पांच वाले अध्याय में शाम्बव्य गृह्य का व्याख्यान किया जाता है।

ये श्लोक सन्देह उत्पन्न करते हैं कि कदाचित् गृह्य पांच अध्यायों का ही हो।

शाम्बव्य और कौषीतकि का सम्बन्ध भी विचार योग्य है। इन से सम्बद्ध सब ग्रन्थों के मुद्रित हो जाने पर ही इस विचार का निश्चित परिणाम जाना जा सकता है।

नाम—पाणिनीय गर्गादि गण में शङ्कु नाम पढ़ा गया है। गणरत्नमहोदधि ३।२५२ के अनुसार 'शम्बु' नाम भी गर्गादि में पढ़ा है। उस शम्बु का पुत्र शाम्बव्य था।

शाम्बव्य ऋषि कुरु-देशवासी था

महाभारत आश्रमवासिक पर्व अध्याय १० में एक आचार्य के विषय में कहा है–

> ततः स्वाचरणो विप्र सम्मतो ऽर्थविशारदः ।
> सांवाख्यो बह्वृचो राजन् वक्तु समुपचक्रमे ॥११॥

यह पाठ नीलकण्ठ टीका सहित मुम्बई सस्करण का है । कुम्भघोण सस्करण में **सांवाख्यो** के स्थान में **संभाव्यो** पाठ है । कुम्भघोण सस्करण में इसी स्थान पर **क** कोश का पाठ **शांभव्यो** है । दयानन्द कालेज पुस्तकालय के चार कोशों में कि जिन की सख्या ६०, ११।६, २८३६ और ६७३३ है, इस स्थान पर **साम्बाख्यो** । **सवाख्यो** **शांवाख्यो** और **शाकाभ्यो** पाठ क्रमशः मिलता है । हमारा विचार है कि वास्तविक पाठ सभवत **शांभव्यो** अथवा **शांवव्यो** हो । इस श्लोक के दूसरे पाठान्तरों पर यहा ध्यान नहीं दिया गया ।

इस श्लोक का अर्थ यह है कि जब महाराज धृतराष्ट्र वानप्रस्थ आश्रम में जाने लगे, तो उन की वक्तृता के उत्तर में **शांवव्य** नाम का ब्राह्मण जो ऋग्वेदीय और अर्थशास्त्र का पण्डित था, बोलने लगा । अत प्रतीत होता है कि कुरु-जाङ्गल देश वालों का प्रतिनिधि ब्राह्मण शांवव्य, कुरु देशवासी ही होगा ।

आयुर्वेदाचार्य शाम्बव्य—आयुर्वेद के नावनीतिक ग्रन्थ (विक्रम तीसरी शती से पूर्व) के आरम्भ में आचार्य शाबव्य स्मृत है । निस्सन्देह शाखा प्रवचनकार और आयुर्वेद का कर्ता एक ही व्यक्ति था ।

५—माण्डूकेय शाखाएं

आर्च शाखाओं का पाचवा विभाग माण्डूकेयों का है । पुराणों में इस विभाग का स्पष्ट रूप से कोई उल्लेख नहीं मिलता । शाकलों और बाष्कलों के दो विभागों के अतिरिक्त पुराणों में शाकपूणि और बाष्कलि भरद्वाज के दो और विभाग लिखे गये हैं । इन दो विभागों में से माण्डूकेयों का किसी से कोई सम्बन्ध है, वा नहीं, इस विषय पर निश्चित रूप से अभी तक कुछ नहीं कहा जा सकता ।

बृहद्देवता का आम्नाय

हमारा अनुमान है कि बृहद्देवता का आम्नाय ही माण्डूकेय आम्नाय है। इस अनुमान को पुष्ट करने वाले प्रमाण नीचे लिखे जाते हैं—

१—बृहद्देवता का प्रथम श्लोक है—

मन्त्रदृग्भ्यो नमस्कृत्वा समाम्नायानुपूर्वशः।

अर्थात्—मन्त्रद्रष्टा ऋषियों को नमस्कार करके आम्नाय के क्रम से सूक्त आदि के देवता कहूँगा।

इस से यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि बृहद्देवता ग्रन्थ किसी आम्नाय-विशेष पर लिखा गया है। उस आम्नाय के पहचानने का प्रकार आगे लिखा जाता है। बृहद्देवता के आम्नाय में ऋ० १०।१०।३ के पश्चात्—

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्तात्...।

इत्यादि मन्त्र से आरम्भ होने वाला एक नाकुल सूक्त है। यह सूक्त शाकल और बाष्कल आम्नाय में पढ़ा नहीं गया। शाकलक सर्वानुक्रमणी में इस का अभाव है। बाष्कल आम्नाय का शाकल आम्नाय से जितना भेद है वह पूर्व लिखा जा चुका है। तदनुसार बाष्कल आम्नाय में भी यह सूक्त नहीं हो सकता। आश्वलायन श्रौतसूत्र ४।६ में इस नाकुल सूक्त के कुछ मन्त्र सकल पाठ में पढ़े गये हैं। अत. आश्वलायन आम्नाय म भी **ब्रह्म जज्ञान** सूक्त का अभाव ही है। अब रहे ऋग्वेद के दो शेष आम्नाय। उन में से बृहद्देवता का सम्बन्ध शांखायन आम्नाय से भी नहीं है। शांखायन श्रौतसूत्र ५।६ में इसी पूर्वोक्त नाकुल सूक्त के **ब्रह्म जज्ञान** आदि कुछ मन्त्र सकल पाठ से पढ़े गए हैं। अत. रह गया एक ही आम्नाय माण्डूकेयों का। उसी में यह सूक्त विद्यमान होना चाहिए। सुतरां बृहद्देवता का सम्बन्ध उसी माण्डूकेय आम्नाय से है।

ऐतरेय ब्रा० १।१९ और कौषीतकि ब्रा० ८।४ में **ब्रह्म जज्ञान** आदि मन्त्रों की प्रतीकें पढ़ी गई हैं। ऐतरेय ब्रा० भाष्य में सायण लिखता है—

ता एताश्चतस्रः शाखान्तरगता आश्वलायनेन पठिता द्रष्टव्याः।

अर्थात्—ये ऋचाएं ऐतरेय शाखा की नहीं हैं। प्रत्युत शाखान्तर की हैं।

२—बृहद्देवता अध्याय तीन मे निम्नलिखित श्लोक हैं—

ऐन्द्राण्यस्मै तनस्त्रीणि वृष्णे शर्धाय मारुतम् ।
आग्नेयानि तु पञ्चेति नव शश्वद्धि वाम् इति ॥११८॥
दशाश्विनानीमानीति इन्द्रावरुणयो स्तुति ।
सौपर्णयास्तु याः काश्चित् निपातस्तुतिषु स्तुता ॥११९॥
उपप्रयन्तः सूक्तानि आग्नेयान्युत्तराणि षट् ।

अर्थात्—ऋ० १।७३ के पश्चात् बृहद्देवता के आम्नाय में दस अश्वि सूक्त हैं। उनकी पहली ऋचा **शश्वद्धि वाम्** है। तत्पश्चात् एक सौपर्ण सूक्त है और उस के आगे **उपप्रयन्तः** ऋ० १।७४ आदि अग्नि देवता सम्बन्धी छः सूक्त हैं।

सूक्तों का ऐसा क्रम शाकलक और बाष्कल आम्नायों मे नहीं है। **शश्वद्धि वाम्** मन्त्र आश्वलायन और शाखायन श्रौत सूत्रों में नहीं मिलता। इस लिए यद्यपि दृढ रूप से तो नहीं, पर अनुमान से कह सकते हैं कि यह सूक्त और पूर्वनिर्दिष्ट सूक्तक्रम माण्डूकेयों का ही है।

माण्डूकेयों का कुल वा देश

मण्डूक का पुत्र माण्डूकेय था। उस माण्डूकेय को शा० आर० ७।२ आदि में शौरवीर और ऐतरेय आरण्यक ३।१ में शूरवीर कहा गया है। उसका एक पुत्र दीर्घ [शा० आ० ७।२] वा ज्येष्ठ [ऐ० आ० ३।१] था। ह्रस्व माण्डूकेय इसी माण्डूकेय का भ्राता प्रतीत होता है। इस ह्रस्व माण्डूकेय का एक पुत्र मध्यम था। यह भी वहीं इन दोनों आरण्यकों में लिखा है। उस मध्यम की माता का नाम प्रातीबोधी प्रातीयोधी था।[1] वह मध्यम मगध-वासी था, यह शा० आ० मे लिखा है। शाखायन और ऐतरेय आरण्यक के इन नामो का उल्लेख करने वाले पाठ कुछ भ्रष्ट प्रतीत होते हैं। अत उन पाठों का शोधना बड़ा आवश्यक है। हमारा अनुमान है कि कदाचित् माण्डूकेय तीन भाई हों। पहला ज्येष्ठ या दीर्घ, दूसरा मध्यम और तीसरा ह्रस्व। यदि मध्यम मगधवासी है, तो क्या सारे माण्डूकेय मगधवासी थे, यह विचारणीय है।

---

१. एक प्रातिमेधी ब्रह्मवादिनी ब्रह्माण्ड पुराण १।३३।१६ में स्मरण की गई है। आश्वलायन गृह्य के ऋषि तर्पण ३।३।५ मे एक वडवा प्रातिथेयी स्मरण की गई है।

माण्डूकेय आम्नाय का परिमाण

यदि बृहद्देवता का आम्नाय माण्डूकेय आम्नाय ही है और यदि उस *आम्नाय का यथार्थ ज्ञान हम ने बृहद्देवता से ही करना है*, तो बृहद्देवता का पाठ निस्सदेह अत्यन्त शुद्ध होना चाहिए। प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में ऋग्वेद के भिन्न भिन्न चरणों के पृथक् पृथक् बृहद्देवता थे। शनैः शनैः उनके पाठ परस्पर मेल से कुछ कुछ दूषित और न्यूनाधिक होते गए। मैकडानल कृत बृहद्देवता का सस्करण यद्यपि बड़े परिश्रम का फल है तथापि उस में स्पष्ट ही न्यून से न्यून दो बृहद्देवता ग्रन्थों का सम्मिश्रण किया गया है। अत. अब यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता कि मुद्रित बृहद्देवता केवल एक ही आम्नाय पर आश्रित है। हा, यह बात अधिकाश में सत्य प्रतीत होती है। मुद्रित बृहद्देवता के अनुसार उसके आम्नाय का अथवा माण्डूकेय शाखा का स्वरूप मैकडानल-सस्कृत बृहद्देवता की भूमिका में देखा जा सकता है।[1] वहां उन ३७ सूक्तों का पते वार वर्णन है जो बृहद्देवता की शाखा में शाकलकों से अधिक पाए जाते हैं। बृहद्देवता के आम्नाय में शाकलक शाखा में विद्यमान कुछ सूक्तों का अभाव भी है।

क्या माण्डूकेय ही बह्वृच थे

साधारणतया बह्वृच शब्द से ऋग्वेद का अभिप्राय लिया जाता है। मा० शतपथ ब्रा० १०।५।२।२० में बह्वृच शब्द का सामान्य प्रयोग है। महाभाष्य में भी ऐसा ही प्रयोग है—

एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्।

इस का अभिप्राय यह है कि अन्य वेदों की अपेक्षा ऋग्वेद में अधिक ऋचाए हैं। परन्तु ऐसा भी प्रतीत होता हैं कि ऋग्वेद के पांच चरणों में से जिस में सब से अधिक ऋचाए थीं, उसे भी बह्वृच कहा गया है। वह चरण माण्डूकेयों के अतिरिक्त दूसरा दिखाई नहीं देता। यही चरण है कि जिस में शाकलकों और बाष्कलों से प्रत्यक्ष ही अधिक ऋचाए हैं और आश्वलायनों तथा शाखायनों से भी सम्भवत इसी में अधिक ऋचाए होंगी। अथवा बह्वृच मण्डूकेयों का कोई अवान्तर विभाग हो सकता है।

१—पृ० २०–३३।

पैङ्गि और कौषीतकि से भिन्न बह्वृच एक शाखाविशेष है।

बह्वृच एक शाखा है, इस के प्रमाण आगे दिए जाते हैं।

१—कौषीतकि ब्राह्मण १६।६ का ग्रन्थ है—

किंदेवत्य. सोम इति मधुको गौश्र पप्रच्छ। स ह सोमः पवत इत्यनुद्रुत्यैतस्य वा अन्ये स्युरिति प्रत्युवाच बह्वृचवद्देवेन्द्र इति त्वेव पैङ्ग्यस्य स्थितिरासैन्द्राग्न इति कौषीतकिः।

अर्थात्—मधुकने गौश्र से पूछा कि सोम का देवता कौन है। उत्तर मिला बहुत देवता हैं। बह्वृच के समान पैङ्ग्य का मत था कि सोम का देवता इन्द्र है। कौषीतकि का मत है कि इन्द्राग्नी सोम के देवता हैं।

पैङ्ग्य और कौषीतकि दोनों ऋग्वेदीय हैं। बह्वृच भी इन से पृथक् कोई ऋग्वेदी है। यदि बह्वृच का अर्थ सामान्यतया ऋग्वेदी होता तो पैङ्ग्य और कौषीतकि को इन से पृथक् न गिना जाता।

२—माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण ११।५।१।१० में कहा है—

तदेतदुक्तप्रत्युक्तं पञ्चदशर्चं बह्वृचा. प्राहु।

अर्थात्—पुरूरवा और उर्वशी के (आलङ्कारिक) सवाद का यह सूक्त पन्द्रह ऋचा का है, ऐसा बह्वृच कहते हैं।

शतपथ का सकेत बह्वृच शाखा की ओर है, क्योंकि ऋग्वेद के इसी १०।९५ सूक्त में अठारह ऋचा हैं।

३—आपस्तम्ब श्रौत सूत्र में उस के सम्पादक रिचर्ड गार्बे की उद्धरण सूची के अनुसार नौ स्थानों पर बह्वृच ब्राह्मण और तीन स्थानों पर बह्वृच उद्धृत हैं। इस प्रकार आप० श्रौत में कुल बारह बार बह्वृचों का उल्लेख मिलता है। पहले नौ प्रमाणों में से एक प्रमाण भी ऐतरेय और कौषीतकि ब्राह्मणों में नहीं मिलता। शेष तीन प्रमाणों में से दो तो सामान्य ही हैं, और तीसरे ६।२७।२ में बह्वृचों के दो मन्त्र उद्धृत किए गए हैं। वे दोनों मन्त्र अन्य उपलब्ध ऋग्वेदीय ग्रन्थों में नहीं मिलते। अत. इन सब प्रमाणों से यही निश्चित होता है कि बह्वृच कोई शाखा-विशेष थी।

कीथ का मत

इस विषय में अध्यापक कीथ का भी यही मत है।

It is perfectly certain that he meant some definite work

which he may have had before him, and in all probably all his quotations come from it [1]

अन्त में अध्यापक कीथ लिखता है—

And this fact does suggest a mere conjecture that the Brahmana used was the text of the Paingya school [2]

अर्थात्—एक सम्भावनामात्र है कि वह ब्राह्मण पैङ्ग्य ब्राह्मण होगा।

कीथ की यह सम्भावना सत्य सिद्ध नहीं हो सकती। अभी जो प्रमाण कौषी० ब्रा० १६।६ का पूर्व दिया गया है, वहां बह्वृच ऋषि पैङ्ग्य से पृथक् माना गया है।

४—इसी प्रकार कठ गृह्य ५६। ५ के अपने भाष्य में देवपाल एक बह्वृच ब्राह्मण का पाठ उद्धृत करता है।

५—शाखायन श्रौतभाष्य १।१।१५ में लिखा है—

बाह्वृच्यम्—बह्वृचाम्नायोक्तम् ।

पुन. १।१७।१८ पर लिखा है—

बह्वृचशाखाविषयौ ।

६—मीमांसा के शाबर भाष्य २।४।१, ६।२।२३,३१, ६।३।१, ६।५।३८ आदि पर दो बह्वृच ब्राह्मणपाठ उद्धृत हैं। ये दोनों पाठ ऐतरेय और कौषीतकि ब्राह्मण म नहीं मिलते।

७—भर्तृहरि अपनी महाभाष्य टीका के आरम्भ में **बह्वृचसूत्रभाष्ये** कह कर एक पाठ उद्धृत करता है। इस से आगे वह **आश्वलायनसूत्रे** लिख कर एक और पाठ देता है। इस से ज्ञात होता है कि बह्वृच आश्वलायनों से भिन्न थे।

८—कठगृह्य २५।८ के भाष्य में आदित्यदर्शन **बह्वृचगृह्य** का एक सूत्र उद्धृत करता है। इस गृह्य के सम्पादक डा० कालेण्ड के अनुसार यह सूत्र आश्वलायन और शाखायन गृह्यों में नहीं मिलता। अत· बह्वृच गृह्य इन से पृथक् गृह्य होगा।

९—मनु २।२९ पर मेधातिथि का भी एक प्रयोग विचार योग्य है—

कठानां गृह्य बह्वृचामाश्वलायनानां च गृह्यमिति ।

१—जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी, सन् १९१५, पृ० ४९६। २—तथैव, पृ० ४९८।

१०—कुमारिल भट्ट अपने तन्त्रवार्तिक १ । ३ । ११ में लिखता है—

गृह्यग्रन्थानां च प्रातिशाख्यलक्षणवत् प्रतिचरण पाठव्यवस्थोपलभ्यते। तद्यथा—वासिष्ठ बह्वृचैरेव, शङ्खलिखितोक्तं च वाजसनेयिभि ।

अर्थात्—प्रातिशाख्य ग्रन्थों के समान धर्म और गृह्य शास्त्रों की भी प्रतिचरण पाठव्यवस्था है। जैसे—बह्वृच चरण वाले वासिष्ठ सूत्र पढ़ते हैं इत्यादि।

कुमारिल के इस लेख से भी बह्वृच एक चरण प्रतीत होता है—

११—व्याकरण महाभाष्य ५।४।१५४ में एक पाठ है—

अनृचो माणवे[1] । बह्वृचश्चरणाख्यायाम् ।

अर्थात्—बिना ऋक् पढ़े बालक को अनृच कहते हैं और बह्वृच चरण के अभिप्राय से कहते हैं। यहां भी बह्वृच एक चरण विशेष माना गया है।

बह्वृच शाखा पर अधिक विचार करने वालों को श्रीमद्भागवत् १।४ का निम्नलिखित श्लोक ध्यान से देखना चाहिए—

इति ब्रुवाणं संस्तूय मुनीनां दीर्घसत्त्रिणाम् ।
वृद्धः कुलपतिः सूतं बह्वृचः शौनकोऽब्रवीत् ॥१॥

अर्थात्—नैमिषारण्यवासी शौनक ऋषि बह्वृच था।

इस का एक अभिप्राय यह हो सकता है कि शौनक ऋग्वेदी था, और दूसरा यह हो सकता है कि वह ऋग्वेद की बह्वृच शाखा का अध्येता या प्रवक्ता था। यदि दूसरा अभिप्राय ठीक माना जाए, तो संभव हो सकता है कि शौनक ने अपनी ही बह्वृच वा माण्डूकेय शाखा पर बृहद्देवता ग्रन्थ रचा।

शाकल्य आचार्य भी बह्वृच था। हम पहले शांखायन चरण के वर्णन में इसी शाकल्य का उल्लेख कर चुके हैं। उतने लेख से यही स्पष्ट है कि यह शाकल्य ऋग्वेदी था और ऋग्वेद के बह्वृच चरण का प्रवक्ता नहीं था।

ब्रह्माण्ड पुराण पूर्वभाग, अध्याय ३२ में लिखा है—

सप्रधानाः प्रवक्ष्यन्ते समासाच्च श्रुतर्षयः ।
बह्वृचो भार्गवः पैलः सांकृत्यो जाजलिस्तथा ॥२॥

---

[1] तुलना करो—कात्यायनकृत कर्मप्रदीप ३।८।११॥

इस श्लोक में पढ़े हुए ऋषिनाम पर्याप्त भ्रष्ट हो गए हैं, परन्तु हमारा प्रयोजन इस समय केवल पहले नाम से है। वह नाम कई दूसरे कोशों में भी ऐसे ही पढ़ा गया है। इस से प्रतीत होता है कि बह्वृच भी कोई ऋग्वेदी ऋषि ही था।

चरणव्यूह कथित ऋग्वेद के पांच विभागों का वर्णन यहां समाप्त किया जाता है। आगे पुराण कथित शेष विभागों का वर्णन किया जाएगा।

पुराण-कथित शाकपूणि का विभाग

ब्रह्माण्ड पुराण पूर्वभाग अध्याय ३४ में कहा है—

प्रोवाच संहितास्तिस्रः शाकपूणी रथीतरः।
निरुक्तं च पुनश्चक्रे चतुर्थं द्विजसत्तमः ॥३॥
तस्य शिष्यास्तु चत्वारः पैलश्चेक्षलकस्तथा।
धीमान् शितबलाकश्च गजश्चैव द्विजोत्तमाः ॥४॥

अर्थात्—शिष्य प्रशिष्य परम्परा से माण्डूकेय से प्राप्त हुई शाखा की शाकपूणि ने तीन शाखाएं बना दीं। तत्पश्चात् उसने एक निरुक्त बनाया। उसके चार शिष्य थे। ब्रह्माण्ड के इस मुद्रित संस्करण में उन के नाम पैल और इक्षलक आदि कहे गए हैं।

ये दोनों नाम यहां बहुत ही भ्रष्ट हो गए हैं। वायु, विष्णु और भागवत पुराणों में भी ये नाम अत्यन्त भ्रष्ट हैं। प्रतीत होता है कि प्राचीन लिपियों के बदलते जाने के कारण इन नामों का पाठ दूषित हो गया है। संस्कृत भाषा के साधारण शब्दों को पूर्ण न पढ़ सकने पर भी पुराने लेखक अपने ज्ञान के अनुसार शुद्ध कर लेते थे, परन्तु नामविशेषों को पुरानी लिपियों के ग्रन्थों में जब वे न पढ़ सके, तो इन नामों के प्रतिलिपि करने में उन्होंने भारी अशुद्धियां कीं। ये अशुद्धियां हैं तो भयानक, परन्तु यत्नशोध्य हैं।

इन दोनों नामों के निम्नलिखित पाठान्तर हमें मिल सके हैं—

पञ्जाब यूनिवर्सिटी सं० २८१६	— पजश्चेत्तलकस्तथा।
दयानन्द कालेज का कोष सं० २८११	— शपैध्वलकस्तथा।
मुद्रित वायुपुराण आनन्दाश्रम सं०	— केतवोदालकस्तथा।
मुद्रित पुराण का घ कोशस्थ पाठ	— कैजवो वामनस्तथा।
,, ,, का ङ ,,	— कैजवोद्दालकस्तथा।
,, ,, का ख ,,	— कैजवो वामनस्तथा।

,, विष्णु पुराण मुम्बई	— कौचा वैतालकि: ।
,, ,, ,, कलकत्ता	— कोञ्चा वैतालक. ।
वि० पु० द० कालेज कोश म० १८५०	— क्रौञ: पैलालक. ।
,, ,, ,, २७८४	— क्रौञ. पैलानक: ।
,, ,, ,, १२६०	— क्रौंचो वैलालकि ।
,, ,, ,, ८६०४	— क्रौञ पैलाककि ।
मुद्रित भागवत मद्रास संस्करण	— पैजवैताल० ।
भागवत का वीरराघव टीकाकार	— पैजवैताल० ।
भागवत का विजय ,,	— पैंगिपैलाल ।

इन समस्त पाठान्तरों को देखकर ब्रह्माण्ड पुराण के पाठ के तीन निम्नलिखित विकल्प हमें प्रतीत होते हैं।

पैङ्गश्चौद्दालकिस्तथा ।
पैङ्ग्य औद्दालकिस्तथा ।
पैङ्ग्यः शैलालकस्तथा ।

१—पैङ्ग्य शाखा[1]—पैङ्ग्य शाखा ऋग्वेद की ही शाखा है । यह
(१) प्रपञ्चहृदय के पूर्वोद्धृत प्रमाण से सुनिश्चित हो जाता है ।
(२) पातञ्जलनिदान सूत्र ४,७ का पाठ है—

यथा चैतत् पैङ्गिनोऽधीयते । छन्दोगाश्चाप्येनमेकेऽधीयते ।

इससे स्पष्ट है कि पैङ्ग्य छन्दोग अथवा सामवेदी नहीं था ।

इस शाखा के ब्राह्मण और कल्प के अस्तित्व के विषय में हम इतिहास के तीसरे और चौथे भाग में क्रमश: लिखा है । इस शाखा की संहिता कैसी थी, इस का अभी तक हमें ज्ञान नहीं हो सका ।

आयुर्वेद की चरक संहिता के आरम्भ में जिन ऋषियों का वर्णन किया गया है, उन में पैङ्गि भी एक था ।[2] इसी पैङ्गि का पुत्र पैङ्ग्य होना चाहिए ।

---

१. काण्वसंहिता-भाष्यकार अनन्तभट्ट अपने विधान पारिजात स्तबक २, पृ० १२० पर कौषीतकि ब्राह्मण की पङ्क्ति के अर्थ में लिखता है—

इति सामशाखाप्रवर्तकस्य पैङ्गचर्षेर्मतम् ।

क्या यह उस की भूल है।

२. सूत्रस्थान १।१२॥

सभापर्व ४।२३ के अनुसार एक पैङ्ग्य युधिष्ठिर के सभा-प्रवेश उत्सव में विराजमान था।

पैङ्ग्य का नाम मधुक था। बृहद्देवता १।२४ में वह मधुक नाम से स्मरण किया गया है। शतपथ, ऐतरेय और कौषीतकि आदि ब्राह्मणों में उस का कई वार उल्लेख हुआ है। शाखायन श्रौत सूत्र में भी वह बहुधा उल्लिखित है। इस के चतुर्थाध्याय के दूसरे खण्ड में उस का मत अग्न्यन्वाधान के सम्बन्ध में लिखा गया है। इस पर भाष्यकार पहले सूत्र की व्याख्या में शाखान्तर कह कर पैङ्ग्य का ही मत दर्शाता है। कौषीतकि का मत इस से कुछ भिन्न कहा गया है। बह्वृच प्रकरण में जो कौषीतकि ब्राह्मण का प्रमाण दिया गया है, उस से प्रतीत होता है कि सोम देवता सम्बन्धी पैङ्ग्य का मत बह्वृच के समान था।

मा० शतपथ ब्रा० १४।६।३।१६ के अनुसार मधुक पैङ्ग्य ने वाजसनेय याज्ञवल्क्य से आत्मविद्या प्राप्त की थी।

पैङ्ग्य गृह्य वा धर्म सूत्र के प्रमाण स्मृतिचन्द्रिका, आशौच काण्ड, पृ० १४, गौतम धर्मसूत्र, मस्करी भाष्य, १४।६।१७ तथा आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र, हरदत्तकृत अनाकुला टीका ८।२१।६ पर मिलते हैं। पैङ्ग्य शाखा के ग्रन्थ और विशेष कर पैङ्ग्य गृह्य और धर्म सूत्र तो दक्षिण में अब भी मिल सकेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

२—**औद्दालकि शाखा**—उद्दालक गौतम कुल का था। उस के पिता का नाम अरुण था, अत: वह आरुणि भी कहाता था। उस का पुत्र श्वेतकेतु था। एक उद्दालक आरुणि पाञ्चाल्य अर्थात् पञ्चाल देश निवासी पारिक्षित जनमेजय के काल में होने वाले धौम्य आयोद का शिष्य था। आदि पर्व ३।१६ से उस की कथा आरम्भ होती है। गौतमकुल के कारण से प्रपञ्च-हृदय में यह शाखा **गौतम** शाखा के नाम से स्मरण की गई है।[1] अन्यत्र व्याकरण महाभाष्य आदि में इसे **आरुणेय** शाखा कहा गया है। आरुणेय ब्राह्मण का वर्णन इसी इतिहास के तीसरे भाग में है।[2] गौतम नाम का एक

१. देखो पृ० ७६।

२ देखो ब्राह्मण और आरण्यक के भाष्यकार, प्रथम संस्क० पृ० ३२, ३३।

आचार्य आश्वलायन श्रौत में बहुधा स्मरण किया गया है। यह ऋग्वेदीय आचार्य ही होगा।

सामवेद की भी एक गौतम शाखा है। उस का वर्णन आगे होगा। उस शाखा से इस को पृथक् ही जानना चाहिये।

३—शैलालक शाखा—ब्रह्माण्ड पुराण के पाठ में औद्दालकि के स्थान में यदि शैलालक पाठ माना जाए, तो भी युक्त हो सकता है।

परन्तु इन दोनों पाठों में से कौन सा पाठ मूल था, यह निर्णय करना अभी कठिन है। इस शाखा के ब्राह्मण का उल्लेख इस इतिहास के ब्राह्मण भाग में है। अष्टाध्यायी ४।३।११० में भी इसी शाखा का सङ्केत है। श्रीभाष्य पर श्रुतप्रकाशिका टीका पृ० ६८१ पर सुदर्शनाचार्य इस ब्राह्मण का एक लम्बा पाठ उद्धृत करता है। तथा पृ० ६०६, ६१०, १३६८ पर भी वह इस ब्राह्मण को स्मरण करता है।

४—शतबलाक्ष शाखा——ब्रह्माण्ड, वायु, विष्णु और भागवत तथा उनके हस्तलेखों में इस नाम के कई पाठान्तर हमें मिले हैं। वे हैं श्वेत-बलाक, श्वेतबलाक, बलाक, बालाक और व्लीक। इन सब नामों में से शतबलाक्ष नाम ही अधिक युक्त प्रतीत होता है। एक शतबलाक्ष मौद्गल्य निरुक्त ११।६ में स्मरण किया गया है। यह मुद्गल का पुत्र था। शाकलकों की मुद्गल शाखा का वर्णन पृ० १८७—१६० तक हो चुका है। सम्भव है उसी मुद्गल का पुत्र ऋग्वेद की इस शाखा का प्रचारक हो। निरुक्त ११।६ के पाठ से प्रतीत होता है कि वह शतबलाक्ष एक नैरुक्त भी था। यदि यही शतबलाक्ष नैरुक्त शाकपूणि का शिष्य था- तो उस के निरुक्तकार होने की बड़ी सम्भावना हो जाती है।

शाकपूणि का चौथा शिष्य

शाकपूणि के ये तीन शिष्य तो शाखाकार कहे गये हैं। उसका चौथा शिष्य कोई निरुक्तकार है। उसके नाम के निम्नलिखित पाठान्तर हैं—

गजः। नैगम। निरुक्तकृत्। निरुक्तः। विरजः।

इन नामों में से कौन सा नाम वास्तविक है, इस के निर्णय का प्रयास हम ने नहीं किया। पाठकों के ज्ञानार्थ हम इतना बता देना चाहते हैं कि हास्तिक नाम का एक कल्पसूत्र था। मीमांसा के शाबर भाष्य १।३।११ में लिखा है—

इह कल्पसूत्राण्युदाहरणम्—माशकम्, हास्तिकम्, कौण्डिन्यकम्—इत्येव लक्षणकानि

यदि पूर्वोक्त पाठान्तरों में **गज** नाम ठीक मान लिया जाए, तो क्या उसका हास्तिक कल्प से कोई सम्बन्ध था ?

पुराणान्तर्गत शाखाकारों का अन्तिम विभाग

बाष्कलि भरद्वाज

पहले पृ० १६६ पर दैत्य बाष्कल और ऋषि बाष्कल का उल्लेख हो चुका है। स्कन्द पुराण नागरखण्ड ४१।६ के अनुसार एक दानवेन्द्र बाष्कलि भी था—

पुरासीद् बाष्कलिर्नाम दानवेन्द्रो महाबलः।

यह बाष्कलि शाखाकार ऋषि नहीं था। वेदान्तसूत्रभाष्य ३।२।१७ में शङ्कर लिखता है—

बाष्कलिना च बाध्वः पृष्टः।

अर्थात्—बाष्कलि ने बाध्व से पूछा। यह बाष्कलि शाखाकार हो सकता है।

ब्रह्माण्ड पुराण पूर्वभाग अध्याय ३५ में लिखा है—

बाष्कलिस्तु भरद्वाजस्तिस्रः प्रोवाच संहिताः।
त्रयस्तस्याभवञ्छिष्या महात्मानो गुणान्विताः ॥५॥
धीमांश्च त्वापनीपश्च पन्नगारिश्च बुद्धिमान्।
तृतीयश्चार्जवस्ते च तपसा संशितव्रताः ॥६॥
वीतरागा महातेजाः संहिताज्ञानपारगः।
इत्येते बह्वृचः प्रोक्ताः संहिता यैः प्रवर्तिताः ॥७॥

अर्थात्—बष्कल के पुत्र भरद्वाज के तीन शिष्य थे। यह बार्हस्पत्य भरद्वाज से भिन्न था।

१—उन तीन शिष्यों में से प्रथम शिष्य **आपनीप** कहा गया है। इस आपनीप नाम के भी कई पाठान्तर हैं। यथा—

आपनाप। नन्दायनीय। कालायनि। वालायनि।

इन नामों में से अन्तिम दो नाम मूल के कुछ निकट प्रतीत होते हैं, परन्तु निश्चय से कुछ नहीं कहा जा सकता।

आगे कालवी नामक एक ब्राह्मण का उल्लेख होगा। हो सकता है कालायनि नाम उसी का भ्रष्ट पाठ हो।

२—इस समूह की दूसरी शाखा के आचार्य का नाम पञ्चगारि लिखा है। भिन्न भिन्न मुद्रित पुराणों और उन के हस्तलेखों में उस के पाठान्तर हैं—

पाञ्चगारि। पञ्चगानि। गार्ग्य। भज्यः

इन में से प्रथम नाम के युक्त होने की बहुत सम्भावना है। काशिका वृत्ति २।४।६० में पाञ्चागारि नामक पिता पुत्र का उल्लेख है। अन्तिम पाठान्तर भागवत में मिलता है। भज्य नाम हमें अन्यत्र नहीं मिला। हां, एक भुज्यु लाह्यायनि बृहदारण्यक ३।३।१ में वर्णित है। यदि भागवत का अभिप्राय इसी से है तो कालायनि के स्थान में भागवत पाठ लाह्यायनि चाहिए। परन्तु इस सम्भावना में भी एक आपत्ति है। बृ० उप० के अनुसार भुज्यु लाह्यायनि कदाचित् एक चरक था। ऐसी अवस्था में वह ऋग्वेदीय नहीं हो सकता। इस प्रकार भागवत में तीसरे ऋषि का कुछ और नाम ढूंढना पड़ेगा।

अष्टाध्यायी ४।४।६० के अनुसार पाञ्चागारि प्राच्य देश का रहने वाला था।

३—ब्रह्माण्ड पुराण में तीसरे ऋषि का नाम आजव है। इस नाम के अन्य पाठान्तर हैं—

आर्यव। कथाजव। तथाजव। कासार।

इन में से कौन सा नाम उचित है, यह हम नहीं जान सके।

इस प्रकार पुराणों में ऋग्वेदीय शाखाओं के कुल १५ संहिताकार कहे गये हैं। पांच शाकल, चार बाष्कल, तीन शाकपूणि के शिष्य और तीन बाष्कलि भरद्वाज के शिष्य। भर्तृहरि अपने वाक्यपदीय १।६ की व्याख्या में कहता है—

एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्। पञ्चदशधा इत्येके।

• अर्थात्—कई लोग ऋग्वेद की पन्द्रह शाखाएं भी मानते हैं।

क्या भर्तृहरि का सङ्केत उन्हीं आचार्यों की ओर है कि जो पुराणों के अनुसार पन्द्रह संहिताओं को ही ऋग्वेद के भेदों के अन्तर्गत मानते थे।

वे ऋग्वेदीय शाखाएं जिनका सम्बन्ध पूर्व-वर्णित चरणों से निश्चित नहीं हो सका

१—ऐतरेय शाखा—ऐतरेय ब्राह्मण का अस्तित्व किसी ऐतरेय शाखा की विद्यमानता का द्योतक है। प्रपञ्चहृदय में भी ऐतरेय एक शाखा

मानी गई है। आश्वलायन श्रौत १।२ इत्यादि और निदानसूत्र ५।२ में क्रमश **ऐतरेयिण** और **ऐतरेयिणाम्** कह कर इस शाखा वालों का स्मरण किया गया है। आश्वलायन श्रौत के अर्थ में गार्ग्यनारायण लिखता है—**ऐतरेयिणः = शाखाविशेषः**। वरदत्त सुत (ब्रह्मदत्त) भी शाखायन श्रौत-भाष्य १।४।१५ में **ऐतरेयिणाम्** पद का प्रयोग करता है। मनु २।६ के भाष्य में मेधातिथि लिखता है—

एकविंशतिबाह्वृच्या आश्वलायन ऐतरेयादिभेदेन।

अर्थात्—ऋग्वेद की इक्कीस शाखाओं में एक ऐतरेय शाखा भी है।

ऐतरेय गृह्य

इस शाखा के ब्राह्मण और आरण्यक तो उपलब्ध हैं ही, परन्तु इन के गृह्य के अस्तित्व की सम्भावना होती है। आश्वलायन गृह्य १।६।२० की टीका में हरदत्त लिखता है—

ऐतरेयिणां च वचनम्—भवादि सर्वत्र समानम्। इति।

अर्थात—ऐतरेयों का वचन है कि—सप्तपदी मन्त्रों में भव पद सवत्र जोड़ना चाहिये।

यह सम्भवतः ऐतरेय गृह्य का ही वचन हो सकता है।

ऐतरेय शाखा वाले और नवश्राद्ध

स्मृतिचन्द्रिका का कर्ता देवणभट्ट आशौच काण्ड, पृ० १७६ पर काश्यप का एक वचन लिखता है—

नवश्राद्धानि पञ्चाहुराश्वलायनशाखिन।
आपस्तम्बाष्षडित्याहुष्षड् वा पञ्चान्यशाखिन॥

धर्मशास्त्र सग्रहकार शिवस्वामी के नाम से पृ० १७५ पर वह इसी श्लोक का एक अन्य पाठ देता है। वह पाठ नीचे लिखा जाता है—

नवश्राद्धानि पञ्चाहुराश्वलायनशाखिनः
आपस्तम्बाष्षडित्याहुर्विभाषामैतरेयिण॥

अर्थात्—आश्वलायन शाखा वाले पाच कहते हैं। आपस्तम्ब छः कहते हैं और ऐतरेय शाखा वाले पाच वा छः का विकल्प मानते हैं।

आश्वलायनों से न मिलता हुआ ऐतरेयों का यह मत, उन के किस ग्रन्थ में था, यह विचारना चाहिए।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त भी ऐतरेयों का कोई ग्रन्थ था वा नहीं, यह नहीं कह सकते।

२—**महैतरेय शाखा**—कौषीतकि गृह्य सूत्र २।५।५ के अनुसार महैतरेय भी एक शाखा हो सकती है। जिस प्रकार महापैङ्ग्य, हारिद्रवीय महापाठ, पालकाप्य महापाठ और सूर्य सिद्धान्त आदि के महापाठ थे उसी प्रकार महैतरेय भी हो सकता है।

३—**वासिष्ठ शाखा**—ऋग्वेदीय वासिष्ठ धर्मसूत्र फूहरर के उत्तम संस्करण में मिलता है। फूहरर यह निश्चय नहीं कर सका कि इस सूत्र का सम्बन्ध ऋग्वेद की किस शाखा से है।[1] कुमारिल अपने तन्त्रवार्तिक १।३।११ में लिखता है—

गृह्यग्रन्थानां च प्रातिशाख्यलक्षणवत् प्रतिचरणं पाठव्यवस्थोपलभ्यते। तद्यथा—गौतमीयगोभिलीये छन्दोगैरेव च परिगृह्येते। वासिष्ठं बह्वृचैरेव। शङ्खलिखितोक्तं च वाजसनेयिभिः। आपस्तम्ब-बोधायनीये तैत्तिरीयैरेव प्रतिपन्ने इत्येवं ।

अर्थात्—जिस प्रकार प्रत्येक चरण का एक प्रातिशाख्य ग्रन्थ होता है, इसी प्रकार गृह्य ग्रन्थों की भी प्रतिचरण पाठव्यवस्था है। यथा—वासिष्ठ शास्त्र बह्वृच लोग पढ़ते हैं।

यहां कुमारिल का अभिप्राय यदि बह्वृच शाखा-विशेष से है, तो इतना निश्चित हो जाता है कि वासिष्ठ शाखा का सम्बन्ध बह्वृच चरण से था। वासिष्ठों के श्रौत और गृह्यसूत्र खोजने चाहिए।

वासिष्ठ श्रौत—आश्वलायन श्रौत की टीका में षड्गुरुशिष्य के लेख से ज्ञात होता है कि वासिष्ठ श्रौतसूत्र कभी सुलभ था।

एक समूह के चरणव्यूह ग्रन्थों में निम्नलिखित पाठ है—

एक शतसहस्रं वा द्विपञ्चाशत्सहस्रार्धमेतानि चतुर्दश वासिष्ठानाम्। इतरेषां पञ्चाशीति.।[2]

इसी पाठ की टीका में महिदास लिखता है—

---

१ द्वितीय संस्करण का उपोद्घात, प्रकाशन का सन् १९१६।

२. चरणव्यूहपरिशिष्टम्। पञ्जाब यूनि० के ओरियण्टल कालेज मैगजीन, नवम्बर १९३२ में मुद्रित, पृ० ३९।

एकलक्षद्विपञ्चाशत्सहस्रपञ्चशतचतुर्दशवासिष्ठानाम् ।
वासिष्ठगोत्रीयाणाम्-इन्द्रोतिभिः एकसप्ततिपदात्मको वर्गो नास्ति ।[1]

अर्थात्—वासिष्ठों की शाखा में १५२५१४ पद हैं। उन की संहिता में अष्टक ३, अध्याय ३ का २३वां वर्ग नहीं है। उस वर्ग की पदसंख्या ७१ है।

इस लेख से प्रतीत होता है कि वासिष्ठों की कोई पृथक् संहिता भी थी।

४—सुलभ शाखा—इस शाखा के ब्राह्मण का उल्लेख इस ग्रन्थ के ब्राह्मण भाग में होगा। वह ब्राह्मण ऋग्वेद सम्बन्धी था। इसका अनुमान आश्वलायनगृह्य तथा कौषीतकि के ऋषि तर्पण प्रकरण से होता है। वहां सुलभा मैत्रयी का नाम लिखा है। क्या इसी देवी सुलभा का इस ब्राह्मण से कोई सम्बन्ध था।

५—शौनक शाखा—शौनक ऋषि नैमिषारण्य वासी था। इसी के आश्रम में बड़े बड़े भारी यज्ञ होते थे। इसे ही बह्वृचसिंह कहते थे। इसी का एक शिष्य आश्वलायन था। महाभारत की कथा जनमेजय के सर्पसत्र के पश्चात् उग्रश्रवा ने इसी को सुनाई थी।

प्रपञ्चहृदय में ऋग्वेद की एक शौनक शाखा भी लिखी गई है। वैखानस सम्प्रदाय की आनन्दसंहिता के दूसरे और चौथे अध्याय में आश्वलायन से भिन्न ऋग्वेद का एक शौनकीय सूत्र भी गिना है।[2] इस की शाखा के विषय में अभी इस से अधिक और कुछ नहीं कहा जा सकता।

उपसंहार

अब ऋग्वेद की पूर्ववर्णित कुल शाखाएं नीचे लिखी जाती हैं—

१—मुद्गल शाखा
२—गालव शाखा
३—शालीय शाखा
४—वात्स्य शाखा
५—शैशिरि शाखा
} ये ही पांच शाकल हैं।

६—बौध्य शाखा
७—अग्निमाठर शाखा
८—पराशर शाखा
९—जातूकर्ण्य शाखा
} ये चार बाष्कल हैं।

---

[1] द्र० 'लोध नयन्ति', निरुक्त दुर्ग टीका ४।१४॥

[2] Of the Sacred Books of the Vaikhanasas, by W Caland, Amsterdam, 1928, p 10

१०—आश्वलायन शाखा
११—शांखायन शाखा
१२—कौषीतकि शाखा
१३—महाकौषीतकि शाखा
१४—शाम्बव्य शाखा
(११–१४) ये शांखायन हैं।
१५—माण्डूकेय
१६—बह्वृच शाखा
१७—पैङ्ग्य शाखा
१८—उद्दालक=गोतम=आरुण शाखा
१९ - शतबलाक्ष शाखा
२०—गज=हास्तिक शाखा
२१-२३—बाष्कलि भरद्वाज की शाखाएं
२४—ऐतरेय शाखा, महैतरेय
२५—वासिष्ठ शाखा
२६—सुलभ शाखा
२७—शौनक शाखा

व्याकरण महाभाष्य में ऋग्वेद की कुल इक्कीस शाखाएं कही गई हैं। परन्तु हमारी पूर्व लिखित गणना के अनुसार शाखा सख्या २७ है। अतः इन में से छः शाखाएं किन्हीं दूसरे नामों के अन्तर्गत आनी चाहिए। पहले नौ नाम सुनिश्चित हैं। ११-१३ नाम भी निर्णीत ही हैं। अत शेष नामों में इन छ. का अन्तर्भाव करना चाहिए। उस के लिए अभी पर्याप्त सामग्री का अभाव है। अणु भाष्य मे उद्धृत स्कन्द पुराण का एक प्रमाण पृ० १८३ पर उद्धृत किया गया है। तदनुसार ऋग्वेद की चौबीस शाखाएं थीं। आनन्द-सहिता के दूसरे अध्याय के अनुसार भी ऋग्वेद की चौबीस शाखाएं ही थीं। यदि यह गणना किसी प्रकार ठीक हो, तो हमारी शाखा सख्या में तीन नाम ही अधिक माने जाएगे। और यदि जिस प्रकार हमारी सख्या में अधिकता दिखाई देती है, वैसे ही स्कन्दपुराण और आनन्दसहिता वाला भी गणना ठीक न कर सका हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

———

एकलक्षद्विपञ्चाशत्सहस्रपञ्चशतचतुर्दशवासिष्ठानाम् ।
वासिष्ठगोत्रीयाणाम्-इन्द्रोतिभिः एकसप्ततिपदात्मको वर्गो नास्ति ।[1]

अर्थात्—वासिष्ठों की शाखा मे १५२५१४ पद हैं। उन की संहिता में अष्टक ३, अध्याय ३ का २३ना वर्ग नहीं है। उस वर्ग की पदसंख्या ७१ है।

इस लेख से प्रतीत होता है कि वासिष्ठों की कोई पृथक् संहिता भी थी।

४—सुलभ शाखा—इस शाखा के ब्राह्मण का उल्लेख इस ग्रन्थ के ब्राह्मण भाग में होगा। वह ब्राह्मण ऋग्वेद सम्बन्धी था। इसका अनुमान आश्वलायनगृह्य तथा कौषीतकि के ऋषि तर्पण प्रकरण से होता है। वहां सुलभा मैत्रयी का नाम लिखा है। क्या इसी देवी सुलभा का इस ब्राह्मण से कोई सम्बन्ध था।

५—शौनक शाखा—शौनक ऋषि नैमिषारण्य वासी था। इसी के आश्रम में बड़े बड़े भारी यज्ञ होते थे। इसे ही बह्वृचसिंह कहते थे। इसी का एक शिष्य आश्वलायन था। महाभारत की कथा जनमेजय के सर्पसत्र के पश्चात् उग्रश्रवा ने इसी को सुनाई थी।

प्रपञ्चहृदय में ऋग्वेद की एक शौनक शाखा भी लिखी गई है। वैखानस सम्प्रदाय की आनन्दसंहिता के दूसरे और चौथे अध्याय में आश्वलायन से भिन्न ऋग्वेद का एक शौनकीय सूत्र भी गिना है।[2] इस की शाखा के विषय में अभी इस से अधिक और कुछ नहीं कहा जा सकता।

उपसंहार

अब ऋग्वेद की पूर्ववर्णित कुल शाखाएं नीचे लिखी जाती हैं—

१—मुद्गल शाखा २—गालव शाखा ३—शालीय शाखा ४—वात्स्य शाखा ५—शैशिरि शाखा	ये ही पांच शाकल हैं।
६—बौध्य शाखा ७—अग्निमाठर शाखा ८—पराशर शाखा ९—जातूकर्ण्य शाखा	ये चार बाष्कल हैं।

[1] द्र० 'लोध नयन्ति', निरुक्त दुर्ग टीका ४।१४॥

2 Of the Sacred Books of the Vaikhanasas, by W Caland, Amsterdam, 1928, p 10

१०—आश्वलायन शाखा

११—शांखायन शाखा
१२—कौषीतकि शाखा
१३—महाकौषीतकि शाखा
१४—शाम्बव्य शाखा
} ये शांखायन हैं।

१५—माण्डूकेय

१६—बह्वृच शाखा

१७—पैङ्ग्य शाखा

१८—उद्दालक=गोतम=आरुण शाखा

१९—शतबलाक्ष शाखा

२०—गज=हास्तिक शाखा

२१-२३—बाष्कलि भरद्वाज की शाखाएं

२४—ऐतरेय शाखा, महैतरेय

२५—वासिष्ठ शाखा

२६—सुलभ शाखा

२७—शौनक शाखा

व्याकरण महाभाष्य में ऋग्वेद की कुल इक्कीस शाखाएं कही गई हैं। परन्तु हमारी पूर्व लिखित गणना के अनुसार शाखा संख्या २७ है। अतः इन में से छः शाखाएं किन्हीं दूसरे नामों के अन्तर्गत आनी चाहिएं। पहले नौ नाम सुनिश्चित हैं। ११-१३ नाम भी निर्णीत ही हैं। अतः शेष नामों में इन छः का अन्तर्भाव करना चाहिए। उस के लिए अभी पर्याप्त सामग्री का अभाव है। अणु भाष्य में उद्धृत स्कन्द पुराण का एक प्रमाण पृ० १८३ पर उद्धृत किया गया है। तदनुसार ऋग्वेद की चौबीस शाखाएं थीं। आनन्द-संहिता के दूसरे अध्याय के अनुसार भी ऋग्वेद की चौबीस शाखाएं ही थीं। यदि यह गणना किसी प्रकार ठीक हो, तो हमारी शाखा संख्या में तीन नाम ही अधिक माने जाएंगे। और यदि जिस प्रकार हमारी संख्या में अधिकता दिखाई देती है, वैसे ही स्कन्दपुराण और आनन्दसंहिता वाला भी गणना ठीक न कर सका हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

———

त्रयोदश अध्याय

ऋग्वेदीय शाखाओं का अष्टक आदि विच्छेद

ऋग्वेद की जो संहिता सम्प्रति प्राप्त है, उस में तीन प्रकार के अवान्तर विच्छेद उपलब्ध होते हैं—

१—अष्टक, अध्याय, वर्ग और मन्त्र।

२—मण्डल, सूक्त और मन्त्र।

३—मण्डल, अनुवाक, सूक्त और मन्त्र।

ऋग्वेद की वर्तमान संहिता में नैमित्तिक द्विपदा पक्ष में बालखिल्य सहित ८ अष्टक, प्रति अष्टक आठ अध्याय अर्थात् ६४ अध्याय, २०२४ वर्ग और १०५५२ मन्त्र हैं। इसी प्रकार १० मण्डल, १०२८ सूक्त और १०५५२ मन्त्र हैं। शौनक की अनुवाकानुक्रमणी के अनुसार १० मण्डल ८५ अनुवाक १०१७ सूक्त हैं, यह अनुवाक और सूक्त संख्या बालखिल्य सूक्तों के विना है।

४—इन तीन विभागों के अतिरिक्त ऋक्प्रातिशाख्य में प्रश्नरूपी विच्छेद का निर्देश भी है। उस के अनुसार यह विच्छेद अध्याय, सूक्त, प्रश्न और मन्त्रात्मक है। इस विच्छेद के निर्देशक श्लोक इस प्रकार हैं—

प्रश्नस्तृच पङ्क्तिषु तु द्वृचो वा द्वे द्वे च पङ्क्तेरधिकाक्षरेषु।
एका च सूक्त समयास्त्वगण्याः परावरार्ध्यां द्विपदे यथैका॥
सूक्तस्य शेषोऽल्पतरो यदि स्यात् पूर्वं स गच्छेद् यदि तु द्वृचो वा।
ते पञ्चिरध्याय उपाधिका वा सूक्तेऽसमाप्ते यदि ते समाप्ताः॥
पटल १५॥

अर्थात्—[गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप् और बृहती छन्द वाले सूक्तों में] प्रश्न तीन ऋचाओं का होता है। पङ्क्ति छन्द वाले सूक्त में तीन ऋचाओं का अथवा दो ऋचाओं का होता है। पङ्क्ति से अधिक अक्षर वाले छन्दों के सूक्तों में दो दो ऋचाओं का प्रश्न होता है। जो सूक्त एकर्च हो उस में एक ही ऋचा का प्रश्न होता है। [जहां पर पूर्व पठित ऋक् का अर्धर्च अथवा एक चरण पुनः पठित होता है उसे वैदिक लोग न पुनः लिखते हैं और न पढ़ते हैं। उसे समय कहा जाता है। ये] समय प्रश्न कल्पना में अगण्य होते हैं। ऐसे स्थानों पर पूर्वार्ध और अगली ऋचा के अर्ध को मिला कर एक

ऋचा मानी जाती है, जैसे द्विपदाओं में दो दो ऋचाओं को एक ऋचा मानते हैं। इस प्रकार प्रश्न कल्पना के अनन्तर सूक्त का शेष अल्पतर [तृचात्मक प्रश्न में एक अथवा दो ऋचा, और द्वृच प्रश्न में एक ऋचा] शेष रहे तो वह पूर्व प्रश्न का अंग बन जाती हैं। ये प्रश्न अध्याय में ६० होते हैं, अथवा उप=न्यून (५६) वा अधिक (६१) होते हैं। यदि ६१ के अनन्तर भी सूक्त समाप्त न हो तो ६१ से अधिक भी होते हैं।

प्रश्नात्मक विच्छेद-प्रदर्शक उपर्युक्त श्लोकों को केशव ने अपने ऋग्वेद कल्पद्रुम के उपोद्घात के अन्त में उद्धृत करके इन की व्याख्या भी की है। वह व्याख्या उव्वट की ऋक्प्रातिशाख्य की व्याख्या से अधिक स्पष्ट है।

ऋग्वेद के भाष्यकार वेङ्कट माधव अष्टक अध्याय आदि विच्छेद के विषय में लिखता है—

अष्टकाध्यायविच्छेदः पुराणैर्ऋषिभिः कृतः।
उद्ग्रहार्थं तु प्रदेशानामिति मन्यामहे वयम् ॥१॥
वर्गाणामपि विच्छेद आर्ष एवेति निश्चयः।
ब्राह्मणेष्वपि दृश्यन्ते वर्गसंशब्दनादि च ॥२॥

अष्टक ५, अध्याय ५ के प्रारम्भ में।

अर्थात्—अष्टक अध्याय आदि का विच्छेद पुराने ऋषियों ने संहिता के स्थानों का निर्देश करने के लिए किया है। वर्गों का विभाग भी आर्ष है, ऐसा निश्चय है। ब्राह्मणों में भी वर्ग आदि शब्द देखे जाते हैं।

पूर्वनिर्दिष्ट प्रश्न विभाग अध्ययन के सौकर्य के लिए ही कल्पित किया गया है, यह ऋक्प्रातिशाख्य के इसी प्रकरण से स्पष्ट है।

——:०:——

चतुर्दश अध्याय

ऋग्वेद की ऋक्संख्या

शतपथ ब्राह्मण १०।४।२।२३ में लिखा है—

स ऋचो व्यौहत् । द्वादशबृहतीसहस्राण्येतावत्यो ह्यर्चो या प्रजापतिसृष्टा ।

अर्थात्—उस प्रजापति ने ऋचाओं को गणना के भाव से पृथक् पृथक् किया । बारह सहस्र बृहती । इतनी ही ऋचाएं हैं, जो प्रजापति ने उत्पन्न कीं ।[1]

एक बृहती छन्द में ३६ अक्षर होते हैं, अतः १२०००×३६= ४३२००० अक्षर के परिमाण की सब ऋचाएं हैं—

शौनकीय अनुवाकानुक्रमणी का अन्तिम वचन है—

चत्वारिंशतसहस्राणि द्वात्रिंशच्चाक्षरसहस्राणि ।

अर्थात्—ऋचाएं ४३२००० अक्षर परिमाण की हैं ।

इस से पहले अनुवाकानुक्रमणी में लिखा है—

ऋचां दश सहस्राणि ऋचां पञ्चशतानि च ।
ऋचामशीति पादश्च पारण सम्प्रकीर्तितम् ॥४३॥

अर्थात्—१०५८० ऋचा और एक पाद पारायण पाठ में हैं ।

यह पारायण एक ही शाखा का नहीं, प्रत्युत सब शाखाओं का मिला कर होगा, क्योंकि चरणव्यूह में लिखा है—

एतेषां शाखाः पञ्चविधा भवन्ति—

शाकलाः, बाष्कलाः, आश्वलायना, शांखायना, माण्डूकेयाश्चेति ।

तेषामध्ययनम्—

अध्यायाश्चतुःषष्टिर्मण्डलानि दशैव तु ।
ऋचां दश सहस्राणि ऋचां पञ्चशतानि च ।
ऋचामशीति पादश्चैतत् पारायणमुच्यते ॥

---

१ ब्रह्माण्डपु० पूर्वभाग ३५।८४, वायुपु० ६१।७४, तथा विष्णुपु० ३।६।३२ में वेदों को प्राजापत्य श्रुति ही कहा गया है ।

अर्थात्—इन सब शाखाओं में ६४ अध्याय और दश ही मण्डल हैं, तथा ऋक्संख्या १०५८० और एक पाद है।

कुछ चरणव्यूहों में दो, तीन वा चार श्लोक और भी मिलते हैं, परन्तु वे किसी शाखा-विशेष सम्बन्धी हैं, अतः उनका उल्लेख यहां नहीं किया गया।

ऋग्वेद की समस्त शाखाओं में कुल ऋक्संख्या १०५८० और एक पाद है, इस का संकेत लौगाक्षिस्मृति में भी मिलता है—

ऋचां दश सहस्राणि ऋचां पञ्चशतानि च।
ऋचामशीतिपादश्च पारायणविधौ खलु॥
पूर्वोक्तसंख्यायाश्चेत्तु सर्वशाखोक्तसूत्रगा।
मन्त्राश्चैव मिलित्वैव कथनं चेति तत्पुनः॥ पृ० ४७८।

प्रपञ्चहृदयकार का मत—प्रपञ्चहृदय (पृष्ठ २०) के अनुसार ऋचाओं की दस हजार पांच सौ अस्सी और एक पाद संख्या ऐतरेय शाखा की मन्त्र संख्या थी।

अनुवाकानुक्रमणी के अनुसार ऋग्वेद की शैशिरि शाखा में १०४१७ मन्त्र हैं।[1]

ऋक्गणना में द्विपदा ऋचाएं

ऋग्वेद की ऋचा-गणना में एक और बात भी ध्यान में रखने योग्य है। ऋक्सर्वानुक्रमणी के अनुसार द्विपदा ऋचाएं अध्ययन काल में दो दो की एक एक बना कर पढ़ी जाती हैं। यथा—

द्विर्द्विपदास्त्वृचः समामनन्ति। सर्वानु०।

इस पर षड्गुरुशिष्य लिखता है—

ऋचोऽध्ययने त्वध्येतारो द्वे द्वे द्विपदे एकैकामृचं कृत्वा समामनन्ति समामनेयुः।

इस का अभिप्राय लिखा जा चुका है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती की गणना के अनुसार ऋग्वेद में कुल मन्त्र १०५८९ हैं। परन्तु प्रति मण्डल के मन्त्रों को मिला कर उनकी संख्या निम्नलिखित है—

---

१ यह संख्या वर्ग क्रम के अनुसार है। देखो अनु० श्लोक ४०-४२।

द्विपदा ऋचाओं का आधा अर्थात् १४०/२=७० और इस में से ऋ० ५।२४ की २ न्यून करके (जो पहले ही द्विगुणित हैं) ६८ जोडी जाए तो कुल संख्या १०५८६ हो जाती है। इन नैमित्तिक द्विपदा ऋचाओं के सम्बन्ध में लिखा है कि—

इयने एकैका अध्ययने द्वे द्वे। महिदासकृत चरणव्यूह टीका। ये नैमित्तिक द्विपदा ऋचाएं स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने एक एक ही गिनी हैं। अध्ययन में चाहिए गिननी दुगनी। अतः हम ने ६८ और जोडी हैं। इस गणना में एक का भेद जो पहले लिख चुके हैं, रह जाता है।

इन्हीं द्विपदा ऋचाओं की गणना को न समझ कर अनेक लोगों ने वेदमन्त्रों की गणना में ही भेद समझ लिया है। उदाहरणार्थ स्वामी हरिप्रसाद का लेख वेदसर्वस्व पृ० ६७ पर देखिए—

"चरणव्यूह के टीकाकार महिदास ने ऋग्वेद मन्त्रों की संख्या दस हजार चार सौ बहत्तर १०४७२ लिखी है। परन्तु यह नैमित्तिक द्विपदा ऋचाओं सहित है, जिनकी संख्या १४० होती है। यदि वह निकाल दी जाये तो शेष संख्या दस हजार तीन सौ बत्तीस १०३३२ रह जाती है।"

इस लेख से प्रतीत होता है कि स्वामी हरिप्रसाद ने महिदास का गणना प्रकार नहीं समझा। नैमित्तिक द्विपदा ऋचाएं १४० हैं। अतः वे ७० मन्त्र बने। १४० न्यून करना भूल है। ७० न्यून करके कुल संख्या १०४०२ हो जाती है। यह संख्या शैशिरि शाखा की है।

पुराणों की ऋक्संख्या

ब्रह्माण्ड और वायु पुराण में एक और ऋक्संख्या है। उस का संशोधित पाठ नीचे दिया जाता है—

सहस्राणि ऋचां चाष्टौ षट्शतानि तथैव च।
एताः पञ्चदशान्याश्च दशान्या दशभिस्तथा॥
सवालखिल्याः संप्रैषाः ससुपर्णाः प्रकीर्तिताः।

इस संख्या के लिखे जाने का अभिप्राय हम नहीं समझ सके। सम्भव हो सकता है कि इस गणना में दो या तीन स्थानों पर आया हुआ एक ही मन्त्र एक वार ही गिना गया हो। इस गणना के अनुसार ऋक्संख्या ८६३५ अथवा ८७१५ है।

शतपथ की गणना और लौगाक्षि-स्मृति

शतपथ की पूर्वोक्त गणना का अभिप्राय समस्त शाखाओं की ऋक्गणना से है। इस सम्बन्ध में लौगाक्षिस्मृति में कहा है—

> ऋचो यजूंषि सामानि पृथक्त्वेन च संख्यया।
> सहस्राणि द्वादश स्यु सर्वशाखास्थितान्यपि।
> मन्त्ररूपाणि विद्वद्भिः ज्ञेयान्येवं स्वभावतः।[1]

अर्थात्—समस्त शाखाओं के ऋक्, यजु और साम पृथक् पृथक् बारह बारह सहस्र हैं।

माण्डूकेय आदि कई शाखाओं में याजुष शाखाओं से ऋचाएं ली गई हैं

पुराणों के मतानुसार पहले एक ही यजुर्वेद था। उसी से ऋचाएं लेकर ऋग्वेद पृथक् किया गया। हम लिख चुके हैं कि आर्ष प्रमाणों के अनुसार वेद पहले से ही चार थे। अत पुराणों के इस मत का तात्पर्य चिन्त्य है। दीर्घ अध्ययन से हमारी ऐसी धारणा हो रही है कि माण्डूकेय चरण की अधिक ऋचाएं सम्भवत· याजुष शाखाओं से ली गई हों। इस पर विचार-विशेष पुन. करेंगे।

क्या ऋग्वेद में से ५००, ४९९ मन्त्र लुप्त हो गए हैं

बृहद्देवता ३।१३० और ऋक् सर्वानुक्रमणी में ऋग्वेद १।९९ पर लिखा है कि कई पुराने आचार्यों का मत है कि ऋ० १।९९ से आरम्भ होकर एक सहस्र सूक्त थे। उन का देवता जातवेद और ऋषि कश्यप था। शाकपूणि मानता था कि प्रथम सूक्त में एक मन्त्र था, और प्रत्येक अगले सूक्त में एक एक मन्त्र बढ़ता जाता था। सर्वानुक्रमणी का वृत्तिकार षड्गुरु-शिष्य इस विषय में शौनक की आर्षानुक्रमणी का निम्नलिखित पाठ उद्धृत करता है—

> खिलसूक्तानि चैतानि त्वाद्यैकर्चमधीमहे।
> शौनकेन स्वय चोक्तमृष्यनुक्रमणे त्विदम॥

१—दयानन्द कालिज का हस्तलेख, देवनागरी प्रतिलिपि पृ० ४७१।

पूर्वात्पूर्वा सहस्रस्य सूक्तानामेकभूयसाम् ।
जातवेदस इत्याद्य कश्यपार्षस्य शुश्रुम ॥[१] इति
सयोवृधीयान्ता वेदमध्यास्त्वखिलसूक्तगा ।
ऋचस्तु पञ्चलक्षाः स्युः सैकोनशतपञ्चकम् ॥

अर्थात्—इन ६६६ सूक्तों में ५,०० ४६६ मन्त्र थे।

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या ये मन्त्र कभी ऋग्वेद का अङ्ग थे। माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य के कथन का अभिप्राय है कि नहीं, ऐसा नहीं था। वहां लिखा है—

द्वादशबृहतीसहस्राणि। एतावत्यो ह्यर्चो या प्रजापतिसृष्टाः।

अर्थात्—प्रजापति सृष्ट ऋचाएं बारह सहस्र बृहती छन्द परिमाण की हैं।

यदि नित्य वेद में इतनी ही ऋचाएं हैं, तो ये ५,००, ४६६ मन्त्र नित्य वेद का अंग नहीं थे। ये वैसे ही मन्त्र होंगे, जैसे अनेक उपनिषदों में अब भी मिलते हैं। उन औपनिषद् मन्त्रों को कोई विद्वान् वेद का अङ्ग नहीं मानता। इसी प्रकार सूत्र ग्रन्थों में अनेक ऐसे मन्त्र हैं, जो कभी भी वेद का अङ्ग नहीं हो सकते। इस बात की विशेष खोज के लिए इन सहस्र सूक्तों के सम्बन्ध में प्राचीन सम्प्रदाय का अधिक अन्वेषण करना चाहिये। परन्तु ब्राह्मण और उपनिषद् आदिकों में जहां 'ऋचा' कह कर मन्त्र उद्धृत हैं, वे अवश्य मूल ऋचाओं के अन्तर्गत थे।

मीमांसकजी—पं० युधिष्ठिर मीमांसक जी ने ऋग्मन्त्रगणना पर एक ग्रन्थ 'ऋग्वेद की ऋक्संख्या' नामक संवत २००६ में लिखा था। उन का परिश्रम देखने योग्य है।

दाशतयी

ऋग्वेद की प्रत्येक शाखा में दस ही मण्डल थे, अतः जब सब शाखाओं का वर्णन करना होता है, तो **दाशतयी** शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार यह भी प्रतीत होता है कि प्रत्येक आर्च शाखा में ६४ अध्याय ही थे। अनुवाकानुक्रमणी और चरणव्यूह में लिखा है—

अध्यायाश्चतुःषष्टिर्मण्डलानि दशैव तु।

१. स्कन्द स्वामी ऋग्भाष्य १।६६।१ में यह श्लोक उद्धृत करता है।

अर्थात—६४ अध्याय और १० ही मण्डल हैं।

इसी भाव से कुमारिल अपने तन्त्रवार्तिक में लिखता है—

प्रपाठकचतुःषष्टिर्नियतस्वरकै पदैः।
लोकेष्वप्यश्रुतप्रायैऋग्वेदं कः करिष्यति।[1]

पुरुष सूक्त

वेदों और उनकी शाखाओं में पुरुष सूक्त की ऋक् गणना कैसी है, इस विषय में अहिर्बुध्न्य संहिता अध्याय ५६ में कहा है—

नानाभेदप्रपाठं तत्पौरुषं सूक्तमुच्यते।
ऋचश्चतस्रः केचित्तु पञ्च षट् सप्त चापरे ॥३॥
ऋच षोडश चाप्यन्ये तथाष्टादश चापरे।
अधीयते तु पुंसूक्तं प्रतिशाखं तु भेदत. ॥४॥

इन्हीं श्लोकों की व्याख्या अन्यत्र मिलती है—

एतद्वै पौरुषं सूक्तं यजुष्यष्टादशर्चकम्।
बह्वृचे षोडशर्चं स्यात् छान्दोग्ये पञ्च सामनि ॥
चतस्रो जैमिनीयानां सप्त वाजसनेयिनाम्।
आथर्वणानां षड्ऋचमेवं सूक्तविदो विदुः ॥[2]

अर्थात्—पुरुष सूक्त (कृष्ण) यजुः में १८ ऋचा का, ऋग्वेद में १६ ऋचा का, किसी वाजसनेय शाखा में ७ ऋचा का, अथर्व में ६ ऋचा का, साम में ५ ऋचा का और साम की जैमिनीय शाखा में ४ ऋचा का है।

लुप्त शाखाओं की कुछ ऋचाएं

ऋग्, यजु॰, सामाथर्व की लुप्त शाखाओं की कुछ ऋचाएं मारीस ब्लूमफील्ड के वैदिक कानकार्डेन्स में मिलती हैं। तथापि कई ऐसी ऋचाएं हैं जो उस में नहीं मिलतीं, परन्तु प्राचीन ग्रन्थों में उद्धृत मिलती हैं। सम्भव है वे इन शाखाओं के मन्त्र हों, अतः उन्हें यहां लिखा जाता है—

भर्तृहरि वाक्यपदीय १।१२१ की व्याख्या में लिखता है—

---

१. चौखम्बा संस्करण पृ० १७२।

२ मद्रास राजकीय संग्रह के संस्कृत हस्तलेखों का सूचीपत्र, भाग २, सन् १६०४, वैदिक भाग, पृ० २३४।

ऋग्वर्णं खल्वपि—

१—इन्द्राच्छन्दः प्रथमं प्रास्यदन्न तस्मादिमे नामरूपे विषूची।
नाम प्राणाच्छन्दसो रूपमुत्पन्नमेकं छन्दो बहुधा चाकशीति॥

तथा पुनराह—

२—वागेव विश्वा भुवनानि वागुवाच इत्सर्वममृतं यच्च मर्त्यम्।
अथेद्वाग्बुभुजे वागुवाच पुरुत्रा वाचो न परं यच्चनाह॥

पिङ्गल छन्द. सूत्र ३।१८ की टीका में यादवप्रकाश लिखता है—

३—इन्द्रः शचीपतिर्बलेन व्रीडित।
दुश्च्यवनो वृषा समत्सु सासहिः॥

यही मन्त्र ऋक्प्रातिशाख्य १६।१४ के उवट भाष्य में चतुष्पदा गायत्री के उदाहरण में मिलता है। पिङ्गल छन्दः सूत्र ३।१२ की टीका में नागी गायत्री के उदाहरण में यादवप्रकाश लिखता है—

४—ययोरिदं विश्वमेजति ता विद्वांसा हवामहे वाम्।
वीतं सोम्यं मधु॥

वहीं ३।१५ की टीका में प्रतिष्ठा गायत्री के उदाहरण में यादवप्रकाश लिखता है—

५—देवस्त्वा सविता मधु पाङ्क्तां विश्वचर्षणी।
स्फीत्येव नश्वर॥

कृत्यकल्पतरु गार्हस्थ्य काण्ड पृ० १२६ तथा गृह्य रत्नाकार पृष्ठ १०२, १०३ पर हारीतधर्म सूत्र का एक लम्बा पाठ उद्धृत है। तदन्तर्गत एक ऋचा उद्धृत है। यह पाठ बहुत भ्रष्ट हो चुका है। उस का स्वमति सशोधित पाठ आगे लिखा जाता है—

६—वैश्वानरमतिथिमाददानमन्तर्विधौ परमे व्योमनि।
आत्मन्यात्मानमभि संविदानं प्राति सायमरातिर्याति विद्वान्।
सम्यग्वीरमतिथिं रोचयन्त इमाँल्लोकाननृताः सचरेम॥

महाभारत आदिपर्व अध्याय तीन में लिखा है—

स एवमुक्त. उपाध्यायेन स्तोतुं प्रचक्रमे देवावश्विनौ वाग्भिर्ऋग्भिः॥५९॥

इन से आगे दश वचन हैं, जो ऋक् समान हैं। वेद पढ़ने वालों को इन पर विचार करना चाहिए। महाभारत के इसी अध्याय में १५०-१५३ श्लोक तक **मन्त्रवादश्लोक** हैं। वे तो स्पष्ट ही साधारण श्लोक हैं।

वैदिक ग्रन्थों में पठित और मुद्रित शाखाओं में अनुपलब्ध ऋचाएं हम ने यहां नहीं लिखीं। स्मरण रखना चाहिए कि ऋग्वेद के खिलों में पठित कई ऋचाएं सर्वथा कल्पित हैं। वे कभी भी किसी शाखा में नहीं होंगी।

ऋग्वेद और उस की शाखाओं का यह अति संक्षिप्त वर्णन हो गया। अब यजुर्वेद और उस की शाखाओं के विषय में लिखा जायेगा।

पञ्चदश अध्याय

यजुर्वेद की शाखाएं

शुक्ल और कृष्ण शाखाएं

नाम—यजुर्वेद को प्राचीन वैदिक **अध्वर वेद** भी कहते थे। यथा—

१—लक्ष्मीधरकृत कृत्यकल्पतरु के गार्हस्थ्यकाण्ड में देवल धर्मसूत्र का पाठ उद्धृत है। वहां ऐसा प्रयोग है।

२—यास्क मुनि निरुक्त ७।३ में 'आध्वर्यवे' पाठ पढ़ता है।

शुक्ल की मान्यता—यद्यपि भगवान् व्यास ने वैशम्पायन को कृष्ण यजुर्वेद ही पढाया, तथापि प्राचीन सम्प्रदाय में शुक्ल यजु. की अत्यन्त प्रतिष्ठा रही है।

१—गोपथ ब्राह्मण पूर्व भाग १।२९ में लिखा है—

इषे त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण इत्येवमादिं कृत्वा यजुर्वेदमधीयते।

अर्थात्—यजुर्वेद के पाठ का आरम्भ शुक्ल यजुः के प्रथम मन्त्र से होता है।

कृष्ण यजुर्वेद में **वायव स्थ** के आगे **उपायव स्थ** पाठ होता है। अतः उस पाठ का यहां अभाव है। इस से प्रतीत होता है कि ब्राह्मण-प्रवक्ता को यहां शुक्ल यजु का ही प्रथम मन्त्र अभिमत था। वह इसी को यजुर्वेद मानता था।

२—इसी प्रकार वायुपुराण अध्याय २६ में कहा गया है—

ततः पुनर्द्विमात्र तु चिन्तयामास चाक्षरम्।
प्रादुर्भूत च रक्तं तच्छेदने गृह्य सा यजु ॥१९॥
इषे त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो व. सविता पुनः।
ऋग्वद एकमात्रस्तु द्विमात्रस्तु यजु स्मृतः ॥२०॥

अर्थात्—शुक्ल यजुर्वेद का प्रथम मन्त्र ही यजुर्वेद का प्रथम मन्त्र है।

तद्विपरीत आथर्वण उत्तम पटल (परिशिष्ट ४६) में कृष्ण यजुः का प्रथम मन्त्र उद्धृत है।

शुक्ल यजुः नाम की प्राचीनता

शुक्ल यजु नाम बहुत प्राचीन है। माध्यन्दिन शतपथ का अन्तिम वचन है—

आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते

अर्थात्—आदित्य सम्बन्धी ये शुक्ल यजु. वाजसनेय याज्ञवल्क्य के नाम से पुकारे जाते हैं।

कृष्ण यजुः नाम कितना पुराना है

प्रतिज्ञासूत्र की प्रथम कण्डिका के भाष्य में अनन्त और चरणव्यूह की दूसरी कण्डिका के भाष्यान्त में महिदास यजुः के साथ कृष्ण शब्द का प्रयोग करते हैं। इन से पहले होने वाला आचार्य सायण शुक्लयजु. काण्व-संहिता-भाष्य की भूमिका में दो स्थानों पर कृष्ण यजु शब्द का प्रयोग करता है। *मुक्तिकोपनिषद् सायण से कुछ पहले की होगी। परन्तु इस सम्बन्ध में हम* निश्चय से कुछ नहीं कह सकते। सम्भव है यह उस से भी नवीन हो। उस में १।२।३ पर कृष्णयजुर्वेद पद मिलता है। इन के अतिरिक्त एक और प्रमाण अनन्त ने प्रतिज्ञासूत्र भाष्य में दिया है। वह किस ग्रन्थ का है, यह हम नहीं कह सकते। वह प्रमाण नीचे दिया जाता है—

शुक्लं कृष्णमिति द्वेधा यजुश्च समुदाहृतम्।
शुक्लं वाजसनं ज्ञेयं कृष्णं तु तैत्तिरीयकम्॥
तत्र हेतु—
बुद्धिमालिन्यहेतुत्वात्तद्यजु कृष्णमीर्यते।
व्यवस्थितप्रकरणं तद्यजुः शुक्लमीर्यते॥
इत्यादि स्मृतेश्च—

मन्त्रभ्रान्तिहर नाम का एक पुस्तक है। उसे ही सूत्रमन्त्रप्रकाशिका भी कहते हैं। वह किसी किसी चरणव्यूह में भी उल्लिखित है। उस में लिखा है—

यजुर्वेद· कल्पतरुः शुक्लकृष्ण इति द्विधा।
सत्त्वप्रधानाच्छुक्लाख्यो यातयामविवर्जितात्॥६१॥
कृष्णस्य यजुष· शाखा· षडशीतिरुदाहृताः॥६४॥

अर्थात्—यजुर्वेद कृष्ण शुक्ल भेद से दो प्रकार का है।

यह पुस्तक है तो कुछ प्राचीन, परन्तु निश्चय से इस के काल-विषय में भी अभी तक कुछ नहीं कहा जा सकता।

अत निश्चितरूप से तो इतना ही कहा जा सकता है कि इस शब्द का प्रयोग सायण से पूर्व के ग्रन्थों में अभी खोजना चाहिये।

याजुष शाखाएं

पतञ्जलि मुनि अपने व्याकरण महाभाष्य के पस्पशाह्निक में लिखता है—

एकशतमध्वर्युशाखा ।

अर्थात्—यजुर्वेद की एक सौ एक शाखा है।

प्रपञ्चहृदय के द्वितीय अर्थात् वेद प्रकरण में लिखा है—

यजुर्वेद एकोत्तरशतधा। . . । यजुर्वेदस्य—

माध्यन्दिन-कण्व-तित्तिरि-हिरण्यकेश-आपस्तम्ब-सत्याषाढ-बौधायन-याज्ञवल्क्य-भद्रञ्जय बृहदुक्थ-पाराशर-वामदेव-जातुकर्ण-तुरुष्क-सोमशुष्म-तृणविन्दु-वाजिञ्जय-श्रवस-वर्षवरूथ-सनद्वाज-वाजिरत्न-—हर्यश्व-ऋणञ्जय-तृणञ्जय-कृतञ्जय-धनञ्जय-सत्यञ्जय-महञ्जय-मिश्रञ्जय-त्र्यरुण-त्रिवृष—त्रिधामाश्वञ्ज-फलिगु—उखा-आत्रेयशाखा ।[1]

अर्थात—यजुर्वेद की ये ३६ शाखाए प्रपञ्चहृदय के लेखक को उपलब्ध या ज्ञात थी। इन मे से अनेक नाम शाखाकार ऋषियों के प्रतीत नहीं होते।

दिव्यावदान नामक बौद्धग्रन्थ में लिखा है—

एकविंशति अध्वर्यव। ' ' अध्वर्यूणां मते ब्राह्मणा' सर्वे ते ऽध्वर्यवो भूत्वा एकविंशतिधा भिन्नाः। तद्यथा—कठा.। काण्वा.। वाजसनेयिन। जातुकर्णा। प्रोष्ठपदा ऋषय। तत्र दश कठा दश

१—बौधायनगृह्य ३।१०।५ मे भी प्राय ये नाम मिलते हैं। आपस्तम्ब-गृह्य के कुछ हस्तलेखा में एक उपाकर्म का प्रकरण मिलता है। वहां भी ये नाम मिलते हैं। देखो, प० चिन्न स्वामी सम्पादित हरदत्त वृत्ति-सहित आपस्तम्बगृह्य, पृ० १५८।

पूर्वोक्त नामा में 'फलिगु' का पाठान्तर पलिगु हो सकता है।

काण्वा एकादश वाजसनेयिन त्रयोदशजातुकर्णा षोडश प्रोष्ठपदाः पञ्चचत्वारिंशद् ऋषयः ।

यह पाठ हम ने थोडा सा शोध कर लिखा है । परन्तु **एकविंशति** के स्थान में यहां कभी **एकशत** पाठ होगा । दिव्यावदान की गणना के अनुसार १० कठ, १० काण्व, ११ वाजसनेय, १३ जातूकर्ण और १६ प्रोष्ठपद हैं। इस प्रकार कुल ६० शाखाकार हुए। इन के साथ वह ४५ ऋषि और जोड़ता है। यदि पूर्वोक्त पाठ का यही अर्थ समझा जाए, तो इस बौद्ध ग्रन्थ के अनुसार यजुर्वेद की कुल १०५ शाखाएं होंगी। याजुष शाखाओं का यह विभाग बड़ा विचित्र है और अन्यत्र पाया नहीं जाता।

याजुष-शाखा सम्बन्धी दो चित्र

याजुष शाखाओं का वर्णन करने वाले दो चित्र गत चौदह वर्ष के अन्वेषण में हमें मिले हैं। पहला चित्र नासिकक्षेत्रान्तर्गत पञ्चवटी-वासी श्री यज्ञेश्वरदाजी मैत्रायणीय के घर से प्राप्त हुआ था। यह उन के चित्र की प्रतिलिपि है। दूसरा चित्र नासिकक्षेत्रवास्तव्य श्री अण्णाशास्त्री वारे के पुत्र पण्डित श्रीधर शास्त्री ने अपने हाथ से हमारे लिए नकल किया था। प्रथम चित्रानुसार याजुष शाखाओं का वर्णन आगे किया जाता है।

[प्रथम विभाग]

वाजिमाध्यन्दिनो-शुक्लयजु.-मुख्य सप्तदशभेदाः

१—जाबालः	नार्मदा.	नर्मदाविन्ध्ययोर्मध्यदेशे
२—बौधेया.	रणावटनामका.	स्वादेशे गोदामूलप्रदेशे
३—कण्वाः	कर्णवटाः	गोमतीपश्चिमप्रदेशे
४—माध्यन्दिनाः		शरयूतीरनिवासिनः
५—शापीयाः	नागराः	अमरकण्टकनर्मदामूलवासिनः
६—स्थापायनीया.	नारदेवाः	नर्मदोत्तरदेशे
७—कापारः	भृगौडा.	मालवदेशे
८—पौंड्रवत्साः	त्रिवाडनामकाः	मालवदेशे
९—आवटिकाः	श्रीमखा.	मालवदेशे
१०—परमावटिकाः	आद्यगौडा	गौडदेशे
११—पाराशर्याः	गौडगुर्जराः	मरुदेशे
१२—वैधेया.	श्रीगौडाः	गौडदेशे

१३—दैनेयाः	ककराः	बौध्यपर्वते
१४—औधेयाः	औधेया	गुरथी गुर्जरदेशे
१५—गालवा.	गालवी	सौराष्ट्रदेशे
१६—बैजवा	वैजवाड	नारायणसरोवरे
१७—कात्यायना.		नर्मदासरोवरे

[प्रथम त्रिभागान्तर्गत सं० १ वाले जाबालों के २६ भेद]

१—उत्कलाः		उत्कील गौडदेशे
२—मैथिलाः		विदेहदेशे
३—शवर्या.	मिश्र	ब्रह्मवर्तदेशे
४—कौशीलाः		बाल्हीकदेशे
५ ततिला.		सौराष्ट्रदेशे
६—बर्हिशीलाः		बाहककाश्मीरदेशे
७—खेटवाः		खैवटद्वीपवास्देशे
८—डोंभिल		हिमवद्दक्षिणदेशे
९—गोभिल	डभिलाः	गडकीतीरदेशे
१०—गौरवाः	ग्रामणी	मद्रदेशे
११—सौभराः		कौशिकदेशे
१२—जृंभकाः		आर्यावर्तदेशे
१३—पौंड्रकाः	मिश्रो.	कवसलदेशे
१४—हरितः		सरस्वतीतीरगाः
१५—शौंडकाः		हिमवद्देशे
१६—रोहिणः	मिश्र	गुर्जरदेशे
१७—माभराः	माभीर	काश्मीरदेशे
१८—लैंगगा		कलिंगदेशे
१९ मांडवाः	मांडवी	गौडदेशे
२०—भारवाः		मरुदेशे
२१—चौभगा.	चोमे	मथुरादेशे
२२—टीनकाः		नेपालदेशे
२३—हिरण्यशृङ्गाः		मागधदेशे

२४—कारुण्वेयाः	करुणिका	मागधदेशे
२५—धूम्राक्षा		हिमवद्देशे
२६—कापिला.		आर्यावर्तदेशे

[प्रथम-विभागान्तर्गत सं० १५ वाले गालवों के २४ भेद]

१—काणा.	कनवजा	गौडदेशे
२—कुब्जा	कुलका	मागधदेशे
३—सारस्वताः		सरस्वतीतीरे
४—अंगजा		अंगदेशे
५—वगजाः		वगदेशे
६—भृगजाः	भृगाः	भृगदेशे
७—यावनाः	योवन	सगरदेशे
८—शैवजाः	शैवज	मरुद्देशे
९—पालीभद्राः	पारीभद्र	सिंहलदेशे
१०—नैलगा.	नैलव	कूर्मदेशे
११—वैतानलाः		नेपालदेशे
१२—जनिश्रवाः	जनीश्रव	मत्स्यदेशे
१३—भद्रका	भद्रकार	बौध्यपर्वतदेशे
१४—सौभराः		बौध्यपर्वतदेशे
१५—कुथिश्रवाः	कुथिवश्रव	हिमवद्देशे
१६—बौध्यकाः	बोधक	बौध्यपर्वतदेशे
१७—पांचालजाः		पांचालदेशे
१८—उर्ध्वगजा		काश्मीरदेशे
१९—कुशेन्द्रवा		कूर्मदेशे
२०—पुष्करणीयाः		मारवाडदेशे
२१—जयत्रवाराः		मरुद्देशे
२२—उर्ध्वरेतस	जयत्रव	मरुदेशे
२३—कथसाः	काथम	गोदादक्षिणभागे
२४—पालाशनीयाः	पलसी	गोदादक्षिणदेशे

[द्वितीय विभाग]

वाजसनेय-याज्ञवल्क्य-कण्वादिपञ्चदश-शुक्लयाजुषाः ।

१—कण्वाः	कृष्णाउनदेशे

१३—दैनेयाः	ककराः	बौध्यपर्वते
१४—औधेया	औधेया	गुरथी गुर्जरदेशे
१५—गालवा	गालवी	सौराष्ट्रदेशे
१६—वैजवा	वैजवाड	नारायणसरोवरे
१७—कात्यायना.		नर्मदासरोवरे

[प्रथम विभागान्तर्गत सं० १ वाले जावालों के २६ भेद]

१—उत्कला.		उत्कील गौडदेशे
२—मैथिलाः		विदेहदेशे
३—शवर्या.	मिश्र	ब्रह्मवर्तदेशे
४—कौशीलाः		बाल्हीकदेशे
५ ततिला.		सौराष्ट्रदेशे
६—वर्हिशीलाः		बाहककाश्मीरदेशे
७—खेटवा·		खैवटद्वीपवारदेशे
८—डोंभिल		हिमवद्दक्षिणदेशे
९—गोभिल	डभिला.	गडकीतीरदेशे
१०—गौरवाः	ग्रामणी	मद्रदेशे
११—सौभराः		कौशिकदेशे
१२—जृंभकाः		आर्यावर्तदेशे
१३—पौंड्रकाः	मिश्रो.	कच्छसलदेशे
१४—हरितः		सरस्वतीतीरगाः
१५—शौंडकाः		हिमवद्देशे
१६—रोहिणः	मिश्र	गुर्जरदेशे
१७—माभराः	माभीर	काश्मीरदेशे
१८—लैंगगाः		कलिंगदेशे
१९ माडवाः	माडवी	गौडदेशे
२०—मारवाः		मरुदेशे
२१—चौभगाः	चोभे	मथुरादेशे
२२—टौनकाः		नेपालदेशे
२३—हिरण्यशृङ्गा.		मागधदेशे

२४—कारुणवेयाः	करुणिका	मागधदेशे
२५—धूम्राक्षा		हिमवद्देशे
२६—कापिला		आर्यावर्तदेशे

[प्रथम-विभागान्तर्गत सं० १५ वाले गालवों के २४ भेद]

१—काणा	कनवजा	गौडदेशे
२—कुब्जा	कुलका	मागधदेशे
३—सारस्वताः		सरस्वतीतीरे
४—अगजा		अगदेशे
५—वगजाः		वगदेशे
६—भृंगजाः	भृगाः	भृगदेशे
७—यावनाः	योवन	सगरदेशे
८—शैवजाः	शैवज	मरुद्देशे
९—पालीभद्राः	पारीभद्र	सिंहलदेशे
१०—नैलवाः	नैलव	कूर्मदेशे
११—वैतानलाः		नेपालदेशे
१२—जनिश्रवाः	जनीश्रव	मत्स्यदेशे
१३—भद्रका	भद्रकार	वौध्यपर्वतदेशे
१४—सौभराः		वौध्यपर्वतदेशे
१५—कुथिश्रवाः	कुथिवश्रव	हिमवद्देशे
१६—वौध्यकाः	वोधक	वौध्यपर्वतदेशे
१७—पांचालजाः		पाचालदेशे
१८—उर्ध्वांगजा		काश्मीरदेशे
१९—कुशेन्द्रवा		कूर्मदेशे
२०—पुष्करणीयाः		मारवाडदेशे
२१—जयत्रवाराः		मरुद्देशे
२२—उर्ध्वरेतस	जयत्रव	मरुदेशे
२३—कथसाः	काथम	गोदादक्षिणभागे
२४—पालाशनीया.	पलसी	गोदादक्षिणदेशे

[द्वितीय विभाग]

वाजसनेय-याज्ञवल्क्य-कण्वादिपञ्चदश-शुक्लयाजुषा ।

१—कण्वाः	कृष्णाउनदेशे

२—कटाः		गोदादक्षिणे
३—पिञ्जुलकठा	पिञ्जुलककठाः	क्रौंचद्वीपे
४—जृम्भककठाः	जृम्भककठ	श्वेतद्वीपे
५—औदलकठाः		शाकद्वीपे
६—सपिछलकठाः		शाकद्वीपे
७—मुद्गलकठाः		काश्मीरदेशे
८—मुगलकठाः		सृजयदेशे
९—सौभरकठाः		सिंहलदेशे
१०—मौरसकठाः		कुशद्वीपे
११—चञ्चुकठाः	चरचुलकठ	यवनदेशे
१२—योगकठाः		यवनदेशे
१३—हसलककठाः		यवनदेशे
१४—दौसलकठाः		सिंगलकठः
१५—घोपकठाः		क्रौंचद्वीपे

[तृतीय-विभाग]
कृष्णयजुः तैत्तिरीयाः ८

१—तैत्तिरीयाः	निरगुल	गोदादक्षिणदेशे
२—औख्या	आईज	आन्ध्रदेशे

[प्रथम वर्ग]

[द्वितीय वर्ग]

३—काण्डिकेयाः	तीरगुल	दक्षिणदेशे प्रसिद्धाः
४—आपस्तम्बी		आन्ध्रदेशे
५—बौधायनीयाः		शेरदेशे
६—सात्यापाढी		देवरुख कृष्णातीरे
७—हिरण्यकेशी		परशुरामसन्निधौ
८—औधेयी		माल्यपर्वतदेश

[चतुर्थ-विभाग]
चरकों के १२ भेद

१—चरकाः	पश्चिमदेशे
२—आह्वरकाः	नारायणसरोवरे

३—कठाः		करम्रयवनदेशे
४—प्राच्यकठाः		प्राची कठम्रयवनदेशे
५—कपिष्ठलकठाः		कपिलकठम्रयवनदेशे
६—चारायणीयाः		यवनदेशे
७—वार्तलवेयाः	वार्तलव	श्वेतद्वीपदेशे
८—श्वेताः	श्वेतरी	श्वेतद्वीपे
६—श्वेततराः	श्वेततरानी	श्वेतद्वीपे
१०—औपमन्यवाः		क्रौंचद्वीपे
११—पाताडनीयाः		पाताडीम्यत्रीमरुते काइवपुराणदेशे
१२—मैत्रायणीयाः		गोदादक्षिणदेशे

[चतुर्थ त्रिभागान्तर्गत स० १२ वाले मैत्रायणियों के ७ भेद]

१—मानवाः		सौराष्ट्रदेशे
२—दुन्दुभाः	दुन्दुभि	काश्मीरदेशे
३—ऐकेयाः		सौराष्ट्रदेशे
४—वाराहाः		मरुदेशे
५—हारिद्रवेयाः	हरिद्रव	गुर्जरदेशे
६—शामाः	शामल	गौडदेशे
७—शामायनीयाः		गोदावरीतीरे

इन नामों में आकार या विसर्ग के अतिरिक्त हम ने कुछ जोड़ा वा बदला नहीं। इन में से अधिकाश नाम शाखाकारों के नहीं हैं, प्रत्युत भिन्न भिन्न ब्राह्मण कुलों के हैं।

आथर्वणों के ४६वें अर्थात् चरणव्यूह परिशिष्ट में लिखा है—

तत्र यजुर्वेदस्य चतुर्विंशतिर्भेदा भवन्ति। यद्यथा—

काण्वा। माध्यन्दिनाः। जाबालाः। शापेयाः। श्वेताः। श्वेततराः। ताम्रायणीयाः। पौर्णवत्साः। आवटिकाः। परमावटिकाः।

हौप्या। धौप्याः [औख्याः]। खाडिकाः [खांडिकाः]। आह्वरकाः। चरकाः। मैत्राः। मैत्रायणीयाः। हारिकर्णाः [हारिद्रविणाः]। शालायनीयाः। मर्चकठाः। प्राच्यकठाः। कपिष्ठलकठाः। उपलाः। [उलपाः]। तैत्तिरीयाश्चेति॥ २॥

२—कटाः		गोदादक्षिणे
३—पिञ्जुलकठा	पिञ्जुलककठाः	क्रौञ्चद्वीपे
४—जृम्भककठाः	जृम्भककठ	श्वेतद्वीपे
५—औदलकठाः		शाकद्वीपे
६—उपिच्छलकठाः		शाकद्वीपे
७—मुद्गलकठाः		काश्मीरदेशे
८—भृगलकठाः		सृजयदेशे
९—सौभरकठाः		सिंहलदेशे
१०—मौरसकठाः		कुशद्वीपे
११—चञ्चुकठा.	चञ्चुलकठ	यवनदेशे
१२—योगकठाः		यवनदेशे
१३—हसलककठाः		यवनदेशे
१४—दौसलकठाः		सिगलकठः
१५—घोषकठा'		क्रौंचद्वीपे

[तृतीय-विभाग]

कृष्णयजु. तैत्तिरीयाः ८

१—तैत्तिरीया.	निरगुल	गोदादक्षिणदेशे
२—औख्या	आईज	आन्ध्रदेशे

[प्रथम वर्ग]

[द्वितीय वर्ग]

३—काण्डिकेया	तीरगुल	दक्षिणदेशे प्रसिद्धाः
४—आपस्तम्बी		आन्ध्रदेशे
५—बौधायनीयाः		शेषदेशे
६—सात्याषाढी		देवरुष्य कृष्णातीरे
७—हिरण्यकेशी		परशुरामसन्निधौ
८—औधेयी		माल्यपर्वतदेश

[चतुर्थ-विभाग]

चरकों के १२ भेद

१—चरकाः	पश्चिमदेशे
२—आह्वरकाः	नारायणसरोवरे

इस ब्रह्मरात का पुत्र हो, अथवा देवरात एक ब्रह्मा हो और इस कारण से उसे ब्रह्मरात भी कहते हों। आगे याज्ञवल्क्य के वर्णन के अन्त में महाभारत शान्ति पर्व ३१५।४ का एक प्रमाण दिया जायगा, उस से यही निश्चित होता है कि याज्ञवल्क्य के पिता का नाम देवरात था।

सातवीं शताब्दी विक्रम के समीप का होने वाला याज्ञवल्क्य स्मृति का टीकाकार आचार्य विश्वरूप अपनी बालक्रीड़ा टीका में लिखता है—

यज्ञवल्क्यो ब्रह्मा इति पौराणिकाः। तदपत्य याज्ञवल्क्यः १।१

अर्थात्—पौराणिकों के अनुसार यज्ञवल्क्य[1] नाम ब्रह्मा का है। उसी का पुत्र याज्ञवल्क्य है। वायुपुराण ६०।४२ में लिखा है—

ब्रह्मणोऽङ्गात्समुत्पन्नः।

अर्थात्—याज्ञवल्क्य ब्रह्मा के अंश से उत्पन्न हुआ था।

ब्रह्माण्ड पुराण के इसी प्रकरण में लिखा है—

अथान्यस्तत्र वै विद्वान् ब्रह्मणस्तु सुत कविः। ३४।४४॥

अर्थात्—याज्ञवल्क्य ब्रह्मा का पुत्र था।

अन्य सम्बन्धी

जनमेजय को तक्षशिला में महाभारत की समग्र कथा का सुनाने वाला, भगवान् व्यास का एक प्रिय शिष्य, सुप्रसिद्ध चरकाचार्य वैशम्पायन इसी प्रतापी ब्राह्मण याज्ञवल्क्य का मामा था। महाभारत शान्तिपर्व अध्याय ३२३ में लिखा है—

कृत्वा चाध्ययनं तेषां शिष्याणां शतमुत्तमम्।
विप्रियार्थं सशिष्यस्य मातुलस्य महात्मनः॥१६॥

अर्थात्—समग्र शतपथ को मैंने किया। और सौ शिष्यों ने मुझ से इस का अध्ययन किया। यह बात मेरे मामा (वैशम्पायन) और उस के शिष्यों के लिए बुरी थी।

मामा वैशम्पायन कृष्ण वा चरक यजुओं के प्रवचन-कर्ता थे, अतः शुक्ल यजुओं का प्रचार उन्हें रुचिकर न था।

याज्ञवल्क्य के पुत्र पौत्र के विषय में स्कन्द पुराण, नागर खण्ड अध्याय १३० में लिखा है—

---

१ पाणिनीय गण ४।१।१०५ में यज्ञवल्क नाम पढ़ा गया है।

इन में से पहले दश शुक्ल यजु और अगले चौदह कृष्ण यजुः हैं। आथर्वण परिशिष्टों के मुद्रित-पाठ बहुत भ्रष्ट हैं। हम ने केवल चार पाठ कोष्ठों में कुछ शुद्ध कर दिये हैं।

अब आगे याज्ञवल्क्य और उस के प्रवचन किए हुए शुक्ल-यजुओं का वर्णन होगा।

याज्ञवल्क्य वाजसनेय जन्मदेश

महाभारत काल में भारत के पश्चिम में, सौराष्ट्र नाम का एक विस्तीर्ण प्रान्त था। उस का एक भाग आनर्त कहाता था। आनर्त की राजधानी थी चमत्कारपुर। आनर्त देश का एक और प्रधान पुर नगर–नाम से विख्यात था। नागर ब्राह्मणों का वही उद्गम स्थान है। स्कन्द-पुराण, नागर खण्ड १७४।५५ के अनुसार चमत्कारपुर के समीप ही कहीं याज्ञवल्क्य का आश्रम था। योगियाज्ञवल्क्य पूर्व खण्ड १।१[1] तथा याज्ञवल्क्य स्मृति १।२ में याज्ञवल्क्य को **मिथिलास्थ** अर्थात् मिथिला में ठहरा हुआ कहा गया है। सम्भव है, कि जनक के साथ प्रीति होने के कारण मिथिला भी याज्ञवल्क्य का एक निवासस्थान हो।

कुल, गोत्र और पिता के अनेक नाम

वायुपुराण ६१।२१ ब्रह्माण्ड पुराण पूर्व भाग ३५।२४ तथा विष्णु पुराण ३।५।२ के अनुसार याज्ञवल्क्य के पिता का नाम ब्रह्मरात था। वायु पुराण ६०।४१ के अनुसार उस का नाम ब्रह्मवाह था। श्रीमद्भागवत १२।६।६४ के अनुसार उस के पिता का नाम देवरात था। एक देवरात था शुनःशेप। यह शुनःशेप एक विश्वामित्र का पुत्र बन गया था। वायु पुराण ९१।९३ के अनुसार विश्वामित्र का निज नाम विश्वरथ था। विश्वामित्र के कुल वाले कौशिक कहाते हैं। वायु पुराण ९१।९८ तथा ब्रह्माण्ड पुराण मध्यम भाग ६६।७० के अनुसार याज्ञवल्क्य भी विश्वामित्र कुल में से ही था।[2] महाभारत अनुशासन पर्व ७।५१ में भी यही बात कही गई है। और याज्ञवल्क्य को **विख्यात** विशेषण से स्मरण करके इस की दिगन्त कीर्ति का परिचय कराया है। अतः सम्भव है कि याज्ञवल्क्य देवरात का ही पुत्र हो। ऐसा भी हो सकता है कि देवरात का कोई पुत्र ब्रह्मरात हो और याज्ञवल्क्य

---

१ यह ग्रन्थ अभी अमुद्रित ही है।

२ तुलना करो, मत्स्य पुराण १९८।८॥

इस ब्रह्मरात का पुत्र हो, अथवा देवरात एक ब्रह्मा हो और इस कारण से उसे ब्रह्मरात भी कहते हों। आगे याज्ञवल्क्य के वर्णन के अन्त में महाभारत शान्ति पर्व ३१५।४ का एक प्रमाण दिया जायगा, उस से यही निश्चित होता है कि याज्ञवल्क्य के पिता का नाम देवरात था।

सातवीं शताब्दी विक्रम के समीप का होने वाला याज्ञवल्क्य स्मृति का टीकाकार आचार्य विश्वरूप अपनी बालक्रीड़ा टीका में लिखता है—

यज्ञवल्क्यो ब्रह्मा इति पौराणिकाः। तदपत्य याज्ञवल्क्य. १।१

अर्थात्—पौराणिकों के अनुसार यज्ञवल्क्य[1] नाम ब्रह्मा का है। उसी का पुत्र याज्ञवल्क्य है। वायुपुराण ६०।४२ में लिखा है—

ब्रह्मणोऽङ्गात्समुत्पन्न.।

अर्थात्—याज्ञवल्क्य ब्रह्मा के अंश से उत्पन्न हुआ था।

ब्रह्माण्ड पुराण के इसी प्रकरण में लिखा है—

अथान्यस्तत्र वै विद्वान् ब्रह्मणस्तु सुत. कवि.। ३४।४४॥

अर्थात्—याज्ञवल्क्य ब्रह्मा का पुत्र था।

अन्य सम्बन्धी

जनमेजय को तक्षशिला में महाभारत की समग्र कथा का सुनाने वाला, भगवान् व्यास का एक प्रिय शिष्य, सुप्रसिद्ध चरकाचार्य वैशंपायन इसी प्रतापी ब्राह्मण याज्ञवल्क्य का मामा था। महाभारत शान्तिपर्व अध्याय ३२३ में लिखा है—

कृत्वा चाध्ययनं तेषां शिष्याणां शतमुत्तमम्।
विप्रियार्थं सशिष्यस्य मातुलस्य महात्मन.॥१६॥

अर्थात्—समग्र शतपथ को मैंने किया। और सौ शिष्यों ने मुझ से इस का अध्ययन किया। यह बात मेरे मामा (वैशंपायन) और उस के शिष्यों के लिए बुरी थी।

मामा वैशंपायन कृष्ण वा चरक यजुओं के प्रवचन-कर्ता थे, अतः शुक्ल यजुओं का प्रचार उन्हें रुचिकर न था।

याज्ञवल्क्य के पुत्र पौत्र के विषय में स्कन्द पुराण, नागर खण्ड अध्याय १३० में लिखा है—

---

१ पाणिनीय गण ४।१।१०५ में यज्ञवल्क नाम पढ़ा गया है।

एवं सिद्धिं समापन्नो याज्ञवल्क्यो द्विजोत्तम. ।
कृत्वोपनिषदं चारु वेदार्थैः सकलैर्युतम् ॥७०॥
जनकाय नरेन्द्राय व्याख्याय च ततः परम् ।
कात्यायन सुत प्राप्य वेदसूत्रस्य कारकम् ॥७१॥

पुन आगे अध्याय १३१ में लिखा है—

कात्यायनाभिध च यज्ञविद्याविचक्षणम् ॥४८॥
पुत्रो वररुचिर्यस्य बभूव गुणसागरः ॥४९॥

अर्थात्—याज्ञवल्क्य का पुत्र कात्यायन और कात्यायन का पुत्र वररुचि था।

याज्ञवल्क्य कौशिक था, यह अभी कहा जा चुका है। उस का पुत्र कात्यायन भी कौशिक होना चाहिए। वस्तुत. बात है भी ऐसी। वास्तविक प्रतिज्ञासूत्र परिशिष्ट में जो कात्यायन-प्रणीत है, लिखा है—

सोऽहं कौशिकपक्ष शिष्यः। खण्ड ११ ॥

अर्थात्—मैं कात्यायन कौशिक हूँ।

यज्ञसूत्र का कर्ता कात्यायन ही याज्ञवल्क्य का पुत्र था, इस का पूरा विचार आगे कल्पसूत्रों के इतिहास में किया जाएगा। यहां इतना कहना पर्याप्त है कि पुराण के इस लेख पर सहसा अविश्वास नहीं हो सकता।

सम्भवतः दो याज्ञवल्क्य

विष्णुपुराण ४।४ में लिखा है—

ततश्च विश्वसहो जज्ञे ॥ १०६ ॥ तस्माद् हिरण्यनाभ । यो महायोगीश्वराज् जैमिनेश्शिष्याद् याज्ञवल्क्याद् योगमवाप ॥१०७॥

अर्थात्—इक्ष्वाकु कुल में श्री राम के बहुत पश्चात् एक राजा विश्वसह उत्पन्न हुआ। उस से हिरण्यनाभ उत्पन्न हुआ। उस ने जैमिनि के शिष्य महायोगीश्वर याज्ञवल्क्य से योग सीखा।

श्रीमद्भागवत ६।१२।३, ४ में भी ऐसी ही वार्ता का उल्लेख है।

विष्णुपुराण के अनुसार इस हिरण्यनाभ के पश्चात् बारहवीं पीढ़ी में बृहद्बल नाम का एक कोसल राजा हुआ। वह अर्जुन पुत्र अभिमन्यु से भारत-युद्ध में मारा गया।

स्मरण रहे कि यहां पर विष्णुपुराण **प्राधान्येन मयेरिताः** कह कर केवल प्रधान प्रधान राजाओं का ही उल्लेख कर रहा है।

हस्तिनापुर के बसाने वाले महाराज हस्ती के द्वितीय पुत्र द्विजमीढ के पश्चात् आठवां राजा कृत था। उसके विषय में विष्णुपुराण ४।१९ में लिखा है—

कृत पुत्रोऽभूत्॥५०॥ य हिरण्यनाभो योगमध्यापयामास ॥५१॥ यश्चतुर्विंशति प्राच्यसामगानां संहिताश्चकार ॥५२॥

अर्थात्—कृत ने हिरण्यनाभ से योग सीखा। यही हिरण्यनाभ प्राच्य सामगों की २४ संहिताओं का प्रवचनकार है।

वायुपुराण ९९।१९० में इसी हिरण्यनाभ के साथ कौथुम का विशेषण जुड़ा है।

पुन. ब्रह्माण्ड पुराण मध्यम भाग अध्याय ६४ में लिखा है—

व्युषिताश्वसुतश्चापि राजा विश्वसहः किल ॥२०६॥
हिरण्यनाभ कौसल्यो वरिष्ठस्तत्सुतोभवत्।
पौष्पजेश्च स वै शिष्यः स्मृत. प्राच्येषु सामसु ॥२०७॥
शतानि संहितानां तु पञ्च योऽधीतवांस्तत।
तस्माद्धिगतो योगो याज्ञवल्क्येन धीमता ॥२०८॥

अर्थात्—याज्ञवल्क्य ने पौष्पञ्जि के शिष्य हिरण्यनाभ कौसल्य से योगविद्या सीखी।

यह मत विष्णुपुराण के मत से सर्वथा विपरीत है। प्रतीत होता है, कि इन स्थानों का पुराण-पाठ बहुत भ्रष्ट हो चुका है, अस्तु।

दूसरी ओर वायु आदि पुराणों के साम-शाखा-प्रवचन-प्रकरण में लिखा है कि सामग शाखाकारों का सम्बन्ध निम्नलिखित है—

कृष्ण द्वैपायन
|
जैमिनि
|
सुमन्तु
|
सुत्वा
|
सुकर्मा
|
हिरण्यनाभ कौसल्य (नराधिप) प्राच्य सामग — पौष्पञ्जि
पौष्पञ्जि
|
लौगाक्षि — कुथुम इत्यादि
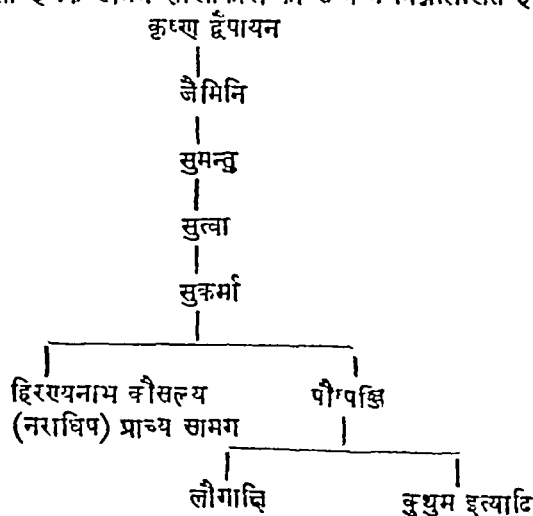
इस परम्परा के अनुसार महाराज हिरण्यनाभ महाभारत कालीन हो जाएगा। पहली परम्परा के अनुसार वह महाभारत कालीन राजा बृहद्बल से न्यून से न्यून १२ पीढ़ी पहले होगा। यह एक कठिनाई है जो दूर होनी चाहिए। यदि प्रथम विचार सत्य माना जाए, तो याज्ञवल्क्य सम्भवतः दो होंगे। एक वाजसनेय याज्ञवल्क्य, और दूसरा किसी प्राचीन जैमिनि का शिष्य और हिरण्यनाभ कौसल्य का गुरु याज्ञवल्क्य। परन्तु अधिक सम्भव है कि हिरण्यनाभ कौसल्य चिरजीवी हो, तथा याज्ञवल्क्य एक ही हो। स्कन्द पुराण, नागर खण्ड ५।६ के अनुसार एक याज्ञवल्क्य सूर्यवंशी राजा त्रिशङ्कु के यज्ञ में उद्गाता का काम करता था। देखो, मालती माधव, १।१४,३।२६॥

वाजसनेय याज्ञवल्क्य के गुरु

वाजसनेय याज्ञवल्क्य के दो निश्चित गुरुओं की सूचना इतिहास देता है। उन में से एक था प्रसिद्ध चरकाचार्य वैशम्पायन। पुराणों के अनुसार इस गुरु से उस का विवाद हो गया था। उस का दूसरा गुरु था उद्दालक आरुणि। शतपथ ब्राह्मण १४।६।३।१५ २० से ऐसा ज्ञात होता है। स्कन्द पुराण, नागर खण्ड अध्याय १२६ में याज्ञवल्क्य सम्बन्धी एक कथानक है। यदि वह सत्य है, तो याज्ञवल्क्य का एक गुरु भार्गव अन्वयसम्भूत ब्राह्मण शार्दूल शाकल्य था। वह शाकल्य वर्धमानपुर में रहता था और सूर्यवंशी राजा सुप्रिय का पुरोहित था।

याज्ञवल्क्य एक दीर्घ-जीवी ब्राह्मण

खाण्डव-दाह से बचा हुआ मय नामक विख्यात असुर जब महाराज युधिष्ठिर की दिव्य सभा बना चुका, तो उस के प्रवेश-उत्सव के समय अनेक ऋषि और राजगण इन्द्रप्रस्थ में आए। उन में एक याज्ञवल्क्य भी था। महाभारत सभापर्व अध्याय ४ में लिखा है—

तित्तिरिर्याज्ञवल्क्यश्च ससुतो रोमहर्षणः ॥१८॥

तत्पश्चात् महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के समय भगवान् व्यास ऋत्विजों को लाए। उन के विषय में महाभारत सभापर्व अध्याय ३६ में लिखा है —

ततो द्वैपायनो राजन्नृत्विजः समुपानयत् ॥३३॥
स्वयं ब्रह्मत्वमकरोत्तस्य सत्यवतीसुतः।

धनञ्जयानामृषभः सुसामा सामगोऽभवत् ॥३४॥
याज्ञवल्क्यो बभूवाथ ब्रह्मिष्ठोऽध्वर्युसत्तमः ।
पैलो होता वसो पुत्रो धौम्येन सहितोऽभवत् ॥३५॥

अर्थात्—उस राजसूय यज्ञ में द्वैपायन ब्रह्मा था, सुसामा उद्गाता, याज्ञवल्क्य अध्वर्यु और धौम्य सहित वसु का पुत्र पैल होता था।

इसी राजसूय के अन्त में जब अवभृथ स्नान हो चुका, तब याज्ञवल्क्य आदि की पूजा होने का वर्णन है। सभा पर्व अध्याय ७२ में लिखा है—

याज्ञवल्क्यं कठं चैव कलापं[1] कौशिकं तथा ।
सर्वांश्च ऋत्विक्प्रवरान् पूजयामास सत्कृतान् ॥६॥

तदनन्तर सम्राट् युधिष्ठिर के अश्वमेधयज्ञ में भी ऋषि याज्ञवल्क्य उपस्थित था। महाराज युधिष्ठिर भगवान् व्यास से कहते हैं कि हे व्यास जी आप ही मुझे इस अश्वमेध यज्ञ में दीक्षित करें। इस का उल्लेख महाभारत आश्वमेधिक पर्व अध्याय ७२ में है। व्यास जी बोले—

अयं पैलोऽथ कौन्तेय याज्ञवल्क्यस्तथैव च ॥३॥

अर्थात्—हे कुन्ती पुत्र यह पैल और याज्ञवल्क्य तुम्हारा कृत्य कराएंगे।

इस के पश्चात् जब महाराज युधिष्ठिर को राज्य करते हुए ३६ वर्ष व्यतीत हो चुके[2] और उन्होंने वृष्ण्यन्धक-कुल का नाश सुन लिया, तो उन्होंने परिक्षित् को सिंहासन पर बिठा कर प्रस्थान का निश्चय किया। उस प्रस्थान के समय जो जन उपस्थित थे, उन के विषय में महाप्रस्थानिक पर्व प्रथमाध्याय में लिखा है—

द्वैपायनं नारदं च मार्कण्डेयं तपोधनम् ।
भारद्वाजं याज्ञवल्क्यं हरिमुद्दिश्य यत्नवान् ॥१२॥

अर्थात्—व्यास, याज्ञवल्क्य आदि को युधिष्ठिर ने भोजन कराया, और उन की कीर्ति गाई।

युधिष्ठिर के पश्चात् ६० वर्ष पर्यन्त परिक्षित् का राज्य रहा। परिक्षित्

---

१ तुलना करो पूना संस्क० अ० ४२ पाठान्तर ४०६ के अन्तर्गत।

२ षट्त्रिंशे त्वथ सम्प्राप्ते वर्षे कौरवनन्दन. ॥१॥ मौसल पर्व अ० १।

के पश्चात् जनमेजय और उस के पुत्र शतानीक ने ८० वर्ष तक राज्य किया।[1] इस शतानीक ने याज्ञवल्क्य से वेद पढा था। विष्णुपुराण ४।२१ में लिखा है—

जनमेजयस्यापि शतानीको भविष्यति ॥३॥ योऽसौ याज्ञवल्क्याद् वेदमधीत्य कृपादस्त्राण्यवाप्य विषमविषयविरक्तचित्तवृत्तिश्च शौनकोपदेशादात्मज्ञानप्रवीणः परं निर्वाणमवाप्स्यति ॥४॥

महाभारत के एक कोश के अनुसार महाराज युधिष्ठिर का आयु १०८ वर्ष कहा गया है।[2] यह आयु परिमाण ठीक प्रतीत होता है। उसी कोश के अनुसार युधिष्ठिर ने २३ वर्ष इन्द्रप्रस्थ में राज्य किया था। यह वार्ता १२ वर्ष के वनवास से पूर्व की है। अतः सभा प्रवेश के पश्चात् युधिष्ठिर ने कम से कम २० वर्ष तक राज्य किया होगा। परन्तु हम १० वर्ष ही गिनती में लेते हैं। अतः यदि सभा के प्रवेश-उत्सव के समय याज्ञवल्क्य की आयु कम से कम ४० वर्ष की मानी जाए, तो उस की कुल आयु लगभग निम्नलिखित होगी—

४० वर्ष	प्रवेश-उत्सव के समय
१० ,,	वनवास-पूर्व इन्द्रप्रस्थ में युधिष्ठिर-राज्य
१३ ,,	वनवास और अज्ञातवास
३६ ,,	युधिष्ठिर राज्य
६० ,,	परिक्षित्-राज्य
८० ,,	जनमेजय और शतानीक का राज्य
२३९ वर्ष	

सम्भव है याज्ञवल्क्य इस से भी अधिक जीवित रहा हो।

याज्ञवल्क्य का संक्षिप्त जीवन

याज्ञवल्क्य के जीवन की अनेक बातें अभी लिखी जा चुकी हैं। इन के अतिरिक्त दो चार बातें और भी वर्णन योग्य हैं। याज्ञवल्क्य एक

---

१ यह गणना सत्यार्थप्रकाश एकादशसमुल्लासान्तर्गत वंशावली के अनुसार है। परन्तु इस में थोड़ा सा संशोधन हम ने किया है।

२ आदिपर्व पूना संस्करण, पृ० ६१३, स्तम्भ प्रथम।

महातेजस्वी ब्राह्मण था। जब उस का अपने मामा वैशम्पायन से विवाद हो गया, तो उस ने आदित्य-सम्बन्धी शुक्ल-यजुओं का प्रवचन किया। तब उसके अनेक शिष्य हुए। उन में से पन्द्रह ने उस के प्रवचन की १५ शाखाओं का पठन-पाठन चलाया। उन्हीं पन्द्रह शाखाओं का आगे उल्लेख होगा। याज्ञवल्क्य की दो पत्नियां थीं। एक थी ब्रह्मवादिनी मैत्रेयी और दूसरी थी स्त्रीप्रज्ञा वाली कात्यायनी। महाराज जनक की सभा में उस ने अनेक ऋषियों से महान् संवाद किया था। जनक के साथ उसकी मैत्री थी। इसीलिए वह बहुधा मिथिला में रहा करता था। वह योगीश्वर अपितु परमयोगीश्वर था। उसने सन्यास-धर्म पर बड़ा बल दिया है और वह स्वयं भी सन्यासी हो गया था।

याज्ञवल्क्य के नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थ

वाजसनेय ब्राह्मण आदि का प्रवचनकार तो निस्सन्देह याज्ञवल्क्य ही है। इन के अतिरिक्त उस के नाम से तीन और ग्रन्थ भी प्रसिद्ध हैं। वे निम्नलिखित हैं—

१—याज्ञवल्क्य शिक्षा।
२—याज्ञवल्क्य स्मृति।
३—योगियाज्ञवल्क्य।

ये तीनों ग्रन्थ वाजसनेय याज्ञवल्क्य प्रणीत हैं, अथवा उसकी शिष्य-परम्परा में किसी वा किन्हीं ने पीछे से बनाए हैं, यह विचारास्पद है। हां, इतना कहा जा सकता है कि लगभग सातवीं शताब्दी विक्रम का याज्ञवल्क्य स्मृति का टीकाकार आचार्य विश्वरूप वाजसनेय याज्ञवल्क्य को ही इस स्मृति का कर्ता मानता है। यह याज्ञवल्क्य स्मृति कौटल्य अर्थशास्त्र से बहुत पहले विद्यमान थी। और इस स्मृति के अनुसार स्मृति के कर्ता ने ही एक योगशास्त्र भी बनाया था। या० स्मृति प्रायश्चित्ताध्याय यतिधर्मप्रकरण में लिखा है—

ज्ञेयमारण्यकमहं यदादित्यादवाप्तवान्।
योगशास्त्रं च मत्प्रोक्तं ज्ञेयं योगमभीप्सता ॥११०॥

अर्थात्—योग की इच्छा करने वाले को मेरा कहा हुआ योगशास्त्र जानना चाहिए।

या० स्मृति १।१ में उसे योगीश्वर और १।२ तथा ३।३२४ में उसे योगीन्द्र कहा गया है।

योगियाज्ञवल्क्य ग्रन्थ के दो भाग हैं। एक है मुद्रित, और दूसरा मुद्रित रूप में हमारे देखने में नहीं आया। देवणभट्ट प्रणीत स्मृति चन्द्रिका तथा वाचस्पतिमिश्र आदि के ग्रन्थों में योगियाज्ञवल्क्य के अनेक प्रमाण मिलते हैं। इस ग्रन्थ के उत्तम संस्करण निकलने चाहिए।

याज्ञवल्क्य शिक्षा भी दो प्रकार की है। उस के सुसंस्करणों का भी अभी तक अभाव है।

याज्ञवल्क्य और जनक

शान्तिपर्व अध्याय ३१५ से शरशय्याशायी गाङ्गेय भीष्म जी श्री महाराज युधिष्ठिर को जनक और याज्ञवल्क्य का संवाद सुनाना आरम्भ करते हैं—

याज्ञवल्क्यमृषिश्रेष्ठं दैवरातिर्महायशाः ।
पप्रच्छ जनको राजा प्रश्नं प्रश्नविदांवरः ॥४॥

अर्थात्—प्रश्न पूछने वालों में श्रेष्ठ, महा यशस्वी दैवराति मैथिल जनक ने याज्ञवल्क्य से प्रश्न पूछा।

इस महाभारत-पाठ में सम्भवतः भूल है

हम पृ० २५६ पर लिख चुके हैं कि भागवत पुराण के अनुसार याज्ञवल्क्य के पिता का नाम देवरात था, अतः दैवराति विशेषण याज्ञवल्क्य का भी हो सकता है। यदि यह सत्य हो तो महाभारत-पाठ **दैवरातिः** नहीं प्रत्युत **दैवरातिं** होना चाहिए और जनक का विशेषण तथा निज नाम हमें ढूंढना ही पड़ेगा।

इस से आगे याज्ञवल्क्य और जनक का संवाद आरम्भ होता है। अध्याय ३२३ में याज्ञवल्क्य कथा सुनाता है कि उस ने सूर्य से किस प्रकार वेद (श्लोक १०) अथवा उस की १५ शाखाएं (श्लो० २१, २५) प्राप्त कीं। याज्ञवल्क्य जनक को कहता है कि हे महाराज आप के पिता का यज्ञ भी मैंने कराया था। तभी सुमन्तु, पैल और जैमिनि ने मेरा मान किया था। पुनः याज्ञवल्क्य महाराज जनक को वेदान्तज्ञान के जानने वाले गन्धर्वराज विश्वावसु से अपना संवाद सुनाता है। याज्ञवल्क्य का सारा उपदेश सुन

कर वह जनक अनेक धन, रत्न और गाएं ब्राह्मणों को दान दे कर और अपने पुत्र को विदेह का राज्य दे कर आप सन्यासव्रत में चला गया।

जिस याज्ञवल्क्य की जीवन-घटनाएं पूर्व लिखी गई हैं, उसी प्रतापी वाजसनेय याज्ञवल्क्य की प्रवचन की हुई पन्द्रह शाखाओं का अब वर्णन किया जायगा।

पन्द्रह वाजसनेय शाखाएं

वाजसनेय के प्रवचन को पढ़ने वाले शिष्य वाजसनेयिन कहाए। उन की संहिता के लिए वाजी पद का भी व्यवहार होता है।[1] उन में से पन्द्रह ने उस प्रवचन को विशेष रूप से पढ़ा पढ़ाया। उनके विषय में वायु-पुराण अध्याय ६१ में लिखा है—

याज्ञवल्क्यस्य शिष्यास्ते कण्ववैधेयशालिन ॥२४॥
मध्यन्दिनश्च शापेयी विदिग्धश्चाप्य उद्दल. ।
ताम्रायणश्च वात्स्यश्च तथा गालवशैशिरी ॥२५॥
आटवी च तथा पर्णी वीरणी सपराशर ।
इत्येते वाजिन. प्रोक्ता दश पञ्च च संस्मृताः ॥२६॥

ब्रह्माण्ड पुराण पूर्वभाग अध्याय ३५ का यही पाठ निम्नलिखित है—

याज्ञवल्क्यस्य शिष्यास्ते कण्वो वौधेय एव च ।
मध्यन्दिनस्तु शापेयो वैधेयश्चाद्धवौद्धको ॥२८॥
तापनीयाश्च वत्साश्च तथा जावालकेवलौ ।
आवटी च तथा पुण्ड्रो वैणोयः सपराशर ॥२९॥
इत्येते वाजिनः प्रोक्ता दश पच च सत्तमः ।

कतिपय चरणव्यूहों का पाठ है—

वाजसनेयानां पञ्चदशभेदा भवन्ति—
जावाला बौधायना. काण्वा माध्यन्दिनाः शाफेयास् तापनीया' कपोला' पौण्डरवत्सा आवटिका परमावटिका' पाराशरा वैणेया वैधेया अद्धा बौधेयाश्चेति ।

दूसरे प्रकार के चरणव्यूहों का पाठ निम्नलिखित है—

काण्वा माध्यन्दिना शावीयास् तापायनीयाः कापाला'

---

१ महा० शान्ति० ७३।१७ ॥

पौण्डरवत्सा आवटिका· परमावटिका' पाराशर्या वैधेया नैनेया गालव औधेया[1] बैजवा कात्यायनीयाश्चेति ।

चौखम्बा में काण्वसंहिता पर जो सायण भाष्य मुद्रित हुआ है, उस की भूमिका में सायण भी यही पाठ उद्धृत करता है। परन्तु इस ग्रन्थ के जो हस्तलेख लाहौर और मद्रास में हैं, उन का पाठ निम्नलिखित है—

जाबाला गौधेया काण्वा माध्यन्दिना: श्यामा श्यामायनीया गालवा' पिङ्गला वत्सा आवटिका: परमावटिका पाराशर्या वैणेया वैधेया गालवा ।

प्रतिज्ञा-परिशिष्ट का पाठ भी देखने योग्य है—

जाबाला बौधेया: काण्वा माध्यन्दिना शापेयास् तापायनीया कापोला पौण्ड्रवत्सा[2] आवटिका परमावटिका. पाराशरा वैनतेया वैधेया कौन्तेया बैजवापाश्चेति ।

महीधर अपने यजुर्वेद भाष्य के आरम्भ में लिखता है—

जाबाल-बौधेय-काण्व-माध्यन्दिनादिभ्य पञ्चदशशिष्येभ्य. ।

ये सारे मत निम्नलिखित चित्र से अधिक स्पष्ट हो जाएगे —

प्रतिज्ञा	वायु	ब्राह्मण्ड	चरणव्यूह१,	चरणव्यूह२,	सायण मुद्रित३
१–जाबाला		जाबाला.	जाबाला:		
२–बौधेया.		बौधेया	बौधायना	औधेया:	औधेया:[3]
३–काण्वा	कण्व·	कण्व	कण्व	कण्व	कण्व:
४–माध्यन्दिन	मध्यन्दिन.	मध्यन्दिन	मध्यन्दिन	मध्यन्दिन.	मध्यन्दिना
५–शापेया.	शापेयी	सापत्य:	शाफेया.	शाबीया:	शाबीया:[3]
६–तापायनीया	ताम्रायणश्च	ताम्रायणश्च	ताम्रायणश्च	तापायनीय:	तापायनीया.[3]
७–कापोला.		केवल	कपोला.	कापाला:	कापाला:
८–पौण्ड्रवत्सा	वात्स्य.	वत्सा.[4]	पौण्डरवत्सा:	पौण्डरवत्सा	पौण्ड्रवत्सा[3]

[1] बौधेया. ।

[2] अर्थात् पुण्ड्रनगर का वत्स । तुलना करो–शाकटायन व्या० २।३।१०७॥

[3] सायण लिखित के पाठान्तर—१–गौधेया । २–श्यामा: । ३–श्यामायनीया । ४–वत्सा: । ५–वैणेया. ।

[4] वत्सा शाखा' । शाखा० श्रौत १६।११।२० ॥

प्रतिज्ञा	वायु	ब्रह्माण्ड	चरणव्यूह१	चरणव्यूह२	सायण मुद्रित
९-आवटिकाः	आटवी	आवटी	आवटी	आवटी	आवटी
१०-परमावटिकाः			परमावटिकाः	परमावटिकाः	परमावटिका
११-पाराशराः	परायण.	पराशर.	पराशरः	पाराशर्या	पाराशर्या.
१२-वैनतेयाः	वीरणी	वैणोय.	वैणेया	नैनेयाः	वैनेयाः[1]
१३-वैधेयाः	वैधेयः	वैधेयः	वैधेय	वैधेय.	वैधेय.
१४—कौन्तेयाः[2]	कात्यायनीयाः	कात्यायनीयाः[3]			
१५—वैजवापाः				वैजवाः	
	शालिन				
	विदिग्ध				
	उद्दल				
	गालव				गालवाः
	शैशिरी				
	पर्णी	पुंड्रः			
		अद्ध	अद्धा	औधेया.	औधेयाः
		बौद्धक	बौधेयाः		

शुक्ल यजु-शाखाकारों के ये कुल २४ नाम इन स्थानों में मिलते हैं। इन में से १५ नाम ठीक हो सकते हैं, शेष ६ नाम लेखक प्रमाद हैं। इन पाठों में कहां कहां और क्यों भूलें हुई हैं यह बताया जा सकता है, परन्तु विस्तर भय से ऐसा किया नहीं गया। प्रतिज्ञा-परिशिष्ट के पाठ प्रायः ठीक हैं। केवल १४ अङ्कान्तर्गत कौन्तेयाः के स्थान में 'कात्यायनीया' पाठ चाहिए। इन पन्द्रह शाखाओं में से जिस जिस शाखा के सम्बन्ध में हमें कुछ ज्ञात हो सका है, वह नीचे लिखा जाता है—

१—जाबालाः—हमारा अनुमान है कि उपनिषद् वाङ्मय का प्रसिद्ध आचार्य महाशाल[4] सत्यकाम जाबाल ही इस शाखा का प्रवचनकर्ता

---

१. 'वैणेयाः' पाठान्तर। देखो पृष्ठ २६६, टि० ३।

२. ब्रह्म प्रोक्त याज्ञवल्क्य संहिता में 'कात्यायना' पाठ है।

३. सायण लिखित के पाठान्तर—पिङ्गला·।

४. जाबाल शब्द पर लिखते हुए मैकडानल और कीथ अपने वैदिक इण्डैक्स में महाशाल को सत्यकाम से पृथक् व्यक्ति स्वीकार करते हैं। यह

था। वह वाजसनेय याज्ञवल्क्य का शिष्य और जनक आदि का समकालीन है। महाभारत अनुशासन पर्व ७।५५ के अनुसार एक जाबालि विश्वामित्र कुल का था। वह सम्भवत. गोत्रकार भी था। स्कन्द पुराण नागर खण्ड ११२।२४ के अनुसार जाबाल गोत्र वाले नगर नाम के पुर में भी रहते थे। मत्स्यपुराण १६८।४ में भी जाबाल कौशिक कहे गए हैं। वायु और ब्रह्माण्ड में ऐसा पाठ नहीं है। जाबालों का उल्लेख जैमिनीय उप० ब्रा० ३।७।२ मे मिलता है।

वर्तमान काल में जाबालोपनिषद् के अतिरिक्त इस शाखा का अन्य कोई ग्रन्थ ज्ञात पुस्तकालयों में उपलब्ध नहीं है। जाबाल ब्राह्मण और कल्प आदि के अनेक-ग्रन्थोद्धृत जो प्रमाण हमें मिले हैं,[1] वे इस इतिहास के ब्राह्मण भाग में दिए जाएंगे। एक प्रमाण ध्यानविशेष देने योग्य है। वह कदाचित् संहिता से सम्बन्ध रखता है, अतः आगे लिखा जाता है। कात्यायनकृत अष्टादश परिशिष्टों में एक हौत्रसूत्र प्रसिद्ध है। इस पर कर्क उपाध्याय का भाष्य भी मिलता है। उस के अध्याय २ खण्ड ८ में लिखा है—

नवचतीश्चिकीर्षेत्-इति जाबाला ।

अर्थात्—जाबालों का मत है कि इस स्थान पर दूसरी ऋचाए पढे। वे चौदह ऋचाए आगे प्रतीकमात्र उद्धृत हैं। कर्क उनका समग्र पाठ देता है। उन मे से कुछ ऋचाए ऋग्वेद में और कुछ तैत्तिरीय ब्राह्मण में मिलती हैं। हौत्रसूत्र में प्रतीकमात्र पाठ होने से यह प्रतीत होता है कि सम्भवत. ये ऋचाएं जाबाल संहिता मे विद्यमान थीं।

जाबाल श्रुति का निम्नलिखित प्रमाण स्थपति गर्ग अपनी पारस्कर गृह्यपद्धति में देता है—

दक्षिणपूर्वद्वारे द्वयरत्निके जाबालश्रुतेरेतदुपलभ्यम् ।[2]

जाबाल गृह्य गौतम धर्मसूत्र के मस्करी भाष्य (पृष्ठ २४७,२६७, ३८७, आदि) मे तथा जाबाल धर्मसूत्र स्मृति चन्द्रिका संस्कार काण्ड पृष्ठ १७१ पर उद्धृत है।

एक भूल है। महाशाल तो बड़ी शाला वाले को कहते हैं। छान्दोग्य उप० ५।११।१ मे अन्य ऋषि भी महाशाल कहे गए हैं।

[1]—बालक्रीडा, प्रायश्चित्त प्रकरण, पृ० ६४,६५ ।

[2]—पंजाब यूनिवर्सिटी का हस्तलेख पत्र ७ ख पंक्ति २ ।

२—बौधेया:—ऋग्वेदीय बाष्कल शाखाओं का उल्लेख करते समय आङ्गिरस गोत्र वाले बोध के पुत्र बौध्य का वर्णन हो चुका है। वही ऋग्वेदीय बौध्य शाखा का प्रवर्तक था। दूसरे गोत्र वाले बोध के पुत्र को बौधि कहते हैं। बौधेय का सम्बन्ध बुद्ध या बोध से होगा। परन्तु किस गोत्र वाले किस व्यक्ति से इस का सम्बन्ध था, यह हम नहीं जान सके।

महाराज जनमेजय के सर्पसत्र में बोधिपिङ्गल नाम का एक आचार्य उपस्थित था। वह था भी अध्वर्यु अर्थात् यजुर्वेदी। आदिपर्व अध्याय ४८ में लिखा है—

ब्रह्माभवच्छार्ङ्गरवो अध्वर्युर्बोधिपिङ्गलः ॥६॥

क्या इस बोधिपिङ्गल का बौधेयों से कोई सम्बन्ध था, यह जानना चाहिए। बौधेयों के सम्बन्ध में इस से अधिक हम नहीं जान सके।

चरणव्यूह के कुछ हस्तलेखों में बौधेय के स्थान में बौधायन पाठ भी मिलता है। और बौधायन श्रौतसूत्र का माध्यन्दिन और काण्व-शतपथों से सामान्यतया तथा काण्व शतपथ से विशेषतया सम्बन्ध है। देखो डा० कालेण्ड सम्पादित काण्वीय शतपथ की भूमिका पृ० ९४—१०१। इस से यही अनुमान होता है कि या तो बौधेय और बौधायन परस्पर भाई हैं, अथवा यह एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं, जो पहले एक शाखा पढ़ता था, और पीछे से उस ने दूसरी शाखा अपना ली, और अपना नाम भी बदल लिया। परन्तु यह कल्पनामात्र है और विशेष सामग्री के अभाव में अभी कुछ निश्चय से नहीं कहा जा सकता।

३—काण्वा.—काण्व शाखा की संहिता और ब्राह्मण दोनों ही सम्प्रति उपलब्ध हैं। संहिता का सम्पादन सब से पहले सन् १८५२ में वैबर ने किया था। तत्पश्चात् सन् १९१५ में मद्रास प्रान्तान्तर्गत आनन्द-वन नामक नगर में कई काण्व शाखीय ब्राह्मणों से संशोधित एक संस्करण निकला था। वह संस्करण अत्यन्त उपादेय है। अन्धाक्षरों में भी काण्व संहिता का एक संस्करण कुम्भघोण में छपा था।

काण्व संहिता में ४० अध्याय ३२८ अनुवाक और २०८६ मन्त्र हैं। उनका ब्योरा निम्नलिखित है—

अध्याय	अनुवाक	मन्त्र	अध्याय	अनु०	मन्त्र
१	१०	५०	२१	७	१०६
२	७	६०	२२	८	७५
३	९	७६	२३	६	६०
४	१०	४९	२४	२१	४७
५	१०	५५	२५	१०	६७
६	८	५०	२६	८	४४
७	२२	४०	२७	१५	४५
८	२२	३२	२८	१२	१४
९	७	४६	२९	६	५०
१०	६	४३	३०	४	४६
	१११	५०१		९७	५५४
११	१०	४७	३१	७	५१
१२	७	८५	३२	६	८४
१३	७	११६	३३	२	४६
१४	७	६५	३४	४	२२
१५	९	३५	३५	४	५५
१६	७	८५	३६	१	२४
१७	८	६४	३७	३	२०
१८	७	८६	३८	७	२७
१९	९	४३	३९	९	१२
२०	५	४६	४०	१	१८
	७६	६७२		४४	३५९

यह गणना आनन्दवन के संस्करणानुसार है।

इस प्रकार चारों दशकों में कुल संख्या निम्नलिखित है—

दशक	अनुवाक	मन्त्र
१	१११	५०१
२	७६	६७२

३	६७	५५४
४	४४	३५६
	३२८	२०८

काण्व-शाखा का प्रवर्तक

कण्व के शिष्य काण्व कहाते हैं। उन्हीं शिष्यों में कण्व का प्रवचन सब से पहले प्रवृत्त हुआ होगा। कण्व एक गोत्र है, अत. कण्व नाम के अनेक ऋषि समय समय पर हुए होंगे। कण्व नार्पद[1], कण्व श्रायस[2], कण्वाः सौश्रवसा[3], कण्व घोर[4], आदि अनेक कण्व हो चुके हैं। कश्यप कुल का एक कण्व महाराज दुष्यन्त के काल में था। उसी के आश्रम में शकुन्तला वास करती थी। इसी ने भरत का वाजिमेध यज्ञ कराया था। आदिपर्व ६६।४८ में लिखा है—**याजयामास तं कण्वः**। महाभारत शान्तिपर्व अध्याय प्रथम मे लिखा है कि द्वैपायन, नारद, देवल, देवस्थान और कण्व अपने शिष्यों सहित भारत युद्ध के अवसान पर महाराज युधिष्ठिर से मिलने गए। पुन. शान्तिपर्व अध्याय ३४४ में लिखा है कि अङ्गिरा के पुत्र चित्र-शिखण्डी नाम के एक बृहस्पति का शिष्य राजा उपरिचर वसु था। उस राजा ने एक महान् अश्वमेध यज्ञ किया था। उस यज्ञ के १६ सदस्यों में कोई एक कण्व भी था। इन कण्वों में से प्रत्येक का भेद गोत्र से प्रतीत होता है। मौसल पर्व २।४ में भी एक कण्व उल्लिखित है। विश्वामित्र और नारद के साथ उसी ने यादवों को कुलान्त करने वाला शाप दिया था। बहुत सम्भव है कि शान्ति पर्व के आरम्भ में उल्लिखित कण्व और उस के शिष्य ही काण्व शाखा से सम्बन्ध रखने वाले हों। कण्व लोग अङ्गिरा गोत्र वाले हैं। हरिवंश अध्याय ३२ में लिखा है—

एते ह्याङ्गिरसः पक्षं संश्रिताः कण्वमौद्गलाः।।६८।।

तथा ब्रह्माण्ड पुराण मध्यम भाग १।११२ में भी यही लिखा है। वायु पुराण ५६।१०० में भी कण्व अङ्गिरा कहे गये हैं।

---

१. जै० ब्रा० १।२१६ कालेण्ड ७६।

२. तै० स० ५।४।७।५।। का० स० २१।८।। मै सं० ३।३।६।।

३ का स० १३।१२।।

४. ऋ० १।३।७ आदि का ऋषि। सम्भवतः घोर आङ्गिरस का शिष्य।

कण्व का आश्रम

आदि पर्व ६४।१८ के अनुसार मालिनी नदी पर कण्व का आश्रम था। यह स्थान प्राचीन मध्यदेशान्तर्गत है। काण्व संहिता में एक पाठ है—

एष व. कुरवो राजैष पञ्चाला राजा।

इसी के स्थान में माध्यन्दिन पाठ है—**एष वोऽमी राजा**। तैत्तिरीय आदि संहिताओं में इस पाठ में अन्य जनपदों के नाम हैं। इस से प्रतीत होता है कि काण्वों का स्थान कुरु पञ्चालों के समीप ही था।

कण्वों का एक आगम काठक गृह्य ५।८ के देवपाल भाष्य में उद्धृत है। कण्व के श्लोक स्मृति चन्द्रिका श्राद्धकाण्ड पृ० ६७, ६८ पर उद्धृत हैं। कण्व और कण्व धर्मसूत्र के प्रमाण गोतम धर्मसूत्र के मस्करी भाष्य में बहुधा मिलते हैं। काण्व नाम के दो आचार्य आपस्तम्ब धर्मसूत्र में स्मरण किए गए हैं।

भारत के काण्व राजा

पुष्यमित्र स्थापित शुङ्ग-राज्य के पश्चात् मगध का राज्य काण्वों के पास चला गया। ये काण्व राजा ब्राह्मण थे। पुराणों में इन्हें काण्वायन भी कहा गया है। ये राजा काण्व शाखीय ब्राह्मण ही होंगे।

काण्वी शाखा वालों का पाञ्चरात्रगम से सम्बन्ध

पाञ्चरात्रगम का काण्व शाखा से कोई सम्बन्धविशेष प्रतीत होता है। इस आगम की जयाख्य संहिता के प्रथम पटल में लिखा है—

काण्वीं शाखामधीयानाव् औपगायनकौशिकौ।
प्रपत्तिशास्त्रनिष्णातौ स्वनिष्ठानिष्ठतावुभौ ॥१०९॥
तद्गोत्रसम्भवा एव कल्पान्तं पूजयन्तु माम्।
जयाख्येनाथ पाद्मेन तन्त्रेण सहितेन वै ॥१११॥
अत्राधिकार उभयोस्तयोरेव कुलीनयो.।
शाण्डिल्यश्च भरद्वाजो मुनिर्मौञ्जायनस्तथा ॥११५॥
इमौ च पञ्चगोत्रस्था मुख्या. काण्वीमुपाश्रिता।
श्रीपाञ्चरात्रतन्त्रीये सर्वेऽस्मिन् मम कर्मणि ॥११६॥

अर्थात्—पाञ्चरात्रागम वाले अपने कर्मकाण्ड में मुख्यता से काण्व शाखा का आश्रय लेते हैं। इन के अनेक आचार्य काण्वशाखीय ही हैं।

४—माध्यन्दिनाः—शुक्ल यजुओं में इस समय माध्यन्दिन-शाखा ही सब से अधिक पढ़ी जाती है। कश्मीर, पञ्जाब, राजपूताना, गुजरात, महाराष्ट्र, मद्रास, बङ्गाल बिहार और संयुक्त प्रान्त में प्राय. सर्वत्र ही इस शाखा का प्रचार है। संहिता के हस्तलिखित ग्रन्थों में इसे बहुधा यजुर्वेद या वाजसनेय संहिता ही कहा गया है। सम्भव है कि स्वर और उच्चारण आदि भेदों के अतिरिक्त इस का मूल से पूरा सादृश्य हो।

माध्यन्दिन ऋषि कौन और किस देश का था, यह हम अभी नहीं बता सकते। शाखा अध्येता इस शाखा में कुल १९७५ मन्त्र कहते हैं। यह गणना कण्डिका मन्त्रों की है। इस से आगे प्रत्येक कण्डिका मन्त्र में भी कई कई मन्त्र हैं। उन मन्त्रों की गणना वासिष्ठी शिक्षा के अन्त में मिलती है। वह आगे दी जाती है—

एकीकृत्वा ऋच सर्वा मुनिषड्वेदभूमिताः।
अब्धिरामाथ वा ज्ञेया वसिष्ठेन च धीमता ॥१॥
एव सर्वाणि यजूंषि रामाश्विवसुयुग्मकाः।
अथ वा पञ्चभिर्न्यूनाः संहितायां विभागत. ॥२॥

अर्थात्—सारी ऋचाए १४६७ हैं। इन की संख्या का विकल्प अस्पष्ट है। इस प्रकार सारे यजु २८२३ अथवा २८१८ हैं।

यह हुई ऋक् और यजुओं की गणना। अब अनुवाकसूत्राध्याय के अनुसार अनुवाकों की संख्या लिखी जाती है। अनुवाकसूत्राध्याय के अन्तिम श्लोक निम्नलिखित है—

दशाध्याये समाख्यातानुवाकाः सर्वसंख्यया।
शत दशानुवाकाश्च नवान्ये च मनीषिभिः ॥१॥
सप्तषष्टिश्चितो ज्ञेया सौत्रे द्वाविंशतिस्तथा।
अश्व एकोनपञ्चाशत्पञ्चत्रिंशत् खिले स्मृता ॥२॥
शुक्रियेषु तु विज्ञेया एकादश मनीषिभिः।
एकीकृत्य समाख्यात त्रिशत त्र्यधिकं मतम् ॥३॥

अर्थात्—प्रथम १० अध्यायों में ११९ अनुवाक हैं। अग्निचयन अथवा ११—१८ अध्यायों में ६७ अनुवाक हैं। १९—२१ अर्थात् सौत्रामणि अध्यायों में २२ अनुवाक हैं। अश्वमेध अर्थात् २२–२५ अध्यायों में ४९

अनुवाक हैं। २६—३५ अर्थात् खिल अध्यायों में ३५ अनुवाक हैं। शुक्रिय अर्थात् अन्तिम ५ अध्यायों में ११ अनुवाक हैं। एकत्र करके— ११६+६७+२२+४६+३५+११=३०३ तीन सौ तीन कुल अनुवाक हैं।

चालीस अध्यायों के अनुवाकों मन्त्रों, ऋचाओं और यजुओं की सख्या आगे लिखी जाती है। इन में से अनुवाक और मन्त्रों की सख्या तो अनुवाकसूत्राध्याय के अनुसार है और ऋचाओं और यजुओं की गणना वासिष्ठी शिक्षा के अनुसार है। काशी के शिक्षा-सग्रह में मुद्रित वासिष्ठी शिक्षा का पाठ बहुत भ्रष्ट है, अतः ऋचाओं और यजुओं की गणना में पूरा विश्वास नहीं किया जा सकता। फिर भी भावी विचार के लिए मुद्रित ग्रन्थ के आधार पर ही यह गणना दी जाती है।

अध्याय	अनुवाक	मन्त्र	ऋक	यजु
१	१०	३१	१	११७
२	७	३४	१२	७६
३	१०	६३	६३या६२	३४या ३६
४	१०	३७	२१ या २०	६५ या ६६
५	१०	४३	१७	११५
६	८	३७	१७	८३
७	२५	४८	३०	१११
८	२३	६३	४३	१०३ या १०४
९	८	४०	२२	८४
१०	८	३४	१२	१०२
११	७	८३	७६	२६
१२	७	११७	११४	१२
१३	७	५८	५२	८७
१४	८	३१	१७	१५४
१५	७	६५	४६	९०
१६	९	६६	३३	१२९
१७	९	९९	९५	११
१८	१३	७७	३६	३६८

अध्याय	अनुवाक	मन्त्र	ऋक्	यजु.
१९	७	९५	९४	३०
२०	९	९०	८४	१४
२१	६	६१	२८	३३
२२	१९	३४	१३	११३
२३	११	६५	५८	२४
२४	४	४०	०	४०
२५	१५	४७	४३	
२६	२	२६	२५	१५
२७	४	४५	४४	१
२८	४	४६	०	४६
२९	४	६०	५७	३२
३०	२	२२	३	१७७
३१	२	२२	२२	०
३२	२	१६	२५	
३३	७	९७	११९	०
३४	६	५८	६२	०
३५	२	२२	२१	६
३६	२	२४	२०	२२
३७	२	२१	५	३१
३८	३	२८	१३ या १४	५२
३९	२	१३	२	१०७
४०	२	१७	१७	७
	३०३	१९७५		

माध्यन्दिनों का कोई श्रौत और गृह्य कभी था वा नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। माध्यन्दिन के नाम से दो शिक्षा-ग्रन्थ शिक्षासंग्रह में छपे हैं। उन का इस शाखा से सम्बन्ध भी है। पदपाठ की अनेक बातें और गलित ऋचाओं का वर्णन उन में मिलता है। ये शिक्षाएं कितनी प्राचीन हैं; यह विचार-साध्य है।

५—**शापेयाः**—इस नाम के कुछ पाठान्तर पृ० २६६ पर आ चुके हैं। उन सब में से **शापेयाः** पाठ ही शुद्ध प्रतीत होता है। पाणिनीय सूत्र **शौनकादिभ्यश्छन्दसि** ४।३।१०६ पर जो गण पढ़ा गया है, उस में भी यह नाम पाया जाता है। गणपाठ के हस्तलेखों तथा उन हस्तलेखों की सहायता से मुद्रित हुए ग्रन्थों में इस नाम के और भी कई पाठान्तर हैं।

गणरत्नमहोदधि ४।३०५ में वर्धमान लिखता है—

शपस्यापत्य शापेयः। शापेयिनः। शाफेय इत्यन्ये।

कात्यायन-प्रातिशाख्य अध्याय ३ सूत्र ४३ पर अनन्तभट्ट अपने भाष्य में लिखता है—

दु'नाश। दूणाश सख्य तव। इदं शाबीयादिशाखोदाहरणम्।

अर्थात्—कई शाखाओं में **दु नाश** पाठ है, परन्तु शापेय शाखा में **दूणाश** पाठ है।

ऋग्वेद में **दूणाशं सख्य तव** ६। ४५। २५ पाठ है। यह ऋचा माध्यन्दिन शाखा में नहीं है, परन्तु शापेय शाखा में होगी।

पुनः वहीं अनन्तभट्ट ३। ४७ के भाष्य में लिखता है—

षट् दन्त.। षोडन्तो अस्य महतो महित्वात्। शाबीयादेरेतत्।

यह मन्त्र वैदिक कानकार्डेंस में हमें नहीं मिला।

६—**तापनीया**—नासिकक्षेत्र-वास्तव्य श्री अण्णाशास्त्री वारे के पुत्र श्री पण्डित श्रीधर शास्त्री ने गोपीनाथ भट्टी में से निम्नलिखित प्रमाण लिख कर हमें दिया था—

तापनीयश्रुतिरपि। सप्तद्वीपवतीभूमिर्दक्षिणार्थं न कल्प्यते—इति।

तापनीय उपनिषदों में यह वचन हमारी दृष्टि में नहीं पड़ा, अतः सम्भव है कि यह वचन तापनीय ब्राह्मण या आरण्यक में हो।

७, ८—**कापोलाः, पौण्ड्रवत्सा.**—इन में से पहली शाखा के विषय में हम अभी तक कुछ नहीं जान सके। पौण्ड्रवत्स लोग वत्सों या वात्स्यों का ही कोई भेद थे। ऋग्वेद के शाकल चरण की एक वात्स्य शाखा का वर्णन हम पृ० १६३ पर कर चुके हैं। अब इन वत्सों और वात्स्यों के सम्बन्ध में कुछ विस्तार से लिखा जाता है।

वत्स और वात्स्य

स्मृतिचन्द्रिका श्राद्धकाण्ड पृ० ३२६ पर **वत्ससूत्र** का एक लम्बा प्रमाण मिलता है। उसी प्रमाण को अपने श्राद्ध प्रकरण में लिख कर हेमाद्रि कहता है—**चरकाध्वर्युसूत्रकृत् वत्स**, अर्थात् वत्स चरकाध्वर्युओं का सूत्रकार था। पुनः स्मृतिचन्द्रिका संस्कारकाण्ड पृ० २ पर वत्स नाम का एक धर्मसूत्रकार लिखा गया है।

महाभारत आदिपर्व ४८। ६ के अनुसार जनमेजय के सर्पसत्र में **वात्स्य** नाम का एक सदस्य उपस्थित था। कात्यायन श्रौत के परिभाषा अध्याय में **वात्स्य** नाम का आचार्य स्मरण किया गया है। मानवों के अनुग्राहिक सूत्र के द्वितीय खण्ड में एक **वात्स्य** का मत मिलता है। इसी अनुग्राहिक सूत्र[1] के २२ खण्ड में **चित्रसेन वात्स्यायन** आचार्य का मत दिया है। तैत्तिरीय आरण्यक १।७।२१ में **पञ्चकरण वात्स्यायन** का मत मिलता है। पौण्ड्रवत्सों का इन में से किसी के साथ कोई सम्बन्ध था वा नहीं, यह नहीं कहा जा सकता।

६—१४ शाखाओं के तो अब नाममात्र ही मिलते हैं। इन में से पराशर शाखा के विषय में इतना ध्यान रखना चाहिये कि ऋग्वेदीय बाष्कल चरणान्तर्गत भी एक पराशर शाखा है।

१५—**वैजवापा**.—वैजवाप-गृह्य-सङ्कलन हम मुद्रित कर चुके हैं।[2] वैजवापश्रौत के कई सूत्र यत्र तत्र उद्धृत मिलते हैं। इन का पूरा उल्लेख कल्पसूत्रों के इतिहास में किया जायगा। वैजवाप ब्राह्मण और संहिता का हमें अभी तक पता नहीं लग सका। चरक १।११ में लिखा है कि हिमालय पर एकत्र होने वाले ऋषियों में एक **वैजवापि** भी था। वैजवापों की एक स्मृति भी यत्र तत्र उद्धृत मिलती है।

कात्यायना—श्रीपति रचित श्रीकर नामक वेदान्त भाष्य १।२।७ पर यह शाखा उद्धृत है। कात्यायन श्रौत और कातीय गृह्य तो प्रसिद्ध ही हैं। स्मरण रहे कि कातीय गृह्य पारस्करगृह्य से कुछ विलक्षण है। एक कात्यायन शतपथ ब्राह्मण लाहौर के दयानन्द कालेज के लालचन्द पुस्तकालय में है।

---

१. इस का हस्तलेख हमारे पास था।

2. Fourth A I. O Conference, Proceedings Volume II ,1928, pp 59–67.

उस में पहले चार काण्ड हैं। वह काण्व शतपथ से मिलता है। क्या ये सब ग्रन्थ किसी शाखा विशेष के हैं, यह विचारणीय है।

शुक्लयजुः की मन्त्र-संख्या

ब्रह्माण्ड पुराण पूर्व भाग अध्याय ३५ श्लो० ७६, ७७ तथा वायु पुराण अध्याय ६१ श्लोक ६७, ६८ का पाठ निम्नलिखित है—

द्वे सहस्रे शते न्यूने मन्त्रे वाजसनेयके ।
ऋग्गण परिसंख्यातो ब्राह्मणं तु चतुर्गुणम् ॥
अष्टौ सहस्राणि शतानि चाष्टावशीतिरन्यान्यधिकश्च पाद ।
एतत्प्रामाण यजुशामृचां च सशुक्रियं सखिल याज्ञवल्क्यम् ॥

अर्थात्—वाजसनेय आम्नाय में १९०० ऋचाएं हैं। तथा शुक्रिय और खिलसहित यजुओं और ऋचाओं का प्रमाण ८८८० और एक पाद है।

इस प्रकार पुराणों के अनुसार वाजसनेयों के पाठ में कुल मन्त्र ८८८० और एक पाद हैं। अथवा ६९८० यजुओं की संख्या तथा १९०० ऋचाएं और एक पाद हैं।

एक चरणव्यूह का पाठ है—

द्वे सहस्रे शते न्यूने मन्त्रे वाजसनेयके ।
ऋग्गणः परिसंख्यातस्ततो ऽन्यानि यजूंषि च ।
अष्टौ शतानि सहस्राणि चाष्टाविंशतिरन्यान्यधिकश्च पादम् ।
एतत्प्रमाण यजुषां हि केवलं सवालखिल्य सशुक्रियम् ।
ब्राह्मण च चतुर्गुणम् ।

चरणव्यूह और पुराणों के पाठ का स्वल्प अन्तर है। चरणव्यूह के अनुसार वाजसनेयों की कुल मन्त्र संख्या ८८२० और एक पाद है।

प्रतिज्ञापरिशिष्ट सूत्र के चतुर्थ खण्ड मे लिखा है—

वाजसनेयिनाम्—अष्टौ सहस्राणि शतानि चान्यान्यष्टौ समितानि ऋग्भिर्विभक्त सखिलं सशुक्रिय समस्तो यजूंषि च वेद ॥४॥

अर्थात्—वाजसनेयों की मन्त्र संख्या ८८०० है। इतना ही सम्पूर्ण यजु है। इस में ऋचाएं, खिल और शुक्रिय अध्याय सम्मिलित हैं।

चरणव्यूह का टीकाकार महिदास इसी श्लोक के अर्थ में ऋक् संख्या १९२५ मानता है। उस के इस परिणाम पर पहुंचने का कारण जानना चाहिए।

यह ऋक् और यजु. सख्या १५ शाखाओं की सम्मिलित सख्या प्रतीत होती है। पहले लिखा जा चुका है कि वासिष्ठी शिक्षा के अनुसार माध्यन्दिन शाखा में १४६७ ऋचाए हैं। पन्द्रह शाखाओं की ऋक् सख्या १६०० है। अत शेष १४ शाखाओं में कुल ४३३ ऋचाए ऐसी होंगी जो माध्यन्दिन शाखा मे नहीं हैं। इसी प्रकार माध्यन्दिन यजुः सख्या २८२३ है। प्रतिज्ञासूत्रानुसार ऋचाए निकाल कर ८८००–१६००=६६०० यजु है। अत ६६००–२८२३=४०७७ नए यजु. अन्य चौदह शाखाओं मे होंगे।

माध्यन्दिन शाखा के समान यदि काण्व शाखा के भी ऋक्, यजुः गिन लिए जाए, तो विषय अति स्पष्ट हो सकता है।

स्मरण रहे कि जिन ग्रन्थो मे यह सख्या ली गई है, उन का पाठ शुद्ध होने पर इस सख्या में थोडा बहुत भेद करना पडेगा।

वाजसनेयो का कुरुजांगल राज्य में व्यापक-प्रभाव

वैशम्पायन का कौरव जनपद से घनिष्ठ सम्बन्ध था। वैशम्पायन ही महाराज जनमेजय को भारत-कथा सुनाता है। अत. स्वाभाविक ही वहा पर चरकों का प्रचार होना चाहिए। परन्तु वस्तुत. ऐसा हुआ नहीं। परिक्षित् के पुत्र महाराज जनमेजय ने वाजसनेयी ब्राह्मणों को अपने यज्ञ में स्थापन किया। वैशम्पायन इसे सहन न कर सका। उस ने जनमेजय को शाप दिया। उस शाप से जनमेजय का नाश हो गया।[1] यह वृत्तान्त वायु पुराण अ० ६६ श्लोक २५०–२५५ तक पाया जाता है। कई अन्य पुराणों में भी यही वार्ता पाई जाती है। इस से प्रतीत होता है कि पौरव राज्य में वाजसनेयों का प्रभाव अधिक हो गया था। शनै शनै कश्मीर के अतिरिक्त सारे उत्तरीय भारत और सौराष्ट्र में शुक्ल यजुओं का ही अधिक प्रचार हो गया।

क्या कोई वाजसनेय-संहिता भी थी

बौधायन, आपस्तम्ब और वैखानस श्रौतसूत्रों में कई वार वाजसनेय वा वाजसनेयकों के वचन उद्धृत मिलते हैं। वे वचन ब्राह्मण सदृश हैं। परन्तु माध्यन्दिन और काण्व शतपथों में वे पाठ नहीं मिलते। वासिष्ठधर्म सू० १२।३१ तथा १४।४६ मे भी दो वार वाजसनेय ब्राह्मण का पाठ मिलता है।

---

१. तुलना करो—कौटिल्य अर्थ शास्त्र १।६॥

प्रथम पाठ की तुलना मा० शतपथ १०।५।२।६ से की जा सकती है। वस्तुतः ये दोनों पाठ भी इन शतपथों में नहीं हैं। इस से किसी वाजसनेय ब्राह्मण विशेष के अस्तित्व की सम्भावना प्रतीत होती है। अथवा यह भी सम्भव है कि जाबाल आदि किसी ब्राह्मणविशेष को ही वाजसनेय ब्राह्मण कहते हों। इसी प्रकार यह भी विचारणीय है कि क्या शुक्ल यजुओं की आरम्भ से ही १५ संहिताएं थीं, अथवा कोई मूल वाजसनेय संहिता भी थी।

अनेक हस्तलिखित शुक्लयजु संहिता पुस्तकों के अन्त में **इति वाजसनेय संहिता** अथवा **इति यजुर्वेद** लिखा मिलता है। वह संहिता माध्यन्दिन पाठ से मिलती है। इस पर पूरा पूरा विचार करना चाहिए।

वाजसनेयों के दो प्रधान मार्ग

प्रतिज्ञापरिशिष्ट खण्ड ११ के अनुसार वाजसनेयों के दो प्रधान मार्ग थे। प्रतिज्ञा परिशिष्ट का तत्सम्बन्धी पाठ यद्यपि बहुत अशुद्ध है, तथापि उस का अभिप्राय यही है। उन मार्गों में से एक मार्ग था **आदित्यों** का और दूसरा था **आङ्गिरसों** का। आदित्यों का मार्ग ही विश्वामित्र या कौशिकों का मार्ग हो सकता है। ये ही दो मार्ग माध्यन्दिन शतपथ ग्रहकाण्ड ४, प्रपाठक ४, खण्ड १६ में वर्णित हैं। इन्हीं दोनों मार्गों का उल्लेख कौषीतकि ब्राह्मण ३०।६ मे मिलता है। वहा ही लिखा है कि (देवकीपुत्र श्रीकृष्ण के गुरु) घोर आङ्गिरस ने आदित्यों के यज्ञ में अध्वर्यु का काम किया था। इस भेद के अनुसार याज्ञवल्क्य के पन्द्रह शिष्य भी दो भागों में विभक्त हो जाएंगे। एक होंगे कौशिक पक्ष वाले और दूसरे आङ्गिरस पक्ष वाले। कात्यायन आदि काशिक हैं और काण्व आदि आङ्गिरस हैं।

वाजसनेय और शङ्खलिखित-सूत्र

शङ्खलिखित रचित एक धर्मसूत्र है। वह वाजसनेयों से ही पढ़ा जाता है। ऐसी परम्परा क्यों चली, इस का निर्णय कल्पसूत्रों के इतिहास में करेंगे।

कृष्ण यजुर्वेद प्रचारक वैशंपायन

त्रिकालदर्शी भगवान् कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास का दूसरा प्रधान शिष्य वैशंपायन था। वैशंपायन के पिता का नाम अथवा उस का जन्मस्थान हम नहीं जानते। वायु पुराण ६१।५ के अनुसार वैशंपायन एक गोत्र था, परन्तु ब्रह्माण्ड पु० ३४।८ के लगभग वैसे ही पाठानुसार वैशंपायन एक नाम-

विशेष था। वैशंपायन का दूसरा नाम चरक था। अष्टाध्यायी की काशिका वृत्ति ४।३।१०४ में लिखा है—

चरक इति वैशंपायनस्याख्या।[1]

याज्ञवल्क्य इसी वैशंपायन का भागिनेय और शिष्य भी था। शान्तिपर्व ३८४।९ के अनुसार तित्तिरि या तैत्तिरि वैशंपायन का ज्येष्ठ भ्राता था। महाभारत के इस प्रकरण के पाठ से कुछ सन्देह होता है कि यह वैशंपायन किसी पहले युग का हो। परन्तु अधिक सम्भावना यही है कि यह वैशंपायन हमारा वैशंपायन ही है।

वैशंपायन का आयु

अन्य ऋषियों के समान वैशंपायन भी एक दीर्घजीवी ब्राह्मण था। आदि पर्व १।५७ के अनुसार तक्षशिला में सर्पसत्र के अनन्तर व्यास जी की आज्ञा से इसी वैशंपायन ने जनमेजय को भारत-कथा सुनाई थी। जब जनमेजय ने वाजसनेयों को पुरोहित बना कर यज्ञ किया, तो इसी वैशंपायन ने उसे यह शाप दिया था जो उस के नाश का कारण बना। वैशंपायन का आयु परिमाण भी याज्ञवल्क्य के तुल्य ही होगा। व्यास जी से कृष्ण यजुर्वेद का अभ्यास करके इस ने आगे अनेक शिष्यों को उस का अभ्यास कराया। उन शिष्यों के कारण इस कृष्ण यजुर्वेद की ८६ शाखाएं हुईं।

शबरस्वामी अपने मीमांसाभाष्य १।१।३० में किसी प्राचीन ग्रन्थ का प्रमाण देता हुआ लिखता है—

स्मर्यते च—वैशंपायनः सर्वशाखाध्यायी।

अर्थात्—वैशंपायन इन सब ८६ शाखाओं को जानता था।

इसी वैशंपायन का कोई छन्दोबद्ध-ग्रन्थ भी था। उसी के श्लोकों को काशिकावृतिकार ४।३।१०७ पर चारकाः श्लोकाः लिखता है। सम्भव है ये श्लोक महाभारतस्थ 'वैशम्पायन उवाच' हों।

कृष्ण यजुर्वेद की ८६ शाखाओं के तीन प्रधान भेद

पुराणों के अनुसार इन शाखाओं के तीन प्रधान भेद हैं—

वैशंपायनगोत्रो ऽसौ यजुर्वेदं व्यकल्पयत्।
षडशीतिस्तु येनोक्ताः संहिता यजुषां शुभाः॥

---

१. तुलना करो— शाकटायन व्याक० चिन्तामणि वृत्ति।

षडशीतिस्तथा शिष्याः संहितानां विकल्पकाः ।
सर्वेषामेव तेषां वै त्रिधा भेदा प्रकीर्तिताः ॥
त्रिधा भेदास्तु ते प्रोक्ता भेदेऽस्मिन्नवमे शुभे ।
उदीच्या मध्यदेश्याश्च प्राच्याश्चैव पृथग्विधाः ॥
श्यामायनिरुदीच्यानां प्रधानः सम्बभूव ह ।
मध्यदेशप्रतिष्ठाता चारुणिः [चासुरिः ? ब्र० पु०] प्रथमः स्मृतः ॥
आलम्बिरादिः प्राच्यानां त्रयोदेश्यादयस्तु ते ।
इत्येते चरकाः प्रोक्ता संहितावादिनो द्विजाः ॥[१]

अर्थात्—कृष्ण यजुः की ८६ शाखाओं के तीन भेद हैं। वे भेद हैं उदीच्य=उत्तर, मध्यदेशीय और प्राच्य=पूर्वदेशस्थ आचार्यों के भेद से। श्यामायनि उत्तर देश के कृष्ण याजुषों में प्रधान था। मध्यदेश वालों में आरुणि या आसुरि प्रथम था। और पूर्वदेश वालों में से आलम्बि पहला था।

काशिकावृत्ति ४।३।१०४ में इस विषय पर और भी प्रकाश डाला गया है—

आलम्बिश्चरकः प्राचां पलङ्गकमलावुभौ ।
ऋचाभारुणिताण्ड्याश्च मध्यमीयास्त्रयोऽपरे ॥
श्याममायन उदीच्येषु उक्तः कठकलापिनौ ।

अर्थात्—आलम्बि, पलङ्ग और कमल पूर्वदेशीय चरक थे। ऋचाभ, आरुणि और ताण्ड्य मध्यदेशीय चरक थे। तथा श्यामायन, कठ और कलाप उत्तरदेशीय चरक थे।

व्याकरण महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि भी सूत्र ४।२।१३८ पर लिखता है—

त्रयः प्राच्याः । त्रय उदीच्याः । त्रयो मध्यमाः ।

अर्थात्—[वैशम्पायन के नौ शिष्यों में से] तीन पूर्वीय, तीन उत्तरीय और तीन मध्य देशीय आचार्य हैं।

इसी प्रकार आर्च श्रुतर्षियों का वर्णन करके ब्रह्माण्ड पुराण पूर्व भाग अध्याय ३३ में लिखा है—

---

[१] यह पाठ वायु ६१।५–१० तथा ब्रह्माण्ड पूर्व भाग ३४।८–१३ को मिला कर दिया गया है।

वैशपायनलौहित्यौ कठकालापशावध ॥ ५ ॥
श्यामायनिः पलङ्गश्च ह्यालवि कामलायनिः ।
तेषां शिष्या प्रशिष्याश्च षडशीतिः श्रुतर्षयः ॥६॥

मुद्रित पाठ अत्यन्त भ्रष्ट है। यह हमारा शोधित पाठ है। इस पाठ में भी पाञ्चव श्लोक का अन्तिम पद अस्पष्ट है।

वायु और ब्रह्माण्ड का जो लम्बा पाठ ऊपर दिया गया है, तदनुसार इन यजुओं की ८६ संहिताएं थीं। यह बात सत्य प्रतीत नहीं होती। आपस्तम्बादि अनेक कृष्ण यजु. शाखाएं ऐसी हैं, जो सौत्ररूप ही हैं। कभी उन की स्वतन्त्र संहिता रही हो, यह उन उन सम्प्रदायों में अवगत नहीं। अत. पुराण के इस लेख की पूरी आलोचना आवश्यक है। अब इन चरक-चरणों और उन की अवान्तर शाखाओं का वर्णन किया जाता है।

१—चरक संहिता

वैशपायन की मूल चरक संहिता कैसी थी, यह हम नहीं कह सकते। एक चरक संहिता चरणव्यूहादि में कही गई है।

यजुर्वेद ७।२३ और २५।२७ के भाष्य में उवट चरकों के मन्त्र उद्धृत करता है। कात्यायन प्रातिशाख्य ४।१६७ के भाष्य में उवट चरकों के एक सन्धि-नियम का उल्लेख करता है। चरक ब्राह्मण भी बहुधा उद्धृत मिलता है। इस का उल्लेख इस इतिहास के ब्राह्मण भाग में होगा। चरक श्रौत के अनेक प्रमाण शांखायन श्रौत के आनर्तीय भाष्य में मिलते हैं। इन का वर्णन इस इतिहास के श्रौत भाग में होगा। सुनते हैं नागपुर का प्रसिद्ध श्रेष्ठी गृह, जिन्हें बूटी कहते हैं, चरकशाखा वालों का है। परन्तु वहां चरक शाखा अथवा उस के ग्रन्थों का अब कोई अस्तित्व नहीं, ऐसा सुना जाता है। मुद्रित कठसंहिता में कई स्थानों पर यह लिखा मिलता है—

इति श्रीमद्यजुषि काठके चरकशाखायाम्।

इस के अभिप्राय पर ध्यान करना चाहिए।

इन चरकाध्वर्युओं का खण्डन शतपथ मे बहुधा मिलता है। बृहदारण्यक उप० ३।३।१ में मद्रदेश में चरकों के अस्तित्व का उल्लेख है। आयुर्वेदीय चरकसंहिता सूत्रस्थान १४।१०१ में **पुनर्वसु** को **चान्द्रभाग** कहा गया है। चन्द्रभागा-चनाब नदी के पास ही मद्रदेश था। अत. सम्भव है कि

मद्रदेश में या उस के समीप ही वैशंपायन का आश्रम हो।

व्याकरण महाभाष्यकार पतञ्जलि सम्भवत. चरक शाखाध्यायी था। वह कठ पाठ अधिक उद्धृत करता है।

२,३—आलम्बिन तथा पालङ्गिन शाखाएं

गणरत्नमहोदधि ४।३०५ में लिखा है—

अलम्बस्यापत्यम् आलम्बि.। आलम्बिनः।

इन शाखाओं का अब नाममात्र ही शेष है। आलम्बि और पलङ्ग पूर्वदेशीय आचार्य थे। एक आलम्बायन आचार्य का वर्णन महाभारत अनुशासन पर्व अध्याय ४६ में मिलता है—

चारुशीर्षस्तत. प्राह शक्रस्य दयित सखा।
आलम्बायन इत्येवं विश्रुत. करुणात्मक.॥५॥

अर्थात्—सुन्दर शिर वाला, इन्द्रसखा, विश्रुत, करुणामय आलम्बायन बोला। [हे युधिष्ठिर ! गोकर्ण में तप तथा शिव स्तुति से मैं ने पुत्र प्राप्त किए थे।

इन्द्र-सखा—आलम्बायन निश्चय ही इन्द्र का प्रिय था। वाग्भट्ट अष्टाङ्ग-संग्रह १।१०४ में लिखता है कि आयुर्वेद-शिक्षा प्राप्त करने के लिए पुनर्वसु आत्रेय के साथ आलम्बायन भी गया। आलम्बायन का वैद्यक-ग्रन्थ माधवनिदान की मधुकोश व्याख्या ६६।२८ पर उद्धृत है।[1]

आलम्बि पूर्वदिशा का था। इन्द्र-राज्य भी इसी दिशा में था। अतः आलम्बायन का इन्द्र सखा होना स्वाभाविक ही है।

सभा पर्व ४।२० के अनुसार युधिष्ठिर के सभा-प्रवेश समय अनेक ऋषियों के साथ एक **आलम्ब** भी वहां उपस्थित था। माध्यन्दिन शतपथ के अन्त में जो वंश कहा गया है, वहां भी आलम्बी और आलम्बायनी दो नाम मिलते हैं।

४—कमल की शाखा

काशिकावृत्ति ४।३।१०४ के अनुसार इस शाखा के पढ़ने वाले **कामलिन** कहाते हैं। **कामलायिन** नाम की भी एक शाखा थी। उस का एक लम्बा

---

१ आलम्बायन के अगदतन्त्र के लिए देखो श्री कविराज सूरमचन्द्र जी कृत आयुर्वेद का इतिहास पृष्ठ २७१।

पाठ अनुग्राहिक सूत्र के १७ वें खण्ड से आरम्भ होता है।

अथ ॐ याज्ञिकल्प कामलायिनः समामनन्ति वसते वै ।[1]

कामलिन और कामलायिन क्या एक थे वा दो, यह जानना आवश्यक है। हम अभी तक कोई सम्मति स्थिर नहीं कर सके। व्याकरण में कामलिन पाठ है और पुराण में उसी का कामलायिनः पाठ है। तीसरा नाम कामलायन है। इन तीनों नामों का सम्बन्ध जानना चाहिए।

छान्दोग्य उप० ४।१०।१ में लिखा है—

उपकोसलो ह वै कामलायनः सत्यकामे जाबाले ब्रह्मचर्यमुवास।

अर्थात्—उपकोसल कामलायन सत्यकाम जाबाल का शिष्य था। यहां उपकोसल का अभिप्राय यदि उपकोसल देश वासी है, तो यह आचार्य इस शाखा से सम्बन्ध रखने वाला हो सकता है। कमल शाखा का प्रवक्ता पूर्वदेशीय था, और कमल भी प्राच्य कहा गया है।

५—आर्चाभिन-शाखा

निरुक्त २।३ में आर्चाम्याम्नाय के नाम से यास्क इसे उद्धृत करता है। दुर्ग, स्कन्द आदि निरुक्त टीकाकारों के मुद्रित ग्रन्थों में इस शब्द का ठीक अर्थ नहीं लिखा। वे आर्चाम्याम्नाय का अर्थ ऋग्वेद करते हैं। उस अर्थ की भूल-विवेचना इस इतिहास के दूसरे भाग के निरुक्त-प्रकरण में होगी।

६, ७—आरुणिन अथवा आसुरि और ताण्डिन शाखाएं

एक आरुणि शाखा का उल्लेख ऋग्वेद की शाखाओं के वर्णन में हो चुका है। क्या यह शाखा ऋग्वेदीय है, या याजुष, अथवा दोनों वेदों में इस नाम की एक एक शाखा है, यह अभी सन्दिग्ध है। हो सकता है कि याजुष शाखा का वास्तविक नाम आसुरि शाखा हो। ब्रह्माण्ड पुराण में आरुणि का पाठान्तर आसुरि मिलता है। आसुरि नाम का एक आचार्य याजुष साहित्य में प्रसिद्ध भी है। एक तण्ड ऋषि का नाम अनुशासन पर्व ४८।१७६ में मिलता है। इसी पर्व के ४७ वें तथा अन्य अध्यायों में भी उस का उल्लेख है। महाभाष्य ४।१।१९ में एक **आसुरीयः कल्पः** लिखा है।

महाभारत शान्तिपर्व अध्याय ३४४।७ में राजा उपरिचर वसु के

---

[1] हमारा हस्तलेख पृ० १० क।

यज्ञ में महान ऋषि ताण्ड्य का उपस्थित होना लिखा है। एक ताण्ड्य आचार्य मा० शतपथ ६।१।२।२५ में भी स्मरण किया गया है। सामवेद का भी एक ताण्ड्य ब्राह्मण मिलता है। ताण्ड और ताण्ड्य का सम्बन्ध, तथा साम और यजु से सम्बन्ध रखने वाले ताण्ड्य नाम के दो आचार्य थे, वा एक, यह सब अन्वेषणीय है।

मनु ८।११६ पर मेधातिथि **छान्दोग्ये ताण्डके** पाठ लिखता है। यह विचारणीय है।

८—श्यामायन शाखा

शाकटायन व्याकरण लघुवृत्ति पृष्ठ २८६ तथा गणरत्नमहोदधि ३।२२२ पर लिखा है—

श्यामेयो वासिष्ठः, श्यामायनोऽन्यः ।

पुराणों के अनुसार वैशम्पायन के प्रधान शिष्यों में से एक श्यामायन है। परन्तु चरणव्यूह में श्यामायनीय लोग मैत्रायणीयों का अवान्तर भेद कहे गए हैं। महाभारत अनुशासन पर्व ७। ५५ के अनुसार श्यामायन विश्वामित्र गोत्र का कहा गया है। इस विषय में इस से अधिक हम अभी तक नहीं जानते।

९—कठ अथवा काठक शाखा

प्रक्रिया कौमुदी भाग १ पृष्ठ ८०७ के अनुसार कठ उदीच्य थे।

जिस प्रकार वैशम्पायन चरक के सब शिष्य चरक कहाते हैं, ऐसे ही कठ के भी समस्त शिष्य कठ ही कहाते हैं। अष्टाध्यायी ४।३।१०७ का भी यही अभिप्राय है। महाभारत शान्तिपर्व अध्याय ३४४ में जहां राजा उपरिचर वसु के यज्ञ का वर्णन है, वहां १६ ऋत्विजों में से आद्य कठ भी एक था—

आद्यः कठस्तैत्तिरिश्च वैशंपायनपूर्वजः ॥९॥

इस से प्रतीत होता है कि अनेक कठों में जो प्रधान कठ था, अथवा जो उन सब का मूल गुरु था, उसे ही आद्य कठ कहा है। महाभारत आदिपर्व अध्याय ८ में शुनक के पिता रुरु का आख्यान है। भृगु कुल में च्यवन एक ऋषि था। इस के कुल का वर्णन अनुशासनपर्व अध्याय ८ में भी स्वल्प पाठान्तरों से मिलता है। इस च्यवन का पुत्र प्रमति था। प्रमति का रुरु और

रुरुसुत शुनक था। इसी शुनक का पुत्र सुप्रसिद्ध शौनक था। रुरु का विवाह स्थूलकेश ऋषि की पालिता कन्या प्रमद्वरा से हुआ। प्रमद्वरा को साप ने काट खाया। उस समय अनेक द्विजवर वहां उपस्थित हुए। पूना संस्करण के अनुसार आदिपर्व के आठवें अध्याय का २२६वां प्रक्षेप निम्नलिखित है—

उद्दालक कठश्चैव श्वेतकेतुस्तथैव च।

सभापर्व अध्याय ४।२४ के अनुसार युधिष्ठिर की दिव्य-सभा के प्रवेश संस्कार समय कालाप और कठ वहां विद्यमान थे।

कठ एक चरण है

कठ एक चरण है। इस की अवान्तर शाखाएं अनेक होंगी। काशिकावृत्ति ४।२।४६ में लिखा है—

चरणशब्दा कठकालापादयः।

कम से कम दो कठ तो चरणव्यूहों में कहे गए हैं, अर्थात् प्राच्य कठ और कपिष्ठल कठ। एक मर्च कठ आथर्वण चरणव्यूह में वर्णित है।

काठक आम्नाय

व्याकरण महाभाष्य ४।३।१२ के अनुसार कठों का धर्म वा आम्नाय काठक कहाता है। इस आम्नाय की महाभाष्य ४।२।६६ में बड़ी प्रशंसा है—

यथेह भवति-पाणिनीयं महत् सुविहितम् इत्येवमिहापि स्यात् कठं महत् सुविहितमिति।

अर्थात्—पाणिनि का ग्रन्थ महान् और सुन्दर रचना वाला है। तथा कठों का ग्रन्थ [श्रौतसूत्र आदि ?] भी महान् और सुन्दर रचना वाला है।

कठ देश और कठ जाति

कठों का सम्प्रदाय अत्यन्त विस्तृत था। पुराणों के पूर्वलिखित प्रमाणों के अनुसार कठ उत्तरदेशीय था। उत्तर दिशा में अल्मोड़ा, गढ़वाल, कमाऊं, काश्मीर, पञ्जाब अफगानिस्तान आदि देश हैं। इन में से कठ कोई देश विशेष होगा। उस देश में कठ जाति का निवास था। महाभाष्य में—पुंवत् कर्मधारय-जातीय-देशीयेषु। ६।३।४२ सूत्र के व्याख्यान में लिखा है—

जातेश्च [४१] इत्युक्तं तत्रापि पुंवद्भवति । कठी वृन्दारिका कठवृन्दारिका। कठजातीया कठदेशीया ।

अर्थात्—कठ जाति अथवा कठ देश की स्त्री ।

सम्प्रति कठ ब्राह्मण काश्मीर देश में ही मिलते हैं । महाभाष्य ४।३।१०१ के अन्तर्गत पतञ्जलि का कथन है कि उस के समय में ग्राम ग्राम में कठ संहिता आदि पढ़े जाते थे—

ग्रामे ग्रामे काठकं कालापकं च प्रोच्यते ।

नासिक में एक ब्राह्मण ने हम से कभी कहा था कि मूलतापी निवासी कुछ कठ ब्राह्मण उन्हें एक बार मिले थे। वे अपनी संहिता जानते थे । मूलतापी दक्षिण में है । वहां हमें जाने का अवसर नहीं मिला । परन्तु यह बात हमारे ध्यान में नहीं आई, तथापि इस का निर्णय होना चाहिए ।

क्या कट्यूरों का कठों से कोई सम्बन्ध है

कमाऊ प्रदेश के उत्तर की ओर एक पार्वत्य स्थान है । उस का नाम कट्यूर है । वहां सूर्यवंशी राजा राज्य करते रहे हैं । पूर्वकाल में उन की राजधानी जोशीमठ में थी । एक महाशय हम से कहते थे कि यही लोग कठार्य हैं । वे ऐसा भी कहते थे कि काठियावाड़ की काठि जाति भी कठ जाति ही है, और कभी उत्तरीय कट्यूरों और काठियों का परस्पर सम्बध भी था । ये बातें अभी हमारी समझ में नहीं आईं । इन को सिद्ध करने के लिए प्रमाणों की आवश्यकता है ।

कठ और लौगाक्षि

काठक गृह्यसूत्र लाहौर और श्रीनगर, काश्मीर में मुद्रित हो चुका है । कई हस्तलेखों में इसे लौगाक्षिगृह्य भी कहा गया है । इस से प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या कठ और लौगाक्षी समान व्यक्ति थे । हमारा विचार है कि ये दोनों भिन्न भिन्न व्यक्ति थे । हो सकता है कि काठक शाखा पर लौगाक्षी का ही कल्प हो, और उसी का नाम काठक यज्ञसूत्र या काठक कल्प हो गया हो । परन्तु कठ का यदि कोई यज्ञसूत्र था, तो लौगाक्षी का सूत्र उस से पृथक् रहा होगा । पुन. बहुसमानता के कारण ये दोनों सूत्र परस्पर मिल कर एक हो गए होंगे । इस पर विचार विशेष कल्प-सूत्र भाग में करेंगे । वैखानसों की आनन्द-संहिता में काठकसूत्र से लौगाक्षिसूत्र सर्वथा पृथक् गिना गया है । अतः इन दोनों सूत्रों के विभिन्न होने की बड़ी सम्भावना है । पाणिनीय सूत्र ४।३।१०६॥

के गण में **काठशाठिनः** या **काठशाडिनः** प्रयोग मिलता है। तथा ६।२।३७ के गणान्तर्गत **कठकालापाः** और **कठकौथुमाः** प्रयोग मिलते हैं। इन स्थलों में कठों के साथ स्मरण हुए आचार्यों का गहरा सम्बन्ध होगा। पाणिनीयसूत्र ७।४।३ पर हरदत्त अपनी पदमञ्जरी में लिखता है—

बह्वृचानामप्यस्ति कठशाखा।

हमें इस बात की सत्यता में सन्देह है।

माहेश्वर—भास्कर अपने वेदान्तभाष्य पृष्ठ १२७ पर लिखता है—**माहेश्वराश्चत्वार । पाशुपताः, शैवाः, कापालिकाः, काठकसिद्धान्तिनश्चेति ।** काश्मीर का शैव मत काठक सिद्धान्तियों का है।

कठ वाङ्मय

काठक संहिता अध्यापक श्रोडर की कृपा से मुद्रित हो चुकी है। कठ ब्राह्मण के कुछ अंश डा० कालेण्ड ने मुद्रित किए थे। अब वे और अन्य नूतनोपलब्ध अंश हमारे मित्र अध्यापक सूर्यकान्त जी लाहौर मे मुद्रित कर रहे हैं।[1] कठों की एक पद्धति मैंने लाहौर से प्राप्त की थी। उस मे कठ ब्राह्मण के अनेक ऐसे प्रमाण मिले हैं, जो अन्यत्र नहीं मिले थे। इस ब्राह्मण का नाम **शताध्ययन** ब्राह्मण भी था। न्यायमञ्जरीकार भट्ट जयन्त ऐसा ही लिखता है।[2] कठगृह्य के देवपाल भाष्य (भाग १ पृ० २५१) में यह नाम मिलता है। काठक यज्ञ सूत्र अभी तक अनुपलब्ध है। हां, इस का गृह्य-भाग मुद्रित हो चुका है। लौगाक्षिधर्म सूत्र का एक प्रमाण गौतमधर्मसूत्र १०।४२ के मस्करी भाष्य मे उद्धृत है।

कुछ चरणव्यूहों मे लिखा है—

तत्र कठानान्तुपगा यजुर्विशेषा चतुश्चत्वारिंशदुपग्रन्था ।

अन्य चरणव्यूहों में इस के स्थान मे निम्नलिखित पाठ है—

तत्र कठानान्तु बुकाध्ययनादिविशेषः । चत्वारिंशदुपग्रन्थाः । तन्नास्ति यन्न काठके ।

अर्थात्—काठकों के चालीस या चवालीस उपग्रन्थ हैं। बुकाध्ययन कदाचित् शताध्ययन हो। जो काठक मे नहीं वह कहीं नहीं।

---

१ यह ग्रन्थ लाहौर में मुद्रित हो गया था।

२. न्यायमञ्जरी, विजयनगर ग्रन्थमाला, पृ० २५८।

कठ आरण्यक या कठ-प्रवर्ग्यब्राह्मण का त्रुटित पाठ श्रोडर ने मुद्रित किया था। कठ उपनिषद् तो प्रसिद्ध ही है। एक कठश्रुत्युपनिषद् भी मुद्रित हो चुकी है। कठों से सम्बन्ध रखने वाली एक लौगाक्षिस्मृति है। इस का पाठ ४००० श्लोक के लगभग है। इस का हस्तलेख हमारे मित्र श्री प० राम अनन्तकृष्ण शास्त्री ने हमें दिया था। वह अब दयानन्द कालेज के पुस्तकालय म सुरक्षित है।

गोत्रप्रवरमञ्जरी नामक ग्रन्थ में पुरुषोत्तम पण्डित लौगाक्षि प्रवर-सूत्र के अनेक लम्बे पाठ उद्धृत करता है। वह लौगाक्षिसूत्र कात्यायन-प्रवर-सूत्र से बहुत मिलता जुलता है। वाजसनेयों के साथ भी कई कठों का सम्बन्ध बताया जाता है। वह सम्बन्ध कैसा था, यह अन्वेषणीय है।

विष्णु स्मृति भी कठशाखीय लोगों का ग्रन्थ है। वाचस्पति अपने श्राद्धकल्प या पितृभक्तितरंगिणी में लिखता है—

यत्त्वग्निं परिस्तीर्य पौष्णं श्रपयित्वा पूषा गा इति विष्णुस्मृतावुक्तं तत्कठशाखिपरं तस्य तत्सूत्रकारत्वात्।[1]

अर्थात्—विष्णुस्मृति कठशाखा सम्बन्धी है।

१०—कालाप शाखा

वैशम्पायन का तीसरा उत्तरदेशीय शिष्य कलापी था। इसी का उल्लेख अष्टाध्यायी ४।३।१०४, १०८ में मिलता है। महाभारत सभापर्व ४।२४ के अनुसार युधिष्ठिर के सभा-प्रवेश- समय एक कालाप भी वहां उपस्थित था। कलापी की संहिता कालाप कहाती है, और उसके शिष्य भी कालाप कहाते हैं।

कलापग्राम

नन्दलाल दे के भौगोलिक कोशानुसार कलाप ग्राम बदरिकाश्रम के समीप ही था। सम्भव है कि कलापी का वास स्थान होने से इस का नाम कलापग्राम हो गया हो। वायुपुराण ४१।४३ में इस की स्थिति का वर्णन है।

कलापी के चार शिष्य

अष्टाध्यायी ४।६।१०४ पर काशिका-वृत्ति में किसी प्राचीन ग्रन्थ का निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया गया है—

---

१ काणे के धर्मशास्त्रेतिहास में उद्धृत पृ० VI।

हरिद्रुरेषां प्रथमस्ततश्छगलितुम्बुरू ।
उलपेन चतुर्थेन कालापकमिहोच्यते ॥

अर्थात्—चार कालाप हैं । पहला हरिद्रु, दूसरा छगली, तीसरा तुम्बुरू और चौथा उलप ।

मैत्रायण और कालापी

चरणव्यूहों के एक पाठानुसार मानव, वाराह, दुन्दुभ, छागलेय हारिद्रवीय और श्यामायनीय मैत्रायणीयों के छः भेद हैं । दूसरे पाठानुसार मानव, दुन्दुभ, ऐकेय, वाराह, हारिद्रवीय, श्याम और श्यामायनीय सात भेद हैं । इन में से हरिद्रु नाम दोनों पाठों में समान है । प्रथम पाठ में छगली भी एक नाम है । हरिद्रु और छगली कलापि-शिष्य हैं । निरुक्त १०।५ पर भाष्य करते हुए आचार्य दुर्ग लिखता है—

हारिद्रवो नाम मैत्रायणीयानां शाखाभेदः ।

इस से कई लोग अनुमान करते हैं कि मैत्रायण और कलापी कदाचित् समान व्यक्ति हों ।

व्याकरण महाभाष्य में लिखा है कि कठ और कालाप संहिताएं ग्राम ग्राम में पढ़ी जाती हैं । वस्तुतः ये दोनों संहिताएं बहुत समान होंगी । मुद्रित काठक और मैत्रायणीय संहिताएं बहुत मिलती जुलती हैं । आचार्य विश्वरूप याज्ञवल्क्यस्मृति १।७ पर अपनी बालक्रीडा टीका में लिखता है—

न हि मैत्रायणीशाखा काठकस्यात्यन्तविलक्षणा ।

अर्थात्—मैत्रायणी शाखा काठक से बहुत भिन्न नहीं है ।

आचार्य विश्वरूप ने यह पंक्ति सम्भवतः महाभाष्य के निम्न वचन के आधार पर लिखी होगी—

अनुवदते कठः कलापस्य ।

चान्द्रव्या० १।४।६४ में 'कलापस्य' के स्थान पर 'कालापस्य' पाठ है, वह चिन्त्य है ।

इन बातों से एक अनुमान हो सकता है कि मैत्रायणी और कालाप एक ही संहिता के दो नाम हैं । इस का उपोद्बलक दिव्यावदान में निम्नवचन उपलब्ध होता है—

किं चरणः । आह—कलापमैत्रायणीय. । पृ० ६३७ ।

दूसरा अनुमान यह भी हो सकता है कि मैत्रायणी और कालाप दो संहिताएं थीं, और परस्पर बहुत मिलती थीं।

यदि मैत्रायणी और कालाप दो भिन्न २ संहिताएं थीं, तो सम्प्रति कालाप संहिता और ब्राह्मण का हमें ज्ञान नहीं है, अस्तु। हरिद्रु आदि जो चार कालापक अभी कहे गए हैं, उन का वर्णन आगे किया जाता है।

११—हारिद्रवीय शाखा

हरिद्रु के कुल, जन्म, स्थान आदि के विषय में हम कुछ नहीं जान सके। इस शाखा का ब्राह्मणग्रन्थ तो अवश्य विद्यमान था। सायणकृत ऋग्वेदभाष्य ५।४०।८ और निरुक्त १०।५ में वह उद्धृत है। हारिद्रवीय गृह्य का महापाठ कौषीतकि गृह्यसूत्र १।२०।६ के भवत्रात विवरण में उद्धृत है।

वायुपुराण ६१।६६ तथा ब्रह्माण्डपुराण पूर्व भा० ३५।७५ में अध्वर्यु-छन्द-संख्या गिनते समय लिखा है—

तथा हारिद्रवीयाणां खिलान्युपखिलानि तु।

अर्थात्—हारिद्रविक शाखा वालों के खिल और उपखिल भी हैं।

प्रतीत होता है कि हारिद्रविकों की पूर्ण गणना के श्लोक इन दोनों पुराणों में से लुप्त हो गए। कई ग्रन्थों में हारिद्रविकों के पांच अवान्तर भेद कहे गए हैं। यथा—**हारिद्रव, आसुरि, गार्ग्य, शार्कराक्ष और अग्रावसीय** इन में से हारिद्रव तो वर्णन किए गये हैं, शेष चार कदाचित् खिल और उपखिल ही हों।

१२—छागलेय शाखा

छगली ऋषि के शिष्य छागलेय कहाते हैं। अष्टाध्यायी ४।३।१०९ के अनुसार उन्हें छागलेयी भी कहते हैं। शाकटायन व्याकरण लघुवृत्ति पृष्ठ २८४ के अनुसार—

छागल आत्रेय। छागलिरन्य। था। यह विचारणीय है।

अब चरणव्यूहों में चरकों के जो बारह भेद कहे गए हैं, वे आगे लिखे जाते हैं। इन में से चरका और कठा का वर्णन पहले हो चुका है, अतः शेष दस भेद ही लिखेंगे।

१५—आह्वरक शाखा

आह्वरकों के संहिता और ब्राह्मण दोनों ही विद्यमान थे। ब्राह्मण सम्बन्धी उल्लेख जहां जहां मिलता है, वह यथास्थान लिखा जायगा। आह्वरक

शाखा का एक मन्त्र यादवप्रकाश पिङ्गलसूत्र ३।१५ की अपनी टीका में उद्धृत करता है। पृ० २४६ पर सख्या ५ के अन्दर वह मन्त्र लिखा जा चुका है।

आह्वरकों का उल्लेख

१—निरुक्त की दुर्ग वृत्ति (३।२१) में लिखा है—

उक्तं चाह्वरकाणाम्—ब्राह्मणस्पत्याभिरग्निमुपतिष्ठेत।

२—धर्मकीर्ति-प्रणीत प्रमाणवार्तिक की कर्णिक गोमी कृत टीका पृष्ठ ५६६ पर लिखा है—

इदानीमपि कानिचिद् आह्वरकप्रभृतीनि शाखान्तराणि विरलाध्येतृकाणि।

३—सरस्वती कण्ठाभरण १।४।१८६ पर लिखा है—**अपहर्तार आह्वरका श्राद्धे सिद्धमन्नम्।** यही उदाहरण कुछ भेद से काशिका वृत्ति ३।२।१३५ में है।

१६—प्राच्यकठ शाखा

इस शाखा का अब नाममात्र ही शेष रह गया है। किसी प्राच्य देश में रहने वाला उत्तरीयकठ का कोई शिष्य ही इस शाखा का प्रवचन-कर्ता होगा। अष्टाध्यायी ४।३।१०४ पर व्याकरण महाभाष्य में एक वार्तिक पढ़ा गया है। उस पर पतञ्जलि लिखता है कि **कठान्तेवासी खाडायन** था। इस खाडायन का प्राच्य आदि कठों में से किस से सम्बन्ध था, यह जानना चाहिए।

१७—कपिष्ठल कठ शाखा

जस प्रकार प्राच्यकठ देशविशेष की दृष्टि से प्राच्य कहाते हैं, क्या वैसे ही कपिष्ठल कठ भी देशविशेष की दृष्टि से कपिष्ठल कहाते हैं, यह विचारणीय है। पाणिनीय गण २।४।६६ और पाणिनीय सूत्र ८।३।६१ मे गोत्रवाची कपिष्ठल शब्द विद्यमान है। इस शाखा की संहिता आठ अष्टकों और ६४ अध्यायों में विभक्त थी। सम्प्रति प्रथमाष्टक, चतुर्थाष्टक, पञ्चमाष्टक और षष्ठाष्टक ही मिलते हैं। इन में से भी कई स्थानों का पाठ त्रुटित हो गया है। यह हस्तलेख काशी में सुरक्षित है। सन् १६३२ के अन्त में यह संहिता लाहौर में मुद्रित हो गई है। इस का मुद्रण मेरी प्रति से

दूसरा अनुमान यह भी हो सकता है कि मैत्रायणी और कालाप दो संहिताएं थीं, और परस्पर बहुत मिलती थीं।

यदि मैत्रायणी और कालाप दो भिन्न २ संहिताएं थीं, तो सम्प्रति कालाप संहिता और ब्राह्मण का हमें ज्ञान नहीं है, अस्तु। हरिद्रु आदि जो चार कालापक अभी कहे गए हैं, उन का वर्णन आगे किया जाता है।

११.—हारिद्रवीय शाखा

हरिद्रु के कुल, जन्म, स्थान आदि के विषय में हम कुछ नहीं जान सके। इस शाखा का ब्राह्मणग्रन्थ तो अवश्य विद्यमान था। सायणकृत ऋग्वेदभाष्य ५।४०।८ और निरुक्त १०।५ में वह उद्धृत है। हारिद्रवीय ग्रन्थ का महापाठ कौषीतकि गृह्यसूत्र १।२०।६ के भवत्रात विवरण में उद्धृत है।

वायुपुराण ६१।६६ तथा ब्रह्माण्डपुराण पूर्व भा० ३५।७५ में अथर्व-छन्द-संख्या गिनते समय लिखा है—

तथा हारिद्रवीयाणां खिलान्युपखिलानि तु।

अर्थात्—हारिद्रविक शाखा वालों के खिल और उपखिल भी हैं।

प्रतीत होता है कि हारिद्रविकों की पूर्ण गणना के श्लोक इन दोनों पुराणों में से लुप्त हो गए। कई ग्रन्थों में हारिद्रविकों के पांच अवान्तर भेद कहे गए हैं। यथा—**हारिद्रव, आसुरि, गार्ग्य, शार्कराक्ष और अग्रावसीय** इन में से हारिद्रव तो वर्णन किए गये हैं, शेष चार कदाचित् खिल और उपखिल ही हों।

१२—छागलेय शाखा

छगली ऋषि के शिष्य छागलेय कहाते हैं। अष्टाध्यायी ४।३।१०९ के अनुसार उन्हें छागलेयी भी कहते हैं। शाकटायन व्याकरण लघुवृत्ति पृष्ठ २८४ के अनुसारः—

छागल आत्रेय.। छागलिरन्य । था। यह विचारणीय है।

अब चरणव्यूहों में चरकों के जो बारह भेद कहे गए हैं, वे आगे लिखे जाते हैं। इन में से चरकों और कठों का वर्णन पहले हो चुका है, अत. शेष दस भेद ही लिखेंगे।

१५—आह्वरक शाखा

आह्वरकों के संहिता और ब्राह्मण दोनों ही विद्यमान थे। ब्राह्मण सम्बन्धी उल्लेख जहां जहां मिलता है, वह यथास्थान लिखा जायगा। आह्वरक

शाखा का एक मन्त्र यादवप्रकाश पिङ्गलसूत्र ३।१५ की अपनी टीका में उद्धृत करता है। पृ० २४६ पर संख्या ५ के अन्दर वह मन्त्र लिखा जा चुका है।

आह्वरकों का उल्लेख

१—निरुक्त की दुर्ग वृत्ति (३।२१) में लिखा है—

उक्तं चाह्वरकाणाम्—ब्राह्मणस्पत्याभिरग्निमुपतिष्ठेत।

२—धर्मकीर्ति-प्रणीत प्रमाणवार्तिक की कर्णक गोमी कृत टीका पृष्ठ ५६६ पर लिखा है—

इदानीमपि कानिचिद् आह्वरकप्रभृतीनि शाखान्तराणि विरलाध्येतृकाणि।

३—सरस्वती कण्ठाभरण १।४।१८६ पर लिखा है—**अपहर्तार आह्वरका श्राद्धे सिद्धमन्नम्**। यही उदाहरण कुछ भेद से काशिका वृत्ति ३।२।१३५ में है।

१६—प्राच्यकठ शाखा

इस शाखा का अब नाममात्र ही शेष रह गया है। किसी प्राच्य देश में रहने वाला उत्तरीयकठ का कोई शिष्य ही इस शाखा का प्रवचन-कर्ता होगा। अष्टाध्यायी ४।३।१०४ पर व्याकरण महाभाष्य में एक वार्तिक पढ़ा गया है। उस पर पतञ्जलि लिखता है कि **कठान्तेवासी खाडायन** था। इस खाडायन का प्राच्य आदि कठों में से किस से सम्बन्ध था, यह जानना चाहिए।

१७—कपिष्ठल कठ शाखा

जस प्रकार प्राच्यकठ देशविशेष की दृष्टि से प्राच्य कहाते हैं, क्या वैसे ही कपिष्ठल कठ भी देशविशेष की दृष्टि से कपिष्ठल कहाते हैं, यह विचारणीय है। पाणिनीय गण २।४।६६ और पाणिनीय सूत्र ८।३।६१ में गोत्रवाची कपिष्ठल शब्द विद्यमान है। इस शाखा की संहिता आठ अष्टकों और ६४ अध्यायों में विभक्त थी। सम्प्रति प्रथमाष्टक, चतुर्थाष्टक, पञ्चमाष्टक और षष्ठाष्टक ही मिलते हैं। इन में से भी कई स्थानों का पाठ त्रुटित हो गया है। यह हस्तलेख काशी में सुरक्षित है। सन् १६३२ के अन्त में यह संहिता लाहौर में मुद्रित हो गई है। इस का मुद्रण मेरी प्रति से

हुआ है। यह प्रति भी बनारस के ही हस्तलेख की नकल है और अब दयानन्द कालेज के पुस्तकालय में है।

कपिष्ठल कठ गृह्य का एक हस्तलेख मैं ने ७ अगस्त सन १६२८ को सरस्वती भवन काशी के पुस्तकालय में देखा था। उस का बहुत सा पाठ त्रुटित है।

कपिष्ठल कठों का कोई अन्य ग्रन्थ हमारे देखने में नहीं आया।

१८—चारायणी शाखा

चर ऋषि का गोत्रापत्य चारायण है। चर का नाम पाणिनीय गण ४।१।९९ में स्मरण किया गया है।

चरण—चारायणीयों का स्वतन्त्र प्रतिशाख्य होने से यह एक चरण है। पाकयज्ञविवृत्ति में ऐसा लिखा भी है। लौगाक्षिगृह्य काश्मीर संस्करण भूमिका पृष्ठ २।

देवपाल के गृह्यभाष्य में कहीं चारायणीय गृह्य और कहीं काठकगृह्य नाम का प्रयोग मिलता है। संभव है कि स्वल्प भेद वाले दो गृह्यों को तत् तत् शाखा वाले एक ही भाष्य के साथ पढ़ते हों, और उन्हीं के कारण हस्तलेखों में ये दो नाम आ गये हों। चारायणीय एक शाखाविशेष थी, और उस का एक स्वतन्त्र गृह्य होना उचित ही है।

चारायणगृह्य परिशिष्ट हेमाद्रि कृत कालनिर्णय पृष्ठ ३७० पर उद्धृत है।

चारायणीयों का एक मन्त्रार्षाध्याय अब भी मिलता है। उस का एक हस्तलेख दयानन्द कालेज लाहौर में और दूसरा बर्लिन के राजकीय पुस्तकालय में है। अध्यापक हैल्मथ फान ग्लैसनप ने बर्लिन के हस्तलेख के पाठान्तर, लाहौर की मुद्रित प्रति पर करा कर मुझे भेजे थे। ये पाठान्तर उन के शिष्य ने दिए हैं। शोक से कहना पड़ता है कि यह ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हो सका[1]।

इन मन्त्रार्षाध्याय के देखने से निम्नलिखित बातों का पता लगता है—

१—चारायणीय संहिता का विभाग अनुवाकों और स्थानकों में था। इस ग्रन्थ के आरम्भ में ही लिखा है—**गोषदसि इत्यनुवाकद्वय सवितु-**

---

१ हमने सन् १९३४ में दयानन्द कालेज का स्थान छोड़ दिया। उस समय हम इस ग्रन्थ को छपवा चुके थे। तत्पश्चात् प० विश्वबन्धु जी ने उसी अवस्था में प्रकाशित कर दिया, पर हमारा नाम उस पर नहीं छपवाया।

श्यावाश्वस्य । तथा ४० खण्ड के साथ **स्था** लिखा हैं, यदि काठकसंहिता को देख कर यह नहीं लिखा गया, तो अवश्य ही चारायणीय संहिता भी स्थानकों में विभक्त थी ।

२—चारायणीय संहिता में याज्यानुवाक्या ऋचाएं चालीसवें स्थानक के अन्त में एकत्र पढ़ी गई थीं । काठक संहिता में ये यत्रतत्र बहुत स्थानों में पाई जाती हैं ।

३—चारायणीय संहिता में कहीं तो काठक संहिता का क्रम था और कहीं मैत्रायणीय संहिता का ।

४—चारायणी सं० के कई पाठ काठक में नहीं हैं और कई मैत्रायणी में नहीं हैं ।

५—चारायणीय संहिता के अन्त में अश्वमेधादि का पाठ था । मन्त्रार्षाध्याय के अन्त में लिखा है—

प्राजापति मुखात् पूर्वमार्षं छन्दश्च दैवतम् ।
योग. प्राप्तोत्रिमुनिना बोधो लौगाक्षिणा तत ॥

अर्थात्—ऋषि, छन्द और देवता अत्रि मुनि ने प्रजापति से प्राप्त किए और तदनन्तर लौगाक्षि को उन का ज्ञान हुआ ।

प्रातिशाख्य—काठक गृह्य ५।१ के भाष्य में देवपाल किसी चारायणीय सूत्र का एक प्रमाण देता है । वह प्रतिशाख्य-पाठ प्रतीत होता है ।

एक **चारायण** आचार्य कामसूत्र १।१।१२ में स्मरण किया गया है । वह कामसूत्र-रचयिता वात्स्यायन से पूर्व और दत्तक के पश्चात् हुआ होगा । **दीर्घचारायण** नाम के एक ब्राह्मण की वार्ता कौटल्य अर्थशास्त्र प्रकरण ९३ में मिलती है । प० गणपति की टीका के अनुसार यह विद्वान् कौटल्य से पुरातन किसी मगध राज्य का आचार्य था ।[1]

एक चारायणीय शिक्षा भी कश्मीर मे प्राप्त हुई थी । उस का उल्लेख इण्डियन एण्टीक्वेरी जुलाई सन् १८७६ में अध्यापक कीलहार्न ने किया है ।

व्याकरण महाभाष्य १।१।७३ में **कम्बलचारायणीया** प्रयोग मिलता है ।

१९—वारायणीय शाखा

वारायणीय नाम यद्यपि दो प्रकार के चरणव्यूहों में पाया जाता है,

---

१ एक दीर्घ कारायण महाराज प्रसेनजित् कोसल का मन्त्री था । मज्झिम निकाय २।४।९ पृष्ठ ३६४ ।

तथापि इसके अस्तित्व में हमें सन्देह है। कदाचित् चारायणीय से ही यह नाम बन गया हो।

२०—वार्तन्तवीय शाखा

शाखाकार वरतन्तु का उल्लेख पाणिनीय सूत्र ४।३।१०२ में मिलता है, कालिदास अपने रघुवंश ५।१ में एक कौत्स के गुरु वरतन्तु का नाम लिखता है। इन के किसी ग्रन्थादि का हमें अभी तक पता नहीं लग सका।

वीरमित्र श्राद्धप्रकाश पृष्ठ १२६ पर निम्नलिखित वचन द्रष्टव्य है—

प्राणायामपूर्वकं स्नात्वा कृत्वा गायत्रीं सप्रणवां सव्याहृतिकां पठेत्—इति वरतन्तुस्मरणात्।

सम्भवतः यह वरतन्तु के धर्मसूत्र का पाठ है।

२१—श्वेताश्वतर शाखा

श्वेताश्वतर के ब्राह्मण का एक प्रमाण बालक्रीड़ा टीका भाग १ पृ० ८ पर उद्धृत है। श्वेताश्वतरों की मन्त्रोपनिषद् प्रसिद्ध ही है। इस मन्त्रोपनिषद् के अतिरिक्त इस शाखा वालों की एक दूसरी मन्त्रोपनिषद् भी थी। उस का एक मन्त्र **अस्यवामीय** सूक्त भाष्यकार आत्मानन्द १६वें मन्त्र के भाष्य में उद्धृत करता है। वह मन्त्र उपलब्ध उपनिषद् में नहीं मिलता।

२२, २३—औपमन्यव और पाताण्डनीय शाखाएं

औपमन्यव एक निरुक्तकार था। उस का उल्लेख यथास्थान होगा। औपमन्यव शाखा के किसी ग्रन्थ का भी हमें ज्ञान नहीं है। ब्रह्माण्ड पुराण मध्यम भाग ८।६७, ६८ में कुशिक नामक इन्द्रप्रमति के कुल का वर्णन है। वहां लिखा है कि वसु का पुत्र उपमन्यु और उस के पुत्र औपमन्यव थे। अगली पाताण्डनीय शाखा का भी कुछ पता नहीं लग सका।

औपमन्यव श्रौत सूत्र का उल्लेख आगे करेंगे।

२४—मैत्रायणीय शाखा

इस शाखा का प्रवचन कर्ता मैत्रायणी ऋषि होगा। उत्तर पाञ्चाल कुलों में दिवोदास नाम का एक राजा था। उस का पुत्र ब्रह्मर्षि महाराज मित्रयु और उस का पुत्र मैत्रायण था। हरिवंश ३२।७६ में इसी मैत्रायण के वंशज मैत्रेय कहे गये हैं। ये मैत्रेय भार्गव पक्ष में मिश्रित हो गये थे। मैत्रायणी ऋषि

इन से भिन्न कुल का प्रतीत होता है। इसी मैत्रायणी आचार्य के शिष्य प्रशिष्य मैत्रायणीय कहाये।

संहिता विभाग—मुद्रित मैत्रायणीय संहिता में काण्ड और अनुवाकों में विभक्त है। हेमाद्रि श्राद्धकल्प परिभाषा प्रकरण पृष्ठ १०७६ पर अनुवाक विभाग का उल्लेख करता है।

मैत्रायणीय संहिता मुद्रित हो चुकी है। शार्मण्यदेशीय अध्यापक श्रोडर को इस के सम्पादन का श्रेय है। इस शाखा का ब्राह्मण था वा नहीं, इस का विवेचन यथास्थान करेंगे।

मैत्रायणीय और तत्सम्बन्धी आचार्यों का ज्ञान मानवगृह्यपरिशिष्ट के तर्पण प्रकरण से सुविदित होता है, अतः वह आगे उद्धृत किया जाता है—

प्राचीनावीति।

> **सुमन्तुजैमिनिपैलवैशंपायनाः सशिष्याः।**
> **भृगुच्यवनाप्रवानौरवजामदग्नयः सशिष्याः।**
> **आङ्गिरसाम्बरीपयौवनाश्वहरिद्रुछागलिलवय (?)**
> **तुम्बुरु औलपायनाः सशिष्याः।**
> **मानववराहदुंदुभिकपिलबादरायणाः सशिष्याः।**
> **मनुपराशरयाज्ञवल्क्यगौतमाः सशिष्याः।**
> **मैत्रायण्यासुरीगार्गिशाकर ऋषयः सशिष्याः।**
> **आपस्तम्बकात्यायनहारीतनारदवैजपायनाः सशिष्याः।**
> **शालंकायनांतर्कमन्तकायिना (?) सशिष्याः।**[1]

इस दूसरे अर्थात् अन्तिम खण्ड के पाठ में तीन नामों के अतिरिक्त शेष सब नाम स्पष्ट हैं। यहां हरिद्रु आदि एक गण में, मानव, वराह आदि दूसरे गण में और मैत्रायणी, आसुरी आदि एक पृथक् गण में पढ़े गए हैं।

एक मैत्रायणी वाराहगृह्य ६।१ में स्मरण किया गया है।

माध्यन्दिन, काण्व, काठक और चारायणीय संहिताओं के समान मैत्रायणी संहिता में भी चालीस अध्याय हैं।

सम्प्रति मैत्रायणी संहिता खानदेश, नासिकक्षेत्र और मोर्वी आदि देशों में पढ़ी जाती है। इस शाखा के कल्प अनेक हैं। उन में से कई एक

१—मेरा हस्तलेख, मानवगृह्यपरिशिष्ट पञ्चमहायज्ञविधानम् पत्र २ ख।

तथापि इसके अस्तित्व में हमें सन्देह है। कदाचित् चारायणीय में ही यह नाम बन गया हो।

२०—वारतन्तवीय शाखा

शाखाकार वरतन्तु का उल्लेख पाणिनीय सूत्र ४।३।१०२ में मिलता है, कालिदास अपने रघुवंश ५।१ में एक कौत्स के गुरु वरतन्तु का नाम लिखता है। इन के किसी ग्रन्थादि का हमें अभी तक पता नहीं लग सका।

वीरमित्र श्राद्धप्रकाश पृष्ठ १२६ पर निम्नलिखित वचन द्रष्टव्य है—

प्राणायामपूर्वक सत्यान्न कृत्वा गायत्रीं सप्रणवां सव्याहृतिकां पठेत्—इति वरतन्तुस्मरणात्।

सम्भवतः यह वरतन्तु के धर्मसूत्र का पाठ है।

२१—श्वेताश्वतर शाखा

श्वेताश्वतर के ब्राह्मण का एक प्रमाण बालक्रीडा टीका भाग १ पृ० ८ पर उद्धृत है। *श्वेताश्वतरों की मन्त्रोपनिषद् प्रसिद्ध ही है।* इस मन्त्रोपनिषद् के अतिरिक्त इस शाखा वालों की एक दूसरी मन्त्रोपनिषद् भी थी। उस का एक मन्त्र **अस्यवामीय** सूक्त भाष्यकार आत्मानन्द १६वें मन्त्र के भाष्य में उद्धृत करता है। वह मन्त्र उपलब्ध उपनिषद् में नहीं मिलता।

२२, २३—औपमन्यव और पाताण्डनीय शाखाएं

औपमन्यव एक निरुक्तकार था। उस का उल्लेख यथास्थान होगा। औपमन्यव शाखा के किसी ग्रन्थ का भी हमें ज्ञान नहीं है। ब्रह्माण्ड पुराण मध्यम भाग ८।९७, ९८ में कुशिक नामक इन्द्रप्रमति के कुल का वर्णन है। वहां लिखा है कि वसु का पुत्र उपमन्यु और उस के पुत्र औपमन्यव थे। अगली पाताण्डनीय शाखा का भी कुछ पता नहीं लग सका।

औपमन्यव श्रौत सूत्र का उल्लेख आगे करेंगे।

२४—मैत्रायणीय शाखा

इस शाखा का प्रवचन कर्ता मैत्रायणी ऋषि होगा। उत्तर पाञ्चाल कुलों में दिवोदास नाम का एक राजा था। उस का पुत्र ब्रह्मर्षि महाराज मित्रयु और उस का पुत्र मैत्रायण था। हरिवंश ३२।७६ में इसी मैत्रायण के वंशज मैत्रेय कहे गये हैं। ये मैत्रेय भार्गव पक्ष में मिश्रित हो गये थे। मैत्रायणी ऋषि

इन से भिन्न कुल का प्रतीत होता है। इसी मैत्रायणी आचार्य के शिष्य प्रशिष्य मैत्रायणीय कहाये।

संहिता विभाग—मुद्रित मैत्रायणीय संहिता में काण्ड और अनुवाकों में विभक्त है। हेमाद्रि श्राद्धकल्प परिभाषा प्रकरण पृष्ठ १०७६ पर अनुवाक विभाग का उल्लेख करता है।

मैत्रायणीय संहिता मुद्रित हो चुकी है। शार्मण्यदेशीय अध्यापक श्रोडर को इस के सम्पादन का श्रेय है। इस शाखा का ब्राह्मण था वा नहीं, इस का विवेचन यथास्थान करेंगे।

मैत्रायणीय और तत्सम्बन्धी आचार्यों का ज्ञान मानवगृह्यपरिशिष्ट के तर्पण प्रकरण से सुविदित होता है, अत. वह आगे उद्धृत किया जाता है—

प्राचीनावीति।

सुमन्तुजैमिनिपैलवैशंपायनाः सशिष्याः।
भृगुच्यवनाप्रवानौरवजामदग्नयः सशिष्याः।
आङ्गिरसाम्बरीषयौवनाश्वहरिद्रुछागलिर्लेवय (?)
तुम्बुरु औलपायना सशिष्याः।
मानववराहदुदुभिकपिलबादरायणाः सशिष्याः।
मनुपराशरयाज्ञवल्क्यगौतमा. सशिष्याः।
मैत्रायण्यासुरीगार्गिशाकर ऋषयः सशिष्या.।
आपस्तम्बकात्यायनहारीतनारदवैजपायना. सशिष्याः।
शालंकायनांतर्कमन्तकायिना (?) सशिष्या।[1]

इस दूसरे अर्थात् अन्तिम खण्ड के पाठ में तीन नामों के अतिरिक्त शेष सब नाम स्पष्ट हैं। यहां हरिद्रु आदि एक गण में, मानव, वराह आदि दूसरे गण में और मैत्रायणी, आसुरी आदि एक पृथक् गण में पढे गए हैं।

एक मैत्रायणी वाराहगृह्य ६।१ में स्मरण किया गया है।

माध्यन्दिन, काण्व, काठक और चारायणीय संहिताओं के समान मैत्रायणी संहिता में भी चालीस अध्याय हैं।

सम्प्रति मैत्रायणी संहिता खानदेश, नासिकक्षेत्र और मोर्वी आदि देशों में पढी जाती है। इस शाखा के कल्प अनेक हैं। उन में से कई एक

१—मेरा हस्तलेख, मानवगृह्यपरिशिष्ट पञ्चमहायज्ञविधानम् पत्र २ ख।

गृह्य के हस्तलेखों के अन्त में मैत्रायणीगृह्य और कई एक के अन्त में मानवगृह्य लिखा मिलता है। हमारा अनुमान है कि इन दोनों सूत्रों की अत्यन्त समानता के कारण, आधुनिक पाठक इन्हें एक ही गृह्य मानने लग पड़े हैं। नासिक में हमने यशेश्वर दाजी के घर में मैत्रायणी संहिता का एक कोश देखा था। उस के अन्त में लिखा था—

इति मैत्रायणी-मानव वाराहसंहिता समाप्ता ॥

इस से प्रतीत होता है कि इन तीनों शाखाओं के पृथक् पृथक् गृह्य थे। यदि मैत्रायणी और मानवगृह्य एक ही होते, तो मैत्रायणीश्रौत और मानवश्रौत भी एक ही होते। बात वस्तुतः ऐसी नहीं है। हेमाद्रि आदि में उद्धृत मैत्रायणीश्रौत वा उस के परिशिष्टों के पाठ वाराहश्रौत और उस के परिशिष्टों के पाठ से अधिक मिलते हैं। मैत्रायणी, मानव और वाराह की यह समस्या इन ग्रन्थों के भावी सम्पादकों को सुलझानी चाहिए।

स्मरण रखना चाहिये कि इन तीनों शाखाओं के शुल्वसूत्रों में शाखा भेदक पर्याप्त विभिन्नता है। महाशय विभूतिभूषणदत्त के अनुसार मैत्रायणी में चार, मानव में सात और वाराह में तीन ही खण्ड हैं। परन्तु मैत्रायणी और मानव के दत्तनिर्दिष्ट खण्ड विभाग में हमें अभी सन्देह है।

अब मैत्रायणीया के अवान्तर भेदों का कथन किया जाता है।

२५—मानव शाखा

यह सौत्र शाखा ही है। इस के श्रौत का अधिकांश भाग मुद्रित हो चुका है। गृह्य भी कई स्थानों पर छप चुका है। मानवों के श्रौत और गृह्य के अनेक परिशिष्ट हैं। उन के हस्तलेख इस शाखा के पढ़ने वाले कई गृहस्थों के पास मिलते हैं। प्रसिद्ध पुस्तकालयों में भी यत्र-तत्र मानवों के कुछ ग्रन्थ पाए जाते हैं। मेरे पास भी कुछ एक ग्रन्थ हैं। मानव परिशिष्टों का संस्करण अत्यन्त उपादेय होगा।

२६—वाराह शाखा

वराह ऋषि महाराज युधिष्ठिर के सभा-प्रवेश समय उन के राज दरबार में उपस्थित था। इस का श्रौत श्रीयुत मेहरचन्द लक्ष्मणदास संस्कृत पुस्तक विक्रेता लाहौर द्वारा मुद्रित हो गया है। उस का पाठ कई स्थलों पर

---

1 The science of the sulba Calcutta, 1932, p. 6

त्रुटित है। यत्न करने पर इस के पूर्ण हस्तलेख नन्दुर्बार[1] आदि से अब भी मिल सकेंगे। वाराह श्रौत के परिशिष्ट भी मुद्रित होने योग्य हैं। इन का विस्तृत वर्णन कल्पसूत्रों के भाग में करेंगे। वाराह गृह्य भी पञ्जाब यूनिवर्सिटि की ओर से मुद्रित हो चुका है। इस संस्करण के लिए जो दो हस्तलेख काम में लाए गये हैं, वे नासिक क्षेत्र वासी श्री रामचन्द्र पौराणिक ने हमें दिये थे। उस ब्राह्मण का घर गोदावरी-तट पर बड़े पुल के पास है। कभी वह नदी में स्नान कर रहा था, जब एक वृद्धा ने पुस्तकों का एक बण्डल नदी में डाल दिया। ब्राह्मण ने उसे निकाल लिया और अन्य हस्तलेखों के साथ वाराहगृह्य के भी दो हस्तलेख सम्भाल लिए। उन्हीं हस्तलेखों के आधार पर यह संस्करण मुद्रित हुआ है। मैं यहां पर उन का धन्यवाद करना अपना कर्तव्य समझता हूं।

यहां पर यह और लिखना अरुचिकर न होगा कि इसी ब्राह्मण के ज्येष्ठ भ्राता से मैंने मैत्रायणी संहिता का सस्वर पाठ सुना है। और संहिताओं के पाठ से इसमें कुछ भिन्नता है। यह संहितापाठी ब्राह्मण इस समय बैलगाड़ी चला कर अपनी आजीविका करता है। काल की गति का क्या कहना!

रत्नशास्त्र—व्यास और अगस्त्य के समान वराह मुनि किसी रत्न-शास्त्र का रचयिता भी था।[2]

२६—दुन्दुभ शाखा

इस शाखा का तो अब नाममात्र ही अवशिष्ट है।

२७—ऐकेय शाखा

कई चरणव्यूहों में मानवों का एक भेद ऐकेयों का कहा गया है। एक ऐकेय आचार्य का मत अनुग्राहिक सूत्र[3] खण्ड १६ में दिया गया है।

२८—तैत्तिरीय शाखा

वैशपायन के शिष्यों अथवा प्रशिष्यों में से एक तित्तिरि था। महाभारत के प्रमाण से पृ० २८१ पर यह लिखा जा चुका है कि एक तित्तिरि

---

१ यह स्थान खानदेश में है।

२. देखो, मद्रास सरकार द्वारा प्रकाशित, सन् १९५१, चण्डेश्वर कृत रत्नदीपिका, पृ० १

३ मानवसूत्र परिशिष्ट, मेरा हस्तलेख, पत्र ६ ख।

वैशंपायन का ज्येष्ठ भ्राता था। ४।३।१०२ सूत्र में पाणिनि का कथन है कि तित्तिरि से छन्द पढ़ने वाले अथवा तित्तिरि का प्रवचन पढ़ने वाले तैत्तिरीय कहाते हैं। युधिष्ठिर की सभा को प्रवेश-समय तित्तिरि भी अलङ्कृत कर रहा था। यही तित्तिरि वेदवेदाङ्ग पारग और शाखा प्रवचन-कर्ता था। यादवों का जो सात्वत् विभाग था, उस में कपोतरोम का पुत्र तैत्तिरि, तैत्तिरि का पुत्र पुनर्वसु, और पुनर्वसु का पुत्र अभिजित् कहा गया है। हरिवंश अध्याय ३७ श्लोक १७–१६ में यह वार्ता कही गई है।[3] आयुर्वेद की चरक संहिता के आरम्भ में पुनर्वसु (श्लोक ३०) और अभिजित् (श्लो० १०) के नाम मिलते हैं। यह चरक संहिता है भी वैशंपायन अथवा उस के शिष्यों में से किसी की प्रति संस्कृत की हुई। आधुनिक पाश्चात्य अध्यापकों का विचार, कि यह आयुर्वेद-ग्रन्थ कनिष्क के काल में बनाया गया, सर्वथा भ्रान्त है। कनिष्क के काल में चरक शाखा का पढ़ने वाला कोई चरक विद्वान् होगा, परन्तु आयुर्वेदीय चरक संहिता बहुत पहले बन चुकी थी। इस पर विस्तृत विचार आगे करेंगे।

तित्तिरि वा तैत्तिरि के सम्बन्ध में अधिक जानने की अभी बड़ी आवश्यकता है।

तित्तिरि-प्रोक्त तैत्तिरीय संहिता में ७ काण्ड हैं। इस विभाग के विषय में प्रपञ्चहृदयकार का लेख देखने योग्य है—

तथा यजुर्वेदे तैत्तिरीयशाखा मन्त्रब्राह्मणमिश्रा। सा द्विविधा संहिताशाखाभेदेन। तत्र संहिता चतुष्पादा सप्तकाण्डा चतुश्चत्वारिंशत्प्रश्ना च। तत्र प्रथमकाण्डेऽष्टौ प्रश्ना। द्वितीयसप्तमौ पञ्च पञ्च। तृतीयचतुर्थौ सप्त सप्त। पञ्चमषष्ठौ षडेकैकौ (?) तस्मादेकादशैकादश प्रश्नाश्चत्वारः पादा।

अर्थात्—संहिता के सात काण्डों के चार पाद हैं। प्रथम काण्ड में आठ प्रश्न दूसरे सातवें में पाच पांच, तीसरे चौथे में सात सात और पांचवें छ में छठे. छ प्रश्न हैं। कुल प्रश्न—८+५+७+७+६×६+५=४४ हैं। इस लिए ग्यारह २ प्रश्नों के चार पाद हैं।

तैत्तिरीय संहिता के सात काण्डों में जो विषय विभाग है, वह

---

३ तुलना करो मत्स्य ४४।६२।६६॥

काण्डानुक्रमणिका में भले प्रकार लिखा गया है । लौगाक्षिस्मृति में इसी विभाग की विस्तृत व्याख्या मिलती है । वहां प्रपाठक और अनुवाकानुसार सारा वर्णन किया गया है। उस वर्णन के कतिपय श्लोक यहां उद्धृत किए जाते हैं—

तानि काण्डानि वेदस्य प्रवदामि च सुस्फुटम् ।
पौरोडाशो याजमानं हौतारो हौत्रमेव च ॥१॥
पितृमेधश्च कथितो ब्राह्मणेन च तत्परम् ।
तथैवानुब्राह्मणेन प्राजापत्यानि चोचिरे ॥२॥
तत्काण्डैर्विशेषज्ञा वसिष्ठाद्या महर्षयः ।
तद्विशेषप्रकाशार्थं सम्यगेतद्विविच्यते ॥३॥
पौरोडाशा इषेत्याद्या अनुवाकास्त्रयोदश ।
तद्ब्राह्मणं तृतीयस्यां प्रत्युष्टं पाठकद्वयम् ॥४॥
एवं चतुश्चत्वारिंश काण्डानां तैत्तिरीयके ।
महाशाखाविशेषस्मिन्[1] कथिता ब्रह्मवादिभिः ॥३८॥[2]

इन श्लोकों से एक बात स्पष्ट है कि वसिष्ठादि महर्षि और ब्रह्मवादी लोग इस काण्डादि विभाग के विशेषज्ञ थे । क्या सम्भव हो सकता है कि उन्हों ने ही ये काण्डादि बनाए हों। तथा तैत्तिरीय एक महाशाखा या चरण है ।

तैत्तिरीय और कठों का सम्बन्ध

तैत्तिरीय और कठों का आरम्भ से ही गहरा सम्बन्ध प्रतीत होता है। काण्डानुक्रमणी में कहा है कि तैतिरीय ब्राह्मण के अन्तिम अध्याय काठक कहाते हैं । तित्तिरि का प्रवचन उन से पहले समाप्त हो जाता है । लौगाक्षिस्मृति का कठों से सम्बन्ध है, परन्तु उस में भी तैत्तिरियों के काण्डविभाग का विस्तृत वर्णन बताता है कि इन दोनों चरणों का आदि से ही सम्बन्धविशेष हो गया था ।

तैत्तिरीयों के दो भेद हैं । अब उन का वर्णन किया जाता है ।

---

१. तुलना करो कौहलीय शिक्षा ४५ ।

२ ये अङ्क हम ने लगाए हैं । स्मृति में लगभग २७० श्लोक के पश्चात् ही हमारा पहिला श्लोक आरम्भ होता है ।

७२—औखेय शाखा

चरणव्यूह में लिखा है—

तत्र तैत्तिरीयका नाम द्विभेदा भवन्ति। औखेया खाण्डिकेयाश्चेति।

अर्थात्—औखेय और खाण्डिकेय नाम के तैत्तिरीयों के दो भेद हैं।

काण्डानुक्रमणी के अनुसार तित्तिरि का शिष्य उख था। इसी उख का प्रवचन औखेय कहाता है। पाणिनीय सूत्र ४।३।१०२ के अनुसार उख के शिष्य औखीय थे। औखीय और औखेयों में गोत्रादि का कोई भेद हमें ज्ञात नहीं है। हमें ये दोनों नाम एक ही लोगों के प्रतीत होते हैं। ऐसा ही नामभेद खाण्डिकीय या खाण्डिकेयों का है।

उख्य संहिता के नियम तैत्तिरीय प्रातिशाख्य १०।२० तथा १६।२३ में उपलब्ध होते हैं।

औखेय और वैखानस

वैखानसश्रौतसूत्र की व्याख्या के आरम्भ में एक श्लोक है—

येन वेदार्थं विज्ञाय लोकानुग्रहकाम्यया।
प्रणीतं सूत्रं औखेयं तस्मै विखनसे नमः॥

अर्थात्—औखेयों का सूत्र विखना ने बनाया।

आनन्दसंहिता के आठवें अध्याय में एक श्लोक है—

औखेयानां गर्भचक्रं न्यासचक्रं वनौकसाम्।
वैखानसान् विनान्येषां तप्तचक्रं प्रकीर्तितम्॥१३॥
औखेयानां गर्भचक्रदीक्षा प्रोक्ता महात्मनाम्॥२८॥[1]

अर्थात्—औखेयों की गर्भचक्र से प्रदीक्षा होती है। माता के गर्भ समय यज्ञ करते हुए विष्णु बलि के अवसर पर एक चक्र का चिह्न चावलों के समूह पर लगाया जाता है। उसे गर्भिणी माता खाती है।

वैखानसों में भी यह क्रिया ऐसे ही की जाती है।

प्रपञ्चहृदय के पूर्वोद्धृत पाठ में उख की शाखा का स्पष्ट वर्णन है। बौधायन गृह्यसूत्र ३।६।६ में ऋषितर्पण के समय उख स्मरण किया गया है। इस शाखा की संहिता वा ब्राह्मण थे या नहीं, और यदि थे तो कैसे थे, इस

---

१ परलोकगत डा० कालेण्ड के ग्रन्थ से उद्धृत, पृ० ११।
On the sacred books of the Vaikhanasas, Amsterdam 1928

विषय में हम कुछ नहीं कह सकते । चरणव्यूहों में वैखानसों का कोई उल्लेख नहीं है।

३०—आत्रेय शाखा

आत्रेयों का उल्लेख काण्डानुक्रमणी और प्रपञ्चहृदय आदि में मिलता है। आत्रेय एक गोत्र है, और इस गोत्र नाम को धारण करने वाले अनेक आचार्य हो चुके हैं। स्कन्द पुराण नागर खण्ड अध्याय ११५ में अनेक गोत्रों की गणना की है। वहां लिखा है—

आत्रेया दश संख्याता शुक्लात्रेयास्तथैव च ॥१६॥
कृष्णात्रेयास्तथा पञ्च ॥२३॥

अर्थात्—दश आत्रेय गोत्र वाले, दश ही शुक्ल आत्रेय गोत्र वाले, तथा पांच कृष्णात्रेय थे।

आयुर्वेद की चरक संहिता जो महाभारत काल में प्रतिसंस्कृत हुई, पुनर्वसु आत्रेय का मूल उपदेश है। हमें इसी पुनर्वसु आत्रेय का सम्बन्ध इस आत्रेयी संहिता से प्रतीत होता है। लगभग सातवीं शताब्दी का जैन आचार्य अकलङ्कदेव अपने राजवार्तिक के पृ० ५१ और २६४ पर अज्ञान-दृष्टि वाले वैदिक लोगों की २७ शाखाएं गिनाता हुआ वसु शाखा का भी स्मरण करता है। बहुत सम्भव है कि इस नाम से भी आत्रेय शाखा कभी प्रसिद्ध रही हो। आत्रेय शाखा वाले ही कृष्ण आत्रेय कहाते होंगे।[1] भेल संहिता[2] में पुनर्वसु को चान्द्रभाग लिखा गया है। इस का यही अभिप्राय है कि उस का आश्रम कहीं चन्द्रभागा या चनाव नदी पर था पुनर्वसु को भेल संहिता[3] में कृष्णात्रेय भी कहा गया है! महाभारत शान्तिपर्व अध्याय २१२ में लिखा है —

देवर्षिचरितं गर्गो कृष्णात्रेयश्चिकित्सितम् ॥३३॥

अर्थात्—कृष्ण आत्रेय ने चिकित्सा शास्त्र रचा।

---

१. चरक चिकित्सा स्थान १६।१३१ पर टीका करता हुआ चक्रपाणि लिखता है है—

कृष्णात्रेयः पुनर्वसोरभिन्न एवेति वृद्धाः।

२—पृ० ३०,३६। चरकसंहिता, सूत्र स्थान १३।१०१ में भी ऐसा ही कथन है।

३—पृ० ४६, ६८।

अग्निवेश कल्प का रचयिता वही आचार्य प्रतीत होता है जो आयुर्वेदीय चरक संहिता के मूल का कर्ता था। वह कृष्ण यजुर्वेदीय वैशम्पायन का शिष्य था, अत. उस का कल्प भी याजुष था। तैत्तिरीय प्रा० ६।४ में यह शाखा स्मृत है।

४१—हारीत शाखा

यह भी एक गोत्र शाखा है। हारीत श्रौत, गृह्य और धर्मसूत्र के वचन अनेक ग्रन्थों में मिलते हैं। बौधायन, आपस्तम्ब और वसिष्ठ धर्मसूत्रों में हारीत का मत बहुधा उद्धृत किया गया है। धर्मशास्त्रेतिहास लेखक काणे के अनुसार हारीत भगवान् मैत्रायणी का स्मरण करता है।[1] मानव श्राद्धकल्प और मैत्रायणी परिशिष्टों के कई वचन हारीत के वचनों से बहुत मिलते हैं। अतः अनुमान होता है कि हारीत भी कृष्ण यजुर्वेद का सूत्रकार था।

अग्निवेश का सहपाठी हारीत किसी आयुर्वेद संहिता का रचयिता था। एक कुमार हारीत का नाम बृहदारण्यक उपनिषद् ४।६।३ में मिलता है।

हारीत शाखा तैत्तिरीय प्रातिशाख्य १४।१८ में स्मृत है।

उपसंहार—कृष्ण यजुर्वेद की ४१ शाखाओं का वर्णन हो चुका। इन

1—भाग १, पृ० ७१।

के साथ कठों की यदि ४४ उपशाखाएं मिला दी जाए, तो कुल ८५ शाखाएं बनती हैं। चाहिए वस्तुत ये ८६। यदि ८६ संख्या इसी प्रकार पूर्ण होनी चाहिए, तो हम कह सकते हैं कि कृष्ण यजुर्वेद का पर्याप्त वाङ्मय हमें उपलब्ध है। अस्तु, शेष ग्रन्थों के खोजने का यत्न करना चाहिए।

कृष्ण यजुर्वेद की मन्त्र संख्या

चरणव्यूहों का एक पाठ है—

अष्टादश यजु:सहस्राण्यधीत्य शाखापारो भवति।

दूसरा पाठ है—

अष्टाशत यजुसहस्राण्यधीत्य शाखापारो भवति।

प्रथम पाठ के अनुसार यजु: संख्या १८००० है और दूसरे पाठ के अनुसार संख्या बहुत अधिक है। दूसरा पाठ वस्तुत अशुद्ध है। शुक्ल यजु:में ऋक्संख्या १६०० है। क्या कृष्णयजु: में भी ऋक्संख्या इतनी ही होगी?

याजुष मन्त्रों का अवान्तरभेद निगद

भागवत पुराण १२।६।५२ में यजुर्गण का अभिप्राय निगद स्पष्ट है। मधुसूदन सरस्वती प्रस्थानभेद में प्रैष को निगद कहता है।

याजुष शाखाओं का वर्णन हो चुका। अब आगे सामशाखाओं का वर्णन किया जाएगा।

———

परन्तु प्रत्येक चरण की अवान्तर शाखाओं का ब्योरा जोड़ने से सामशाखाओं की कुल सख्या १०६५ बनती है। दिव्यावदान का यह पाठ पर्याप्त भ्रष्ट हो गया है।

३—आथर्वण परिशिष्ट चरणव्यूह में लिखा है—

तत्र सामवेदस्य शाखासहस्रमासीत। ... तत्र केचिदवशिष्टा प्रचरन्ति। तद्यथा—राणायनीया। सात्यमुग्रा.। कालापा। महाकालापाः। कौथुमा। लाङ्गलिकाश्चेति।

कौथुमानां षड्भेदा भवन्ति। तद्यथा—सारायणीया। वातरायणीया। वैतधृता.। प्राचीनास्तेजसा। अनिष्टकाश्चेति।

यह पाठ भी पर्याप्त भ्रष्ट है।

४—सुब्रह्मण्य शास्त्री की रची हुई गोभिलगृह्यकर्मप्रकाशिका के नित्याह्निक प्रयोग में निम्न लिखित तेरह सामग आचार्यों का तर्पण करना लिखा है—

राणायनि.[1]। सात्यमुग्रि। व्यास. (दुर्वासा)। भागुरिः। औगुण्डि। गौल्गुलवि[2]। भानुमानौपमन्यवाः। करादि। मशको गार्ग्य। वार्षगण्य। कौथुमि। शालिहोत्रिः। जैमिनिः।

इस से आगे उसी ग्रन्थ में दश प्रवचनकारों का तर्पण कहा गया है—

शटि। भाल्लविः। कालवि.। ताण्ड्य। वृषाणः (वृषगण)। शमबाहु। रुरुकि। अगस्त्य.। बष्कशिरा। हूहू।

सामशाखाओं का ज्ञान प्राप्त करने के लिए इन १३ आचार्यों का नाम स्मरण रखना चाहिए।

५—सायण से धन्वी पुराना है, और धन्वी से रुद्रस्कन्द पुराना है। वह रुद्रस्कन्द खादिर गृह्य ३।२।१४ की टीका में इन्हीं १३ आचार्यों और १० प्रवचनकारों की ओर सकेत करता है। यथा—**तथैव राणायनादीनाचार्यान् त्रयोदश, शाट्ययायनादिप्रवचनकर्तॄन् दश।**

६—चरणव्यूह की टीका मे महिदास भी इसी अभिप्राय के दो श्लोक लिखता है—

---

१. राणायनो वाशिष्ठ, राणिरन्य। शाकटायन व्याक० पृष्ठ २८२।

२. गौरग्रीवि, गणपाठ ४।१।१३१॥

the works were produced not by Badrayana or Jaimini themselves, but by schools expressing their views

(संस्कृत वाङ्मय का इतिहास, पृ० ४७२)

अर्थात्—जैमिनि द्वादशाध्यायी मीमांसा का कर्ता नहीं था, प्रत्युत जैमिनि के अनुयायियों ने उस के विचारों पर यह ग्रन्थ रचा।

योरोपीय लेखक अथवा उनके उच्छिष्टभोजी ही ऐसा निराधार लेख लिख सकते हैं। गत पांच सहस्र वर्ष में किसी भारतीय विद्वान् ने ऐसा नहीं लिखा।

जैमिनि से उत्तरवर्ती परम्परा

व्यास से पढ़ कर जैमिनि ने अपने पुत्र सुमन्तु को सामवेद पढ़ाया। उस ने अपने पुत्र सुत्वा को वही वेद पढ़ाया। सुत्वा ने अपने पुत्र सुकर्मा को उसी वेद की शिक्षा दी। सुकर्मा ने उस की एक सहस्र संहिताएं बनाईं। उस के अनेक शिष्य उन्हें पढ़ने लगे। पुराणों के अध्ययन से पता लगता है कि जिस देश में ये सामग लोग पाठ करते थे, वहां कोई इन्द्र-प्रकोप हुआ, अर्थात् कोई भूकम्प आदि आया। उस में सुकर्मा के शिष्य और उन के साथ वे शाखाएं भी नष्ट हो गईं। तदनन्तर सुकर्मा के दो बड़े प्रतापी महाप्राज्ञ शिष्य हुए। एक का नाम था पौष्पिंजी और दूसरे का राजा हिरण्यनाभ कौसल्य। पौष्पिंजी ने ५०० संहिताएं प्रवचन कीं। उन के पढ़ने वाले उदीच्य अर्थात् उत्तरीय सामग कहाते थे। इसी प्रकार कोसल के राजा हिरण्यनाभ ने भी ५०० संहिताओं का प्रवचन किया। इन को पढ़ने वाले प्राच्य अर्थात् पूर्व दिशा में रहने वाले सामग कहाते थे।

उदीच्य सामग पौष्पिञ्जी की परम्परा

वायु और ब्रह्माण्ड दोनों पुराणों में साम-संहिताकारों का वर्णन अत्यन्त भ्रष्ट हो गया है। ऐसी अवस्था में अनेक सामग ऋषियों के यथार्थ नामों का जानना महादुष्कर है। हमारे पास इन दोनों पुराणों के हस्तलेख भी अधिक नहीं हैं, अतः पर्याप्त सामग्री के अभाव में अगला वर्णन पूर्ण सन्तोषदायक नहीं होगा।

पौष्पिञ्जी के चार संहिता-प्रवचनकर्ता शिष्य थे। उन के नाम थे, लौगाक्षी, कुथुमि, कुशीदी और लाङ्गलि। इन में से लौगाक्षी के पांच शिष्य थे। वे थे राणायनि, तारड्य, अनोवैन या मूलचारी, सकेतिपुत्र और सात्यमुग्र।

शालिहोत्र और कुसीदी एक ही व्यक्ति के नाम हैं या नहीं, यह विचारार्ह है। लाङ्गलि के छ शिष्य थे, भाल्लवि, कामहानि,[1] जैमिनि, लोमगायानि, कण्डु और कहोल। ये छः लाङ्गल कहाते हैं।

हिरण्यनाभ कौसल्य प्राच्यसामग

सुकर्मा का दूसरा शिष्य कोसल देश का राजा हिरण्यनाभ था। इस के विषय में पूर्व पृ० २५६ पर लिखा जा चुका है। तदनुसार हिरण्यनाभ का काल अनिश्चित ही है। इस के विषय मे जितने विकल्प हैं, वे पहले दिये जा चुके हैं। प्रश्न उप० ६।१ में लिखा है कि सुकेशा भारद्वाज पिप्पलाद ऋषि के पास गया। उस ने पिप्पलाद से कहा कि राजपुत्र हिरण्यनाभ कौसल्य मेरे पास आया था। प्रतीत होता है कि सुकेशा भारद्वाज के पास जाने वाला हिरण्यनाभ ही पीछे से सामसंहिताकार हुआ। इस प्रमाण से यही परिणाम निकलता है कि हिरण्यनाभ कौसल्य महाभारत-काल में विद्यमान था। पुराण पाठों की अस्त-व्यस्त अवस्था में इस से अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता।

कृत

हिरण्यनाभ का शिष्य राजकुमार कृत था। विष्णुपुराण ४।१६।५० के अनुसार द्विजमीढ के कुल में सन्नतिमान का पुत्र कृत था। विष्णुपुराण के इस लेख के अनुसार कृत भी महाभारत-काल से बहुत पहले हुआ था। इस लेख से भी पूर्व-प्रदर्शित ऐतिहासिक अड़चन उत्पन्न होती है, और ऐसा प्रतीत होता है कि सामवेद के प्रवक्ता जैमिनि का गुरु कोई बहुत पहला व्यास हो। परन्तु यह सब कल्पनामात्र है।

कृत के चौबीस शिष्य—कृत के विषय में पाणिनीय सूत्र **कार्त कौजपादयश्च** ६।२।३७ का गण भी ध्यान रखने योग्य है। इस कृत के सामसंहिताकार चौबीस शिष्य थे। उन के नाम वायु और ब्रह्माण्ड के अनुसार नीचे लिखे जाते हैं।

वायु	राड:	राडवीय	पञ्चम:	वाहन	तलक	माण्डुक
ब्रह्माण्ड	राडि:	महवीर्य.	,,	,,	नालक	पाण्टक:
वायु	कालिक	राजिक:	गोतम	अजवस्त	सोमराजायन.	पुष्टि
ब्रह्माण्ड	,,	,,	,,	,,	सोमराजा	पृष्ट्र

[1] औदगामहानि, गणपाठ ४।२।१३८ ॥

कौथुमों की संहिता के ये विभाग उपलब्ध हैं। गानों के अन्तिम दो विभाग पौरुषेय हैं, अथवा अपौरुषेय, इस विषय में निदानसूत्र २।१ और जैमिनि सूत्र और उस का शाबर भाष्य ६।२।१,२ देखने योग्य हैं।

१—**कौथुमा—ग्रामे गेयगान=वेयगान**। इस में १७ प्रपाठक हैं। प्रत्येक प्रपाठक के पुनः पूर्व और उत्तर दो भाग हैं। इस का सम्पादन सत्यव्रत सामश्रमी ने सन् १८७४ में किया था। इस से भी एक शुद्ध संस्करण कृष्णास्वामी श्रोति का है। वह ग्रन्थाक्षरों में तिरुवदि से सन् १८८६ में मुद्रित हुआ था। उस का नाम है—

सामवेदसंहितायां कौथुमशाखायां वेयगानम्।

अरण्ये गेयगान=आरण्यगान। दो दो भागों वाले छः प्रपाठकों में है। इस में चार पर्व हैं, **अर्कपर्व, द्वन्द्वपर्व व्रतपर्व,** और **शुक्रियपर्व**। इन्हीं के अन्त में महानाम्नी ऋचाएं हैं। सामश्रमी के संस्करण में यह गान मुद्रित हो चुका है।

ऊहगान—यह सप्तपर्व-युक्त है, **दशरात्र, संवत्सर, एकाह, अहीन, सत्र, प्रायश्चित्त** और **क्षुद्र**। इस में दो दो भागों वाले कुल २३ प्रपाठक हैं। यह भी कलकत्ता संस्करण में मुद्रित है।

ऊह्यगान—इस में भी सात पर्व हैं। इन के नाम वही हैं, जो ऊहगान के पर्वों के नाम हैं। इस में १६ प्रपाठक और ३२ अर्धप्रपाठक हैं। यह भी कलकत्ता संस्करण में छप चुका है।

आर्चिक रूपी सामसंहिता=सामवेद

पूर्वार्चिक। इस में छः प्रपाठक हैं। ग्रामेगेयगान के साम इन्हीं मन्त्रों पर हैं। स्टीवनसन सन् १८४३, बेनफी सन् १८४८, और सामश्रमी द्वारा यह सामसंहिता मुद्रित हो चुकी है।

आरण्यकसंहिता। पांच दशतियों में।

उत्तरार्चिक। नौ प्रपाठकों में। ऊहगान के मन्त्र इसी में हैं।

यह संहिता कौथुमों की कही जाती है।

कौथुमों की साम-संख्या

ग्रामेगेयगान	११६७
आरण्यगान	२९४

वायु	परिकृष्ट	उलूखलक.	यवीयस.	वैशाल	अङ्गुलीय.	कौशिक:
ब्रह्माण्ड	,,	,,	,,	वशाली	,,	,,
वायु	सालिमञ्जरि	सत्य	कापीय.	कानिक:	पराशर:	
ब्रह्माण्ड	शालिमञ्जरि	पाक	शधीय.	कानिन	पाराशर्या	

चौबीसवां नाम दोनो पुराणों मे लुप्त हो गया है। जो नाम मिलते हैं उन के पाठो में भी बहुत शोधन आवश्यक है। इस से आगे साम-शाखा-वर्णन के अन्त में पुराणों म लिखा है कि साम संहिताकारों में पौष्पिञ्जी और कृत सर्वश्रेष्ठ हैं।

एक प्रकार के चरणव्यूहों मे राणायनीयों के सप्त भेद लिखे हैं—

राणायणीया. सात्यमुग्रा । कापोला । महाकापोला । लाङ्गलायना । शार्दूला । कौथुमा चेति ।

दूसरे प्रकार के चरणव्यूहो में राणायणीयों के नवभेद लिखे हैं—

राणायणीया । शाट्यायनीया । सात्यमुग्रा । खल्वला । महाखल्वला । लाङ्गला । कौथुमा । गौतमा । जैमिनीया चेति ।

प्रथम प्रकार के चरणव्यूहों में कौथुमों के सप्त भेद् कहे हैं—

आसुरायणा । वातायना । प्राञ्जलिर्द्वैनभृता: । कौथुमा । प्राचीनयोग्या । नैगेया. चेति ।

दूसरे प्रकार के चरणव्यूहों में राणायनीयो के नवभेदों से पूर्व का पाठ है—

आसुरायणीया । वासुरायणीया । वातान्तरेया । प्राञ्जला. । ऋग्वैनविधा । प्राचीनयोग्या । राणायनीया चेति ।

दिव्यादान पृष्ठ ६३७ पर लिखा है—

छन्दोगानां भेद: १ षट्—कौथुमा । वारायणीया: (राणायनीया) लागला । सौवर्चसा. । कपिञ्जलेया । आर्ष्टिषेणा. ।

साम की अनेक शाखाओं के नाम, जो पुराण आदिकों में मिलते हैं, वर्णन हो चुके। अब इन में से जिन शाखाओं का हमें पता है, अथवा जिन का कोई ग्रन्थ मिलता है, उन का वर्णन आगे किया जाता है।

सामसंहिताओं के दो भेद—गान और आर्चिक

प्रत्येक सामसंहिता के गान और आर्चिक नाम के दो भेद हैं। गान के आगे चार विभाग हो जाते हैं। और आर्चिक के दो ही रहते हैं।

कौथुमों की संहिता के ये विभाग उपलब्ध हैं। गानों के अन्तिम दो विभाग पौरुषेय हैं, अथवा अपौरुषेय, इस विषय में निदानसूत्र २।१ और जैमिनि सूत्र और उस का शाबर भाष्य ६।२।१,२ देखने योग्य हैं।

१—**कौथुमा —ग्रामे गेयगान = वेयगान**। इस में १७ प्रपाठक हैं। प्रत्येक प्रपाठक के पुनः पूर्व और उत्तर दो भाग हैं। इस का सम्पादन सत्यव्रत सामश्रमी ने सन् १८७४ में किया था। इस से भी एक शुद्ध संस्करण कृष्णास्वामी श्रोति का है। वह ग्रन्थाक्षरों में तिरुवदि से सन् १८८६ में मुद्रित हुआ था। उस का नाम है—

सामवेदसंहितायां कौथुमशाखायां वेयगानम्।

अरण्ये गेयगान = आरण्यगान। दो दो भागों वाले छः प्रपाठकों में है। इस में चार पर्व हैं, **अर्कपर्व, द्वन्द्वपर्व व्रतपर्व,** और **शुक्रियपर्व**। इन्हीं के अन्त में महानाम्नी ऋचाएं हैं। सामश्रमी के संस्करण में यह गान मुद्रित हो चुका है।

ऊहगान—यह सप्तपर्व-युक्त है, **दशरात्र, संवत्सर, एकाह, अहीन, सत्र, प्रायश्चित्त** और **क्षुद्र**। इस में दो दो भागों वाले कुल २३ प्रपाठक हैं। यह भी कलकत्ता संस्करण में मुद्रित है।

ऊह्यगान—इस में भी सात पर्व हैं। इन के नाम वही हैं, जो ऊहगान के पर्वों के नाम हैं। इस में १६ प्रपाठक और ३२ अर्धप्रपाठक हैं। यह भी कलकत्ता संस्करण में छप चुका है।

आर्चिक रूपी सामसंहिता = सामवेद

पूर्वार्चिक। इस में छः प्रपाठक हैं। ग्रामेगेयगान के साम इन्हीं मन्त्रों पर हैं। स्टीवनसन सन् १८४३, बेनफी सन् १८४८, और सामश्रमी द्वारा यह सामसंहिता मुद्रित हो चुकी है।

आरण्यकसंहिता। पांच दशतियों में।

उत्तरार्चिक। नौ प्रपाठकों में। ऊहगान के मन्त्र इसी में हैं।

यह संहिता कौथुमों की कही जाती है।

कौथुमों की साम-संख्या

ग्रामेगेयगान	११९७
आरण्यगान	२९४

ऊहगान	१०२६
ऊह्यगान	२०५
	——
	२७२२

कालेण्ड के अनुसार कौथुम संहिता की कुल मन्त्रसंख्या १८६६ है।

कौथुम गृह्य—संस्कृत हस्तलेखों के राजकीय पुस्तकालय मैसूर के सन् १९३२ में मुद्रित हूए सूचीपत्र के पृ० ६८ पर लिखा है कि उस पुस्तकालय में इक्कीस खण्डात्मक एक कौथुम गृह्यसूत्र है। हमारे मित्र अध्यापक सूर्यकान्त जी ने हमारी प्रार्थना पर उस की प्रतिलिपि मंगाई थी। उन का कहना है, कि यह एक स्वतन्त्र गृह्य सूत्र है। पूना के भण्डारकर इन्स्टीट्यूट में सांख्यायन गृह्यसूत्र व्याख्या नाम का एक हस्तलेख है। उस का लेखनकाल संवत् १६५५ है। उस में पत्र १क पर लिखा है —

कौथुमिगृह्ये। काम गृह्येग्नौ पत्नी जुहुयात्। सायंप्रातरौ होमौ गृह्या। पत्नीगृह्य एषोग्निर्भवति। इति।

इन प्रमाणों से प्रतीत होता है कि कौथुमों का कोई स्वतन्त्र कल्पसूत्र भी था।

२—जैमिनीया — जैमिनीय संहिता, ब्राह्मण, श्रौत और गृह्य सभी ग्रन्थ मिलते हैं। ब्राह्मण आदि का वर्णन यथास्थान करेंगे। यहां संहिता का ही उल्लेख किया जाता है। इस के हस्तलेख बड़ोदा और लाहौर में मिलते हैं। लण्डन का हस्तलेख अपूर्ण है। यह संहिता भी दो प्रकार की है। अनेक हस्तलेखों के अनुसार जैमिनीय गानों की साम संख्या निम्नलिखित है—

ग्रामगेयगान	१२३२
आरण्यगान	२९१
ऊहगान	१८०२
ऊह्य = रहस्यगान	३५६
	——
	३६८१

अध्यापक कालेण्ड ने वारणालक्षण नामक लक्षणग्रन्थ से जैमिनीयों की साम संख्या दी है। पञ्जाब यूनिवर्सिटी पुस्तकालय के जैमिनीय शाखा के

एक ग्रन्थ में यह सख्या कुछ भिन्न प्रकार से दी हुई है। वही नीचे लिखी जाती है—

आग्नेयस्य शत प्रोक्ता ऋचो दश च षट् तथा।
ऐन्द्रस्य त्रिशत चैव द्विपञ्चाशदृचो मिता ॥१॥[1]
एकोनविंशतिशत पावमान्य. स्मृता ऋचः।[1]
पञ्चपञ्चाशदित्युक्ता आरणस्य क्रमादृच· ॥२॥
प्रकृतः षट्शत चैव द्विचत्वारिंशदुत्तरम्।

प्रकृति ऋक्सख्या रघुस्तु ६४२। प्रकृतिसामसख्या गिरीशोय १५२३।

अर्थात्—आग्नेयपर्व में	११६
ऐन्द्र में	३५२
पावमान्य में	११९
और आरण्य मे	५५
	——
कुल	६४२ प्रकृति ऋक्सख्या है।

तथा ग्रामेगेयगान और आरण्यगान की कुल सख्या १५२३ है। इस से आगे धारणालक्षण में इन १५२३ सामा का व्योरा है। तत्पश्चात् ऊह और ऊह्यगान की सख्या गिनी गई है। जैमिनीय सामगान की कुल सख्या ३६८१ है। अर्थात् कौथुम शाखा की अपेक्षा जैमिनीय शाखा के गानो में ९५९ साम अधिक हैं। जैमिनीय सहिता का अभी तक कोई भाग मूल हस्त लेखो से मुद्रित नही हुआ।

जैमिनीय सहिता के पाठान्तर कालेण्ड ने रोमनलिपि मे सम्पादन किए हैं, परन्तु इस सहिता के देवनागरी लिपि मे छपने की परमावश्यकता है। कौथुम सहिता से इस का भेद तो है, परन्तु स्वल्प ही। जैमिनीय सहिता की मन्त्रसख्या कालेण्ड के अनुसार १६८७ है। पूर्वार्चिक और

---

१. चरणव्यूहों का निम्नलिखित पाठ विचारणीय है—

अशीतिशतमाग्नेयं पावमान चतुःशतम्।
ऐन्द्र तु षड्विंशतिर्यानि गायन्ति सामगा॥

शाबर मीमासा भाष्य १०।५।२३ में यही श्लोक स्वल्प पाठान्तर से मिलता है।

आरण्य में ६४६ और उत्तरार्चिक में १०४१। पूर्वार्चिक की प्रकृति ऋक्संख्या हम पहले ६४२ लिख चुके हैं। तदनुसार आरण्य में ५५ मन्त्र हैं। यह चार मन्त्रों का भेद विचारणीय है। सम्भव है हमारे हस्तलेख का पाठ यहां अशुद्ध हो। इस प्रकार जैमिनीय संहिता में कौथुम संहिता की अपेक्षा १८२ मन्त्र न्यून हैं। परन्तु स्मरण रहे कि जैमिनीय संहिता में कई ऐसी ऋचाएं भी हैं, जो कौथुम संहिता में नहीं हैं।

जैमिनीय और तलवकार

जैमिनीय ब्राह्मण को बहुधा तलवकार ब्राह्मण भी कहा जाता है। जैमिनि गुरु था और तलवकार शिष्य था। ब्राह्मण क्या उन दोनों के नाम से पुकारा जाने लगा, यह विचारणीय है। सम्भव है कि जैमिनीयों की अवान्तर शाखा तलवकार हो। जैमिनीय शाखा के ब्राह्मण सम्प्रति दक्षिण मद्रास के तिन्नेवल्ली जिला में मिलते हैं।

विष्णुधर्मोत्तर अ० १४६ में जैमिनीय धर्मशास्त्र का उल्लेख है।

३—**राणायनीया**—राणायन वासिष्ठ थे।[1] राणायन-शाखीय ब्राह्मण हमें अनेक मिले हैं, परन्तु राणायन शाखा हम ने किसी के पास नहीं देखी। अध्यापक विण्टर्निट्ज का मत है कि स्टीवनस की सम्पादन की हुई संहिता ही राणायनीय संहिता है।[2] यह बात युक्त प्रतीत नहीं होती। कुछ मास हुए, लाहौर में ही एक ब्राह्मण हमें मिले थे। उन का पता भी हम ने लिख लिया था।[3] वे कहते थे कि उन के पास राणायनीय संहिता का एक बहुत पुराना हस्तलेख है। जब तक इस चरण के मूल ग्रन्थ न मिल जाएं, तब तक हम इस के विषय में कुछ नहीं कह सकते।

राणायनीयों के खिलों का एक पाठ शाङ्कर वेदान्त भाष्य ३।३।२३ में मिलता है। उस से आगे राणायनीयों के उपनिषद् का भी उल्लेख है।

---

१ गणरत्नमहोदधि ३।२३६ ॥

२ भारतीय वाङ्मय का इतिहास, अङ्गरेजी अनुवाद, पृ० १६३, टिप्पणी।

३ पं० हरिहरदत्त शास्त्री, भण्डारी गली, घर नम्बर $\frac{8}{10}$ बांस का फाटक, बनारस सिटी।

हेमाद्रिरचित श्राद्धकल्प के १०७६ पृष्ठ पर राणायनीय सम्बन्धी लेख देखने योग्य है।

४—सात्यमुग्रा —राणायनीय चरण की एक शाखा का नाम सात्यमुग्र है। इन के विषय में आपिशली शिक्षा के षष्ठ प्रकरण में लिखा है—

छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया ह्रस्वानि पठन्ति।

अर्थात्—सात्यमुग्र शाखा वाले सन्ध्यक्षरों के ह्रस्व पढ़ते हैं।

पुन व्याकरणमहाभाष्य १।१४, ४८ में लिखा है—

ननु च भोश्छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया अर्धमेकारमर्धमोकारं चाधीयते। सुजाते ए अश्वसूनृते। अध्वर्यो ओ अद्रिभिः सुतम्। शुक्रं ते ए अन्यद्यजतम्।

सात्यमुग्रों का भी कोई ग्रन्थ अभी तक हमें नहीं मिल सका।

५—नैगेया —इस शाखा का नाम चरणव्यूह में कौथुमों के अवान्तर विभागों में मिलता है। नैगेयपरिशिष्ट नाम का एक ग्रन्थ है। उस में दो प्रपाठक हैं। प्रथम में ऋषि और दूसरे में देवता का उल्लेख है। यह ग्रन्थ नैगेय शाखा पर लिखा गया है। इस में इस शाखा के आकार प्रकार का पता लगता है।

नैगेय आचार्य का मत ऋक्तन्त्र सूत्र ५६, १५६ की टीका और सूत्र १६२ पर मिलता है।

६—शार्दूला —काशी के एक ब्राह्मण घर के हस्तलिखित ग्रन्थों के सूचीपत्र में इस शाखा का नाम लिखा है। इस से प्रतीत होता है कि शार्दूल संहिता का पुस्तक कभी वहाँ विद्यमान था, परन्तु अब यह ग्रन्थ वहां से कोई ले गया है। खादिर नाम का एक गृह्यसूत्र सम्प्रति उपलब्ध है। उस के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह शार्दूल शाखीय लोगों का गृह्यसूत्र है।[1] श्राद्धकल्प परिभाषाप्रकरण पृ० १०७८, १०७६ पर हेमाद्रि लिखता है—

तद्यथा शार्दूलशाखिनां—स पूर्वो महानामिनि मधुश्चुन्निधनम्।

यह पाठ शार्दूल शाखा का है। इस से आगे भी हेमाद्रि इस शाखा

1 Report on a search of Sanskrit mss in the Bombay Presidency 1891—1895 by A V Kathavate Bombay, 1901, No, 79,

का पाठ देता है । यही पाठ वीरमित्रकृत श्राद्धप्रकाश पृष्ठ १३० पर भी मिलता है । यत्न करने पर इस शाखा के ग्रन्थ अब भी मिल सकेंगे ।

७—**वार्षगण्याः**—साम आचार्यों में वार्षगण्य का नाम पूर्व लिखा जा चुका है । इस शाखा के संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थ कभी अवश्य होंगे । सौभाग्य का विषय है कि वार्षगण्यों का एक मन्त्र अब भी उपलब्ध है । पिङ्गल छन्द सूत्र ३।१२ पर टीका करते हुए यादवप्रकाश नागी गायत्री के उदाहरण में लिखता है—

ययोरिदं विश्वमेजति ता विद्वांसा हवामहे वाम् ।
वीत सोम्यं मधु ॥ इति वार्षगण्यानाम् ।

अर्थात्—नागी गायत्री का यह उदाहरण वार्षगण्यों की संहिता में मिलता है ।

यही मन्त्र निदानसूत्र में भी उद्धृत है ।

सांख्य शास्त्र प्रवर्तकों में वार्षगण्य नाम का एक प्रसिद्ध आचार्य था । कई एक विद्वानों के अनुसार षष्टितन्त्र का रचयिता वार्षगण्य ही था । सांख्यकार वार्षगण्य और साम-संहिताकार वार्षगण्य निश्चय ही एक थे । वार्षगण्यों का इस से अधिक इतिवृत्त हम नहीं जान सके ।

जो लोग सांख्य आचार्य वार्षगण्य को ईसा के समीप काल का मानते हैं वे इतिहास से सर्वथा अपरिचित हैं ।

८—**गौतमाः**—गौतमों की कोई स्वतन्त्र संहिता थी वा नहीं, यह नहीं कहा जा सकता । गौतम धर्मसूत्र और गौतम पितृमेधसूत्र इस समय भी मिलते हैं । गौतम शिक्षा भी सम्प्रति उपलब्ध है । यत्न करने पर इस शाखा के अन्य ग्रन्थों के मिलने की भी सम्भावना है ।

९—**भाल्लविनः**—इस शाखा का ब्राह्मण कभी विद्यमान था । संहिता के विषय में हम कुछ नहीं कह सकते । भाल्लवियों के निदान ग्रन्थ के प्रमाण अनेक ग्रन्थों में उद्धृत मिलते हैं । भाल्लविकल्प भी कभी मिलता होगा । भाल्लवियों का वर्णनविशेष हम ब्राह्मण भाग में करेंगे । सुरेश्वर के बृहदारण्यकभाष्य वार्तिक में भाल्लविशाखा की एक श्रुति लिखी है । सुरेश्वर का तत्सम्बन्धी लेख आगे लिखा जाता है ।

अतः संन्यस्य कर्माणि सर्वाण्यात्मावबोधतः ।

हत्वाऽविद्यां धियैवेयात्तद्विष्णो परम पदम् ॥२१९॥
इति भाल्लविशाखायां श्रुतिवाक्यमधीयते ॥२२०॥

अर्थात्—**हत्वाऽविद्यां** ‥ **पदम्** भाल्लविश्रुति है।

यह पाठ निदान सूत्र में भी है।

भाल्लवियों के उपनिषद् ग्रन्थ भी थे।

जै० उप० ब्रा० २।४।७ में **भाल्लवियों** का मत उल्लिखित है। इस से पता लगता है कि जै० उप० ब्रा० के काल से पहले या समीप ही भाल्लवि शाखा का प्रवचन हो चुका था। जै० ब्रा० ३।१५६ में **आषाढ भाल्लवेय** और १।२७१ में **इन्द्रद्युम्न भाल्लवेय** के नाम मिलते हैं। भाल्लवियों और भाल्लवेयों के गोत्र जानने चाहिएं।

१०—**कालवविन**—इस शाखा के ब्राह्मण के प्रमाण अनेक ग्रन्थों में मिलते हैं। उन का उल्लेख ब्राह्मण भाग में करेंगे। कालववियों के कल्प, निदान और संहिता का पता हमें नहीं लगा।

११—**शाट्यायनिन**—इस शाखा के ब्राह्मण, कल्प और उपनिषद् कभी विद्यमान् थे। संहिता के सम्बन्ध में अभी कुछ कहा नहीं जा सकता। शाट्यायनि आचार्य का मत जैमिनि-उपनिषद्-ब्राह्मण में बहुधा उद्धृत मिलता है।

१२—**रौरुकिण**—इस शाखा के प्रमाण भी अनेक ग्रन्थों में मिलते हैं।

रौरुकि ब्राह्मण के विविध ग्रन्थों में उद्धृत अनेक पाठ इस समय भी मिलते हैं।

१३—**कापेया**—काशिकावृत्ति ४।१।१०७ में कापेय आङ्गिरस से भिन्न गोत्र के माने गए हैं। आङ्गिरसगोत्र वाले काप्य होंगे। बृहदारण्यक उपनिषद् ३।३।१ का पतञ्चल काप्य आङ्गिरसगोत्र का होगा। एक **शौनक कापेय** जैमिनि-उपनिषद्-ब्राह्मण ३।१।२१ में उल्लिखित है। जैमिनीय ब्राह्मण २।२६८ में भी इसी कापेय का नाम मिलता है। इस शाखा के ब्राह्मण का वर्णन आगे होगा।

कठ सं० १३।१२ तथा पञ्चविंश ब्राह्मण २०।१२।५ में कापेयों का उल्लेख है।

१४—**माषशराव्य**—द्राह्यायण श्रौत ८।२।३० पर धन्वी लिखता है—

माषशराव्यो नाम केचिच्छाखिन ।

पाणिनीय गणपाठ ४।१।६ तथा निदान सूत्र ५।८ में भी यह नाम मिलता है।

१५—**करद्विष**—इस शाखा का नाम ताण्ड्य ब्राह्मण २।१५।४ में मिलता है।

१६—**शाण्डिल्या**—आपस्तम्ब श्रौत के रुद्रदत्तकृत भाष्य ६।११।२१ में एक शाण्डिल्यगृह्य उद्धृत किया गया है। लाट्यायन, द्राह्यायण आदि कल्पों में शाण्डिल्य आचार्य का मत बहुधा लिखा गया है, अत हमारा अनुमान है कि शाण्डिल्य गृह्य किसी साम शाखा का ही गृह्य था। आनन्दसंहिता के अनुसार शाण्डिल्य सूत्रकार याजुष है। एक **सुयज्ञ शाण्डिल्य** जैमिनीय उप० ब्रा० ४।१७।१ के वंश में लिखा गया है।

१७—**ताण्ड्या**.—ताण्ड्यों की एक स्वतन्त्र शाखा बहुत प्राचीनकाल से मानी जा रही है। वेदान्त भाष्य ३।३।२७ में शङ्कर लिखता है—

अन्येऽपि शाखिनस्ताण्डिन शाट्यायनिन ।

पुनः ३।३।२४ में वही लिखता है—

यथैकेषां शाखिनां ताण्डिनां पैङ्गिनां च।

वर्तमान छान्दोग्योपनिषद् इन्हीं की उपनिषद् है। शाङ्कर वेदान्त भाष्य ३।३।३६ में लिखा है—

यथा ताण्डिनामुपनिषदि षष्ठे प्रपाठके—स आत्मा ....।

यह पाठ छा० उप० ६।८।७ की प्रसिद्ध श्रुति है। छान्दोग्य नाम एक सामान्य नाम है। पहले इस उपनिषद को **ताण्ड्य-रहस्य-ब्राह्मण** या **ताण्ड्य आरण्यक** भी कहते होंगे। शाङ्कर वेदान्तभाष्य ३।३।२४ से ऐसा ही ज्ञात होता है।

ताण्ड्य शाखा कौथुमों का अवान्तर विभाग समझी जाती है। अध्यापक कालेण्ड का ऐसा ही मत था। गोभिलगृह्य भी कौथुमों का ही गृह्य माना जाता है। परन्तु *श्राद्धकल्प* पृ० १४६०, १४६८ पर हेमाद्रि लिखता है

कि गोभिल राणायनीयसूत्रकृत् है। यदि हेमाद्रि की बात ठीक है, तो ताण्ड्य गृह्य का अन्वेषण होना चाहिये।

ताण्ड्य ब्राह्मण और कौथुम संहिता

अध्यापक कालेण्ड ने ताण्ड्य ब्राह्मण से दो ऐसे उदाहरण दिये हैं जहां ब्राह्मण का पाठ वर्तमान कौथुमसंहिता के पाठ से भिन्न हो जाता है—

ताण्ड्य ब्रा०	साम संहिता
इन्द्र गीर्भिर्हवामहे ११।५।४॥	**इन्द्र गीर्भिर्नवामहे**[1]
अक्रान्त्समुद्र परमे विधर्मन् ८।५।१।	**अक्रान्त्समुद्र प्रथमे विधर्मन्**[1]

ताण्ड्य ब्राह्मणगत ये भेद निदान-सूत्र में भी विद्यमान हैं। आर्षेय कल्प में दूसरा प्रमाण मिलता है, और वह भी ब्राह्मणानुकूल है। इस से एक सम्भावना होती है कि ताण्ड्य ब्राह्मण का सम्बन्ध कदाचित् किसी अन्य सामसंहिता से रहा हो।

अन्य साम-प्रवचनकार

लाट्यायन, द्राह्यायण, गोभिल, खादिर, मशक और गार्ग्य के प्रवचन-ग्रन्थ इस समय भी उपलब्ध हैं। पहले पांचों के रचे हुए कल्प वा कल्पों के भाग हैं और गार्ग्य का साम पदपाठ विद्यमान है। महाभाष्य आदि में **गार्गकम्, वात्सकम्** । प्रयोग भी बहुधा मिलता है। इस से ज्ञात होता है कि गर्गों की कोई सामसंहिता भी विद्यमान थी। द्राह्यायण और खादिर का परस्पर सम्बन्ध भी विचारणीय है। इन विषयों पर कल्पसूत्र भाग में लिखा जाएगा।

शालिहोत्र—सामसंहिताकार शालिहोत्र ही द्वादशसाहस्री अश्वशास्त्र संहिता का रचयिता था।

कीथ मौन—असमञ्जस में पड़ा कीथ इस विषय में मौन है। वह लिखता है—

The science of horses, Ashvashastra, is ascribed to

---

१ ये साम संहितास्थ मन्त्र ऋग्वेद में भी मिलते हैं। उन का पाठ सामसंहिता के सदृश है। परमे और प्रथमे का भेद अन्यत्र भी पाया जाता है। मनुस्मृति १।१८० में कोई परमे पढ़ता है और कोई प्रथमे।

another sage, शालिहोत्र

शालिहोत्र का स्मरण पाण्डव नकुल अपने अश्ववैद्यक ग्रन्थ मे करता है।[1]

पाण्डव नकुल के ग्रन्थ को महाभारत-युद्ध के सहस्रों वर्ष उत्तर मे मानना योरोपीय लेखकों की अविद्या है। अश्वविद्या का इतिहास हम लिख चुके हैं।[1]

साम-मन्त्र-संख्या

शतपथ ब्राह्मण १०।४।२।२ मे लिखा है—

अथेतरौ वेदौ व्यौहत्। द्वादशैव बृहतीसहस्राण्यष्टौ यजुषा चत्वारि साम्नाम्। एतावद्धैतयोर्वेदयोर्यत् प्रजापतिसृष्टे।

अर्थात्—साम मन्त्र-पाठ चार सहस्र बृहती छन्द के परिमाण का है। इतना ही प्रजापतिसृष्ट साम है।

एक बृहती छन्द मे ३६ अक्षर होते हैं, अत. ४००० × ३६ = १४४००० अक्षर के परिमाण के सब साम हैं। यह साम सख्या सहस्रसाम शाखाओं में से सौत्र शाखाओं को छोड़ कर शेष सब साम शाखाओं की होगी।

वायुपुराण १।६१।६३ तथा ब्रह्माण्डपुराण २।३५।७१—७२ में साम गणना के विषय में लिखा है—

अष्टौ सामसहस्राणि समानि च चतुर्दश।
सारण्यक सहोहं च एतद्गायन्ति सामगा॥

अर्थात्—आरण्यक आदि सब भागों को मिला कर कुल ८०१४ साम हैं, जिन्हें सामग गाते हैं।

इसी प्रकार का एक पाठ एक प्रकार के चरणव्यूहों में है—

अष्टौ सामसहस्राणि सामानि च चतुर्दश।
अष्टौ शतानि नवतिर्दशतिर्वालखिल्यकम्॥[2]
सरहस्य ससुपर्ण प्रेक्ष्य तत्र सामदर्पणम्।
सारण्यकानि ससौर्याण्येतत्सामगण स्मृतम्॥

इसी का दूसरा पाठ दूसरे प्रकार के चरणव्यूहों में है—

---

१ देखो, वेदवाणी वर्ष ४ अक २, दिसम्बर १९५१ मे हमारा लेख।

२ तुलना करो—ब्रह्मप्रोक्त याज्ञवल्क्य सहिता २।३०॥

अष्टौ सामसहस्राणि सामानि च चतुर्दश ।
अष्टौ शतानि दशभिर्दशसप्तसुवालखिल्य. ससुपर्ण प्रेक्ष्यम् ।
एतत्सामगण स्मृतम् ।

एक और प्रकार के चरणव्यूह का निम्नलिखित पाठ भी ध्यान देने योग्य है—

अष्टौ सामसहस्राणि छन्दोगार्चिकसहिता ।
गानानि तस्य वक्ष्यामि सहस्राणि चतुर्दश ॥
अष्टौ शतानि ज्ञेयानि दशोत्तरदशैव च ।
ब्राह्मणश्चोपनिषदं सहस्र त्रितय तथा ॥

अन्तिम पाठ का अभिप्राय बहुत विचित्र प्रकार का है । तदनुसार साम आर्चिक सहिता मे ८००० साम थ । उसी के गान १४८२० थे । साम गणना के पुराणस्थ और चरणव्यूह-कथित पाठों में स्वल्प भेद हो गया है । उस भेद के कारण इन वचनो का स्पष्ट और निश्चित अर्थ लिखा नहीं जा सकता । हां, इतना निर्णीत ही है कि आर्चिक सहिता में शतपथ प्रदर्शित १८४००० अक्षर परिमाण के सब मन्त्र होने चाहिए । और अनेक स्थानों में ८००० के लगभग साम सख्या कहने से यह भी कुछ निश्चत है कि सामवेद की समस्त शाखाओं में कुल ८००० के लगभग मन्त्र होंगे ।

———

सप्तदश अध्याय

अथर्ववेद की शाखाएं

१—पतञ्जलि अपने व्याकरणमहाभाष्य के पस्पशाह्निक में लिखता है—

नवधाथर्वणो वेदः ।

अर्थात्—नव शाखायुक्त अथर्ववेद है ।

२—इन नव शाखाओं के विषय में आथर्वण परिशिष्ट चरणव्यूह में लिखा है—

तत्र ब्रह्मवेदस्य नव भेदा भवन्ति । तद्यथा—

पैप्पलादाः । स्तौदाः । मौदा । शौनकीया । जाजला ।

जलदा । ब्रह्मवदा[1] । देवदर्शाः । चारणावैद्याः चेति ।[2]

इस सम्बन्ध में एक प्रकार के चरणव्यूहों का पाठ है—

पिप्पलाः । शौनकाः । दामोदाः । तोत्तायनाः । जाबालाः ।

कुनखी । ब्रह्मपलाशा[1] । देवदर्शी । चारणविद्या चेति ।

दूसरे प्रकार के चरणव्यूहों का पाठ है—

पैप्पलाः । दान्ताः । प्रदान्ताः स्तौताः । औताः । ब्रह्मदापलाशाः । शौनकी । वेददर्शी । चारणविद्या चेति ।

३—प्रपञ्चहृदय में लिखा है ।—

नवैवाथर्वणस्य । ॰ । आथर्वणिकाः पैप्पलाद-योद-तोद मोद-दायढ-ब्रह्मपद-शौनक-अङ्गिरस-देवर्षि-शाखा ।

४ ब्रह्मप्रोक्त याज्ञवल्क्य संहिता १।३१,३२ में अथर्ववेद के नौ भेद गिनाए हैं ।

५. वायुपुराण ६१।४९—५३, ब्रह्माण्डपुराण पूर्वभाग, दूसरा पाद ३५।५५–६१ तथा विष्णुपुराण ३।६।९-१३ तक के अनुसार आथर्वण शाखाभेद निम्नलिखित प्रकार से हुआ—

---

१ तुलना करो, महाभाष्य भाग २ पृष्ठ ३५२ सतत्रा ब्रह्मवृत्ता., परन्तु अर्थ संदिग्ध है ।

२ अथर्ववेद के सायणभाष्य के उपोद्घात के अन्त में आथर्वण शाखाओं के ये ही नाम मिलते हैं । हां **स्तौदा** के स्थान में वहां **तौदा** पाठ है ।

मन्तु ने दो संहिता कबन्ध को दीं।
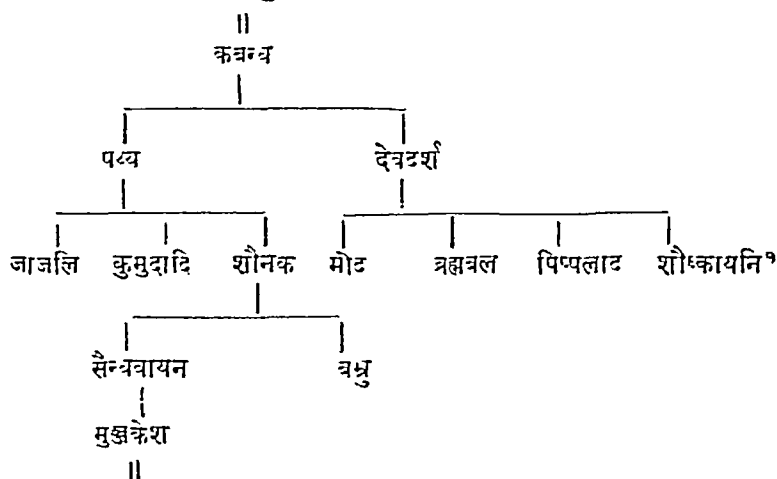
इन दोनों संहिताओं का वर्णन पुराणों में नहीं है।

६—अहिर्बुध्न्यसंहिता अध्याय १२ और २० में क्रमशः लिखा है—

साम्नां शाखाः सहस्रं स्युः पञ्चशाखा ह्यथर्वणाम् ॥९॥

अथर्वाङ्गिरसो नाम पञ्चशाखा महामुने ॥२१॥

आथर्वण पांच शाखाओं की परम्परा कैसी थी, अथवा इस पाञ्चरात्र आगम का यह मत कैसा है, इस विषय में हम अभी कुछ नहीं कह सकते। आथर्वण पांच कल्प प्रसिद्ध हैं।

७—स्कन्द पुराण पृष्ठ ८० पर अथर्ववेद की बारह शाखाएं कही हैं।

आथर्वण नौ शाखाओं के शुद्ध नाम

पूर्वोक्त आथर्वण शाखाओं के नामों में से आथर्वण चरणव्यूह में आए हुए नाम सब से अधिक शुद्ध हैं। उन में से छः के विषय में कोई सन्देह नहीं हो सकता। वे छः ये हैं—**पैप्पलादाः। मौदाः। शौनकीयाः। जाजलाः। देवदर्शाः। चारणविद्याः** वा **चारणवैद्याः**। शेष **स्तौदाः, जलदाः** और **ब्रह्मवदाः** नामों में कुछ शोधन की आवश्यकता है। **ब्रह्मवदाः** कदाचित् **ब्रह्मपलाशाः** वा **ब्रह्मबलाः** हो। अन्य दो नामों के विषय में हम कुछ विशेष नहीं कह सकते।

१—ब्रह्माण्ड, विष्णु—शौल्कायनि।

सुमन्तु

भगवान् कृष्ण द्वैपायन का चौथा प्रधान शिष्य सुमन्तु था। यह सुमन्तु जैमिनि-पुत्र सुमन्तु से भिन्न होगा। सुमन्तु नाम का धर्मसूत्रकार ही प्रसिद्ध संहिताकार था। अपने धर्मशास्त्रेतिहास के पृ० १२६-१३१ पर पाण्डुरङ्ग वामन काणे ने इस सुमन्तु के सम्बन्ध में विस्तृत लेख लिखा है। परन्तु उन का कालनिर्देश सर्वथा अशुद्ध है, आश्वलायन गृह्य के तर्पण प्रकरण के प्रतिकूल होने से। सुमन्तु धर्मसूत्र का कुछ अंश हमारे मित्र श्रीयुत टी० आर० चिन्तामणि ने मुद्रित किया है।[1] सुमन्तु अपने धर्मसूत्र में अङ्गिरा और शङ्ख को स्मरण करता है। शान्तिपर्व ४६।६ के अनुसार एक सुमन्तु शरशय्यास्थ भीष्म जी के पास था।

कबन्ध आथर्वण

सुमन्तु ने अथर्व संहिता की दो शाखाएं बना कर अपने शिष्य कबन्ध को पढ़ा दीं। बृहदारण्यक उपनिषद् ३।७ से उद्दालक आरुणि और याज्ञवल्क्य का संवाद आरम्भ होता है। उद्दालक आरुणि कहता है कि हे याज्ञवल्क्य, हम मद्रदेश में पतञ्चल काप्य के घर पर यज्ञ पढ रहे थे। उस की स्त्री गन्धर्वगृहीता थी। उस गन्धर्व को पूछा, कौन हो। वह बोला, कबन्ध आथर्वण हूं। क्या यही कबन्ध आथर्वण कभी सुमन्तु का शिष्य था। एक कबन्ध आथर्वण जै० ब्रा० ३।३१६ में उल्लिखित है। कबन्ध के साथ आथर्वण का विशेषण यह बताता है कि कदाचित् यही कबन्ध सुमन्तु का शिष्य हो।

कबन्ध ने अपनी पढी हुई दो शाखाएं अपने दो शिष्यों पथ्य और देवदर्श को पढा दीं। उन से आगे अन्य शाखाओं का विस्तार हुआ। वे शाखाएं नौ हैं। उन्हीं का आगे वर्णन किया जाता है।

१—पैप्पलादा.—स्कन्दपुराण, नागर खण्ड के अनुसार एक पिप्पलाद सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य का ही सम्बन्धी था। प्रश्न उपनिषद् के आरम्भ में लिखा है कि भगवान् पिप्पलाद के पास सुकेशा भारद्वाज आदि छः ऋषि गए थे। वह पिप्पलाद महाविद्वान् और समर्थ पुरुष था। शान्तिपर्व ४६।१० के अनुसार एक पिप्पलाद शरतल्पगत भीष्म जी के समीप विद्यमान था।

1—The Journal of Oriental Research, Madras, January—March, 1934, pp 75—88

पिप्पलादों के संहिता और ब्राह्मण दोनों ही थे। प्रपञ्चहृदय में लिखा है—

> तथाथर्वणिके पैप्पलादशाखाया मन्त्रो विंशतिकाण्डः।...।
> तद्ब्राह्मणमध्यायाष्टकम्।

अर्थात्—पैप्पलाद संहिता बीस काण्डों में है और उस के ब्राह्मण में आठ अध्याय हैं।

पैप्पलाद संहिता का अद्वितीय हस्तलेख

यह पैप्पलाद संहिता सम्प्रति उपलब्ध है। भुर्जपत्र पर लिखा हुआ इस का एक प्राचीन हस्तलेख काश्मीर में था। उस की लिपि शारदा थी। काश्मीर-महाराज रणवीरसिंह जी की कृपा से यह हस्तलेख अध्यापक रुडल्फ रोथ के पास पहुंचा। सन् १८७५ में रोथ ने इस पर एक लेख प्रकाशित किया।[1] सन् १८९५ तक यह कोश रोथ के पास ही रहा। तब रोथ की मृत्यु पर यह कोश ट्युबिङ्गन युनिवर्सिटी पुस्तकालय के पास चला गया। इस यूनिवर्सिटी के अधिकारियों की आज्ञा से उस कोश का फोटो अमरीका के बाल्टीमोर नगर से सन् १९०१ में प्रकाशित किया गया। इस प्रति के काश्मीर से बाहर ले जाए जाने से पहले उस से दो देवनागरी प्रतियां तय्यार की गई थीं। एक प्रति अब पूना के भण्डारकर इन्स्टीट्यूट में सुरक्षित है।[2] दूसरी प्रति रोथ को सन् १८७४ मास नवम्बर के अन्त में मिली थी। शारदा ग्रन्थ में १६ पत्र लुप्त हैं। दूसरा, तीसरा, चौथा और पांचवां पत्र बहुत फट चुके हैं। इन के अतिरिक्त सम्भवतः इसी कोश की एक और देवनागरी प्रति भी है। यह मुम्बई की रायल एशियाटिक सोसाइटी की शाखा के पुस्तकालय में है। उसी की फोटो कापी पञ्जाब यूनिवर्सिटी लाहौर के पुस्तकालय में संख्या ६६६२ के अन्तर्गत है। यह प्रति काश्मीर में विक्रम संवत् १९२६ में लिखी गई था।

---

1 Der Atharva-Veda in Kashmir, Tubingen, 1875

2 Descriptive Catalogue of the Government Collections of Mss. Deccan College, Poona, 1916, pp 276—277

यह सारा संग्रह अब भण्डारकर संस्था के पास है।

पैप्पलादों के अन्य ग्रन्थ

प्रपञ्चहृदय पृ० ३३ के अनुसार पैप्पलादशाखा वालों का सत अध्याय युक्त **अगस्त्य** प्रणीत एक कल्पसूत्र था। इस सूत्र का नाम हमें अन्यत्र नहीं मिला। हेमाद्रि रचित श्राद्धकल्प पृ० १४७० से आरम्भ होकर एक **पिप्पलाद श्राद्धकल्प** मिलता है। इस श्राद्धकल्प का पुनरुद्धार अध्यापक कालण्ड ने किया है।[1] वीरमित्र कृत श्राद्धप्रकाश पृष्ठ २३६ पर पिप्पलाद सूत्र उद्धृत है। प्रपञ्चहृदय के प्रमाण से आठ अध्याय का पैप्पलाद ब्राह्मण पहले कहा जा चुका है। इस के सम्बन्ध में वेङ्कटमाधव अपने ऋग्वेद भाष्य मण्डल ८।१ की अनुक्रमणी में लिखता है—

ऐतरेयकमस्माकं पैप्पलादमथर्वणाम्॥ १२॥

अर्थात्—अथर्वणों का पैप्पलाद ब्राह्मण था।

आठवें अथर्व परिशिष्ट के अनुसार अथर्ववेद १६।५६-५८ सूक्त पैप्पलाद मन्त्र हैं। उन्नीसवें काण्ड में पैप्पलादशाखा और अथर्ववेद की समानता है।

पैप्पलाद संहिता का प्रथम मन्त्र

महाभाष्य पस्पशाह्निक में अथर्वणों का प्रथम मन्त्र **शन्नो देवी** माना गया है। गोपथ ब्राह्मण १।२६ का भी ऐसा ही मत है। इसी सम्बन्ध में छान्दोग्यमन्त्रभाष्य में गुणविष्णु लिखता है—

शन्नो देवी ·। अथर्ववेदादिमन्त्रोऽयं पिप्पलाददृष्टः।

अर्थात्—पैप्पलादों का प्रथम मन्त्र **शन्नो देवी** है।

पिप्पलाद संहिता के उपलब्ध हस्तलेख में प्रथम पत्र नष्ट हो चुका है, अत गुणविष्णु के कथन की परीक्षा नहीं की जा सकती।

ह्विटने (और रोथ) का मत है कि पिप्पलाद अथर्ववेद में अथर्ववेद की अपेक्षा ब्राह्मण पाठ अधिक है, तथा अभिचारादि कर्म भी अधिक हैं।[2]

पैप्पलादशाखा और अथर्ववेद के कुछ पाठों की तुलना ह्विटने ने निम्नलिखित प्रकार स की है—

---

1 Altindischer Ahnencult, Leiden, E J Brill, 1893

2 The Kashmirian text is more rich in Brahmana Passges and in charms and incantations than in the vulgate, Whitneys trauslation of the Atharva veda, introduction p. LXXX-

अथर्व	पैप्पलाद	
तस्मात्	ततः	१०।३।८॥
जगाम	इयाय	१०।७।३१॥
यीत	या च	१०।८।१०॥
ओप	त्रिप्र	१२।१।३५॥
गृहेषु	अमा च	१२।४।३८॥

अमेरिकन ओरियण्टल सोसायटी के जर्नल में पिप्पलादशाखा का सम्पादन रोमन लिपि में हो गया है।

बड़ोदा के सूची पत्र में **पुरुषसूक्त** का एक कोश सन्निविष्ट है। संख्या उस की ३८१० है। उस के अन्त में लिखा है—

इद काण्ड शाखाद्वयगामि। पैप्पलादशाखायां जाजलशाखाया च।

पैप्पलाद-शाखागत **यां कल्पयन्ति** सूक्त व्याख्या सहिता बड़ोदा के सूचीपत्र में दिया हुआ है। यह ग्रन्थ हम ने अन्यत्र भी देखा है और आवश्यकता होने पर उपलब्ध हो सकता है। वासुदेव द्विवेदीकृत व्याख्या सहित इस सूक्त का दशहस्त लेखों के आधार पर एक सम्करण काशी से प्रकाशित हो चुका है।[1] इस का सम्पादन प० व्रजवल्लभ द्विवेदी ने किया है।

महाभाष्य ४।१।८६, ४।२।१०४, ६।३।१०१ आदि में **मौदकम्। पैप्पलादकम्** प्रयोग मिलते हैं। ४।२।६६ में **मौदा, पैप्पलादाः** प्रयोग मिलते हैं। काठक और कालापक के समान किसी समय यह शाखा भारत में अत्यन्त प्रसिद्ध रही होगी। यत्न करने पर पैप्पलाद शाखा सम्बन्धी ग्रन्थ अब भी मिल सकेंगे।

पिप्पलाद और युधिष्ठिर का संवाद मत्स्य पुराण पृ० १४५ पर उपलब्ध होता है।

२—स्तौदा.—सायण का पाठ तौदाः है। अथर्व परिशिष्ट २२।३ का लेख है—

आ स्कन्धादुरसो वापीति स्तौदायनै स्मृता।

यहां अरणि का वर्णन करते हुए स्तौदायना का मत लिखा है।

मज्झिम निकाय २।५।१०, पृ० ४२१ के अनुसार तथागत के काल में कोसल देश में तौदेय्य अथवा तोदेय्य ब्राह्मण थे।

---

१ राजकीय संस्कृत महाविद्यालय काशी की पत्रिका सारस्वती सुषमा, वर्ष ७ अंक ३,४।

गया है। इस सम्बन्ध में हमारे मित्र अध्यापक जार्ज मैल्विल बोलिङ्ग का लेख भी देखने योग्य है।[1] उन का कथन है कि अथर्ववेद १६। २३।२१ के अनुसार ८–११ काण्ड ही क्षुद्र सूक्त हैं, और यही दूसरे विभाग में होने चाहिए।

शौनकीय संहिता की मन्त्र-गणना

पञ्चपटलिकानुसार अठारह काण्डों में कुल मन्त्र ४६२७ हैं। व्हिटने के अनुसार इन काण्डों की मन्त्र-सख्या ४८३२ है। भिन्नता का कारण पर्याय सूक्त हैं। व्हिटने की गणना सम्बन्धी टिप्पणी देखने से यह भेद भले प्रकार अवगत हो जाता है।

मुद्रित शौनकीय- सहिता में अपपाठ

अथर्ववेद का प्रथम सस्करण सन् १८५६ मे बर्लिन से प्रकाशित हुआ था। इस के सम्पादक थे रोथ और व्हिटने। तदनन्तर शङ्करपाण्डुरङ्ग पण्डित ने मुम्बई मे सायणभाष्य सहित अथर्ववेद का सस्करण निकाला था। मुम्बई सस्करण पहले सस्करण की अपेक्षा बहुत अच्छा है, परन्तु इस में भी अनेक अशुद्धिया हैं। हमारे मित्र प० रामगोपाल जी ने हमारी प्रार्थना पर **दन्त्योष्ठविधि** नाम का एक लक्षणग्रन्थ सन् १६२१ में प्रकाशित किया था। उस के देखने से मुद्रित शौनकीय शाखा के अनेक अपपाठ शुद्ध हो सकते हैं। विशेष देखो दन्त्योष्ठविधि १।११॥२।३तथा२।५ इत्यादि।

पंचपटलिका और शौनकीय शाखा-क्रम

पञ्चपटलिका में अथर्ववेद का अठारहवा काण्ड पहले है और सतारहवा काण्ड उस के पश्चात् है। हम इस भेद का कारण नहीं समझ सके। जार्ज मैल्विल बोलिङ्ग की सम्मति हैं कि पञ्चपटलिका का पाठ ही आगे पीछे हो गया है—

Atleast two other passages are similarly misplaced, and there are besides probadly the lacunas already mentioned[2]

अर्थात्— पञ्चपटलिका के पाठों में उलट पलट हुआ है।

---

1 American Journal of Philology, October, 1921, p 367, 368
पञ्चपटलिका की समालोचना।

२—पूर्वोद्धृत जर्नल, पृ० ३६७।

५—**जाजला.**—गणरत्नमहोदधि ३।२३१ के अनुसार—जाजलिनोऽपत्य जाजल, नाम बनता है। पाणिनीयसूत्र ६।४।१४४ पर महाभाष्यकार वार्तिकानुसार जाजला' प्रयोग पढ़ता है। जाजलों के पुरुषसूक्त का वर्णन हम पृ० २२५ पर कर चुके हैं। बाईसवें अर्थात् अरणिलक्षण परिशिष्ट के दूसरे खण्ड में लिखा है—

बाहुमात्रा देवदर्शैर् जाजलैरुमात्रिका ॥३॥

यहां अरणि के सम्बन्ध में जाजलों का मत दर्शाया है।

६—**जलदा.**—अथर्वपरिशिष्ट २।५ में जलदों की निन्दा मिलती है—

पुरोधा जलदो यस्य मौदो वा स्यात्कदाचन।
अष्टादशभ्यो मासेभ्यो राष्ट्रभ्रंशं स गच्छति ॥१॥

अर्थात्—जलदशाखीय को पुरोहित बना कर राजा का राष्ट्र नष्ट हो जाता है।

आथर्वण परिशिष्ट अरणिलक्षण खण्ड २ में इस शाखा वालों का जलदायन नाम से स्मरण किया गया है।

७—**ब्रह्मवदा.**—इस शाखा का नाम चरणव्यूह में मिलता है।

क्या ब्रह्मवद और भार्गव एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं

बाईसवें अथर्व परिशिष्ट का नाम अरणिलक्षण है। इस के दशम अर्थात् अन्तिम खण्ड में लिखा है कि यह परिशिष्ट पिप्पलाद कथित है—

एतदेव समाख्यात पिप्पलादेन धीमता ॥४॥

अब विचारने का स्थान है कि इस परिशिष्ट के दूसरे खण्ड में अरणि मान के विषय में आठ आचार्यों के मत दिए गए हैं। और पिप्पलाद से अतिरिक्त आठ ही आथर्वण शाखाकार आचार्य हैं। अरणिलक्षण में स्मरण किए गए आचार्य हैं—स्तौदायन, देवदर्शी, जाजलि, चारणवैद्य, मौद, जलदायन, भार्गव और शौनक। पिप्पलाद ने इस परिशिष्ट में अपने नाम से अपना मत नहीं दिया। अन्य आठ आचार्यों में से सात निश्चित ही आथर्वण संहिताकार हैं। आठवां नाम भार्गव है। प्रकरणवशात् यह भी संहिताकार ही होना चाहिए। वह संहिताकार ब्रह्मवद के अतिरिक्त अन्य है नहीं, अतः ब्रह्मवद का ही गोत्र नाम भार्गव होगा। भारीम

ब्लूमफील्ड के ध्यान में यह बात नहीं आई, इसी कारण उन्हों ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ अथर्ववेद और गोपथ ब्राह्मण के १३ पृष्ठ पर ब्रह्मवदों के वर्णन में लिखा था कि—

Not found in Atharvan literature outside of the Caranavyuha

अर्थात् चरणव्यूह के अतिरिक्त अथर्व वाङ्मय मे ब्रह्मवद शाखा का नाम नहीं मिलता।

यदि हमारा पूर्वोक्त अनुमान ठीक है, कि जिस की अत्यधिक सम्भावना है, तो ब्रह्मवदों का वर्णन अथर्ववाङ्मय में भार्गव नाम के अन्तर्गत मिलता है।

८—देवदर्शा—श्मशान के मान-विषय मे कौशिक सूत्र खण्ड ३५ मे लिखा है—

एकादशभिर्देवदर्शिनाम् ॥७॥

अर्थात्—देवदर्शियों का मान ग्यारह से है।

शौनकों के मान का इन से विकल्प है। देवदर्शियो का उल्लेख जाजलों के वर्णन में भी आ चुका है। पाणिनीय गण ४।३।१०६ में देवदर्शन नाम मिलता है।

९—**चारणवैद्यः**—कौशिकसूत्र ६।३७ की व्याख्या में केशव लिखता है—

त्वमग्ने व्रतपा असि तृच सूक्त कामस्तदग्र इति पञ्चर्चं सूक्तम्। एते चारणवैद्यानां पठ्यन्ते।

अर्थात्—चारणवैद्यों के तन्त्र में ये सूक्त पढे जाते हैं।

अथर्व परिशिष्ट २२।२ में लिखा है—

चारणवैद्यैर्जघे च मौदेनाप्राङ्गलानि च ॥४॥

सहिता प्रमाण—वायु पुराण ६१।६६ तथा ब्रह्माण्ड पुराण २।३५।७८, ७९ मे चारणवैद्यो की सहिता की मन्त्र सख्या कही है। इस से प्रतीत होता है कि कभी यह सहिता बड़ी प्रसिद्ध रही होगी। दोनों पुराणों का सम्मिलित पाठ नीचे लिखा जाता है—

तथा चारणवैद्यानां प्रमाण संहितां शृणु।
षट्सहस्रमृचामुक्तमृचः षड्विंशति पुन॰ ॥

एतावदधिक तेषां यजु कामं[1] विवक्ष्यति[1] ।

अर्थात्—चारणवैद्यों की संहिता में ६०२६ ऋचाए हैं ।

आथर्वण मन्त्र-संख्या

चरणव्यूह में आथर्वण शाखाओं की मन्त्र संख्या **द्वादशैव सहस्राणि** अर्थात् १२००० लिखी है । चरणव्यूह में एक और भी पाठ है—

द्वादशैव सहस्राणि ब्रह्मत्व साभिचारिकम् ।
एतद्वेदरहस्यं स्यादथर्ववेदस्य विस्तर ॥

इस श्लोक का अभिप्राय भी पूर्ववत् ही है ।

रहस्य—प्रतीत होता है यहा वेद रहस्य में मन्त्र आदि के परिमाण का संकेत प्रदर्शित था । ब्रह्माण्ड और वायु पुराणों में चारणवैद्या की मन्त्र-संख्या गिना कर एक और आथर्वण मन्त्र संख्या दी है । उस संख्या वाले पाठ बहुत अशुद्ध हो चुके हैं तथापि विद्वानों के विचारार्थ आगे दिए जाते हैं—

एकादश सहस्राणि दश* चान्या* दशोत्तरा । [ऋचश्चान्या]
ऋचा दश सहस्राणि अशीतिस्त्रिशतानि* च ॥७०॥ [ह्यशीतिस्त्रिशदेव]
सहस्रमेक मन्त्राणामृचामुक्त प्रमाणतः ।
एतावद् भृगुविस्तारमन्यच्चाथर्विकं* बहु॥७१॥[एतावानृचि विस्तारो ह्यन्य.]
ऋचामथर्वणां पञ्च सहस्राणि विनिश्चय ।
सहस्रमन्यद्विज्ञेयमृषिभिर्विंशति विना ॥७३॥
एतदङ्गिरसा* प्रोक्त तेषामारण्यक पुनः । [एतदङ्गिरसां]

यहा मूलपाठ वायु से दिया गया है, तथा कोष्ठ में ब्रह्माण्ड पुराण के आवश्यक पाठान्तर भी दे दिए हैं। इन श्लोकों से प्रतीत होता है कि भृगु और अङ्गिरसों की पृथक् पृथक् संख्या यहां दी गई है । ब्रह्मवेद का भार्गव होना पूर्व कहा जा चुका है । उस का भी इस वर्णन से कुछ सम्बन्ध प्रतीत होता है।

आथर्वण चरणव्यूह में सारी शाखाओं की मन्त्र संख्या के विषय में लिखा है—

१—ब्रह्माण्ड—किमपि वक्ष्यते । ये पाठ सन्दिग्ध हैं ।

२—तुलना करो—ब्रह्मप्रोक्त याज्ञवल्क्य संहिता अ० १ श्लोक ३५ । सम्भवत चरणव्यूहकार ने यह श्लोक यहीं से लिया हो ।

तेषामध्ययनम्—

ऋचां द्वादशसहस्राण्यशीतिस्त्रिशतानि च।
पर्यायिक द्विसहस्राण्यन्यांश्चैवार्चिकान् बहून्।
एतद्ग्राम्यारण्यकानि षट् सहस्राणि भवन्ति।

अर्थात्—ऋचाएं १२३८० हैं। पर्याय २००० हैं। ग्राम्यारण्यक ६००० है। यह पाठ भी बहुत स्पष्ट नहीं है।

अथर्ववेद के अनेक नाम

१—अथर्वाङ्गिरस	अथर्ववेद १०।७।२०॥
२—भृग्वङ्गिरस.	आथर्वण याज्ञिक-ग्रन्थों में
३—ब्रह्मवेद	आथर्वण याज्ञिक-ग्रन्थों में
४—अथर्ववेद	सर्वत्र प्रसिद्ध

पहले दो नामों में भृगु और अथर्वा शब्द एक ही भाव के द्योतक प्रतीत होते हैं। परलोकगत मारीस ब्लूमफील्ड ने अपने अथर्ववेद और गोपथ ब्राह्मण नामक अङ्गरेजी ग्रन्थ के आरम्भ में इन नामों के कारणों और अर्थों पर बड़ा विस्तृत विचार किया है। उन की सम्मति है कि अथर्वा वा भृगु शब्द शान्त कर्मों के लिए है और अङ्गिरस शब्द घोर आदि कर्मों के लिए हैं। चूलिकोपनिषद् में अथर्ववेद को भृगुविस्तर लिखा है। वायुपुराण के पूर्व लिखित ७२वें श्लोक में भी भृगुविस्तर शब्द आया है। यह शब्द भी भृग्वङ्गिरस नाम पर प्रकाश डालता है।

अथर्ववेद सम्बन्धी एक आगम

वसिष्ठ और अथर्ववेद—किरातार्जुनीय १०।१० का अन्तिम पाद है—

कृतपदपङ्क्तिरथर्वणेव वेदः।

इस की टीका में मल्लिनाथ लिखता है—

अथर्वणा वसिष्ठेन कृता रचिता पदानां पङ्क्तिरानुपूर्वी यस्य स वेदः चतुर्थवेद इत्यर्थः। अथर्वणस्तु मन्त्रोद्धारो वसिष्ठकृत इत्यागमः।

अर्थात्—अथर्व का मन्त्रोद्धार वसिष्ठ ने किया, ऐसा आगम है। हम ने यह आगम अन्यत्र नहीं सुना। न ही प्राचीन ग्रन्थों में कोई ऐसा संकेत है। इस आगम का मूल जाने विना इस पर अधिक लिखना व्यर्थ है।

आपव वसिष्ठ—रघुवंश काव्य १।५६ के अनुसार आपव वसिष्ठ अथर्वनिधि था। बृहन्नारदीय ८।६३ में भी ऐसा लेख है।

अष्टादश अध्याय

वे शाखाएं जिन का सम्बन्ध हम किसी वेद से स्थिर नहीं कर सके

१—**आश्मरथा**—काशिकावृत्ति ४।३।१०५ पर **आश्मरथ कल्प** का उदाहरण मिलता है। भारद्वाज आदि श्रौतसूत्रों में **इति आश्मरथ्यः** [१।१६।७] **इति आलेखन** [१।१७।१], कह कर दो आचार्यों का मत प्रायः उद्धृत किया गया है। उन में से आश्मरथ्य का पिता ही इस सोत्रशाखा का प्रवक्ता है। काशिकावृत्ति के अनुसार आश्मरथ आचार्य भल्लु, शाट्यायन और ऐतरेय आदि आचार्यों से अवरकालीन है।

आश्मरथ्य आचार्य का मत वेदान्तसूत्र १।४।२० में लिखा गया है। चरक सूत्रस्थान १।१० में—**विश्वामित्राश्वरथ्यौ च** मुद्रित पाठ है। सम्भव है आश्मरथ्य के स्थान में आश्वरथ्य अशुद्ध पाठ हो गया हो।

२—**काश्यपा**—काशिकावृत्ति ४।३।१०३ पर लिखा है—**काश्यपेन प्रोक्तं कल्पमधीते काश्यपिन**। इस उदाहरण से काशिकाकार बताता है कि ऋषि काश्यप प्रोक्त एक कल्पसूत्र था। इस प्रसंग में व्याकरण महाभाष्य ४।२।६६ भी द्रष्टव्य है।

कश्यप का धर्मसूत्र प्रसिद्ध ही है। इस का एक हस्तलेख दयानन्द कालेज लाहौर के पुस्तकालय में है। इस धर्मसूत्र के प्रमाण विश्वरूप आदि अनेक पुराने टीकाकारों ने अपने ग्रन्थों में दिए हैं। सम्भव है कि कश्यप के कल्पसूत्र का ही अन्तिम भाग कश्यप धर्मसूत्र हो। महाभारत आश्वमेधिकपर्व में ९६ अध्याय हैं। यह और इस से अगले अध्याय दाक्षिणात्य पाठ में ही मिलते हैं। उत्तरीय पाठ में इन का अभाव है। इस ९६ अध्याय के सोलहवें श्लोक में काश्यप के धर्मशास्त्र का नाम मिलता है।

वाजसनेय प्रातिशाख्य ४।५ में काश्यप उद्धृत है।

३ **कर्दमायन**—मत्स्य पुराण १९७।१ में **कर्दमायन शाखेयाः** पाठ है। कर्दम २१ प्रजापतियों में एक था। शा० पर्व ३४२।३८॥

४ **कार्मन्दा**—काशिकावृत्ति ४।३।१११ से इस शाखा का पता लगता है।

५ **कार्शाश्वा**—कार्मन्दों के साथ काशिका में इस सूत्र का भी नाम मिलता है।

६. **क्रौडा**—महाभाष्य ४।२।६६ पर **क्रौडाः। काङ्कता। मौदा। पैप्पलादा** नाम मिलते हैं। क्रोड कोई संहिता वा ब्राह्मणकार है।

७. **काङ्कताः**—कौडाः के साथ काङ्कताः प्रयोग संख्या ५ में आ गया है। आपस्तम्ब श्रौत १४।२०।४ में कङ्कति ब्राह्मण उद्धृत है।

८ **वाल्मीकाः**—तैत्तिरीय प्रातिशाख्य ५।३६ के भाष्य में माहिषेय लिखता है—**वाल्मीके शाखिन**। देखो पूर्व पृष्ठ १६३।

पूर्व पृ० १६३ पर हरिषेण कालिदास का रघुवंशस्थ श्लोक उद्धृत कर चुके हैं। तदनुसार मन्त्रकृत् वाल्मीकि ही रामायण का कर्ता था। अश्वघोष उसे च्यवन ऋषि का पुत्र लिखता है। निस्सन्देह वह राम का समकालीन था। उस के रामायण को ईसा पूर्व दूसरी शती (कीथ, संस्कृत सा० इति० पृ० ४२) का लिखना महान् अज्ञान है।

यदि कोई ऐसी बात होती, तो अश्वघोष सदृश बौद्ध विद्वान् इस पर अवश्य कटाक्ष करता। वस्तुतः ईसाई मतान्धता का पारावार नहीं है।

९ **शैत्यायनः**।

१०. **कोहलीपुत्रा**—तै० प्रा० १७।२ के भाष्य में कौहलीपुत्र इसी शाखा का पाठान्तर है।

वायुपुराण ६१।४३ के अनुसार कोहल साम शाखीय था।

गोभिलगृह्य ३।४।३३ अन्तर्गत **कौहलीया** पद के भाष्य में भट्ट नारायण लिखता है—**कौहलीया नाम शाखिनः**।

साम शाखा की कोहल शिक्षा सम्प्रति मिलती है।

११. **पिङ्गल शाखा**—महाभाष्य में **पिङ्गल-काण्वस्य छात्रा**, पाठ है। एक पैङ्गलायनि ब्राह्मण बौधायन श्रौत २।७ में उद्धृत है।

१२ **पौष्करसादा**।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य ५।४० के भाष्य में माहिषेय लिखता है—

> **शैत्यायनादीनां कोहलीपुत्र-भारद्वाज--स्थविरकौण्डिन्य--पौष्करसादीनां शाखिनां**।

इन में से भारद्वाज और कौण्डिन्य शाखाओं का वर्णन याजुष

अध्याय में हो चुका है। शेष तीन अब लिख दी गई हैं। पौष्करसादि आदि को तै० प्रा० भाष्य में अन्यत्र भी शाखा नाम से लिखा गया है।

१३ **प्लाक्षा – प्लाक्षेः शाखिनः** तै० प्रा० १४।१० के माहिषेय भाष्य मे ऐसा प्रयोग है।

१४ **प्लाक्षायणा.**—माहिषेयभाष्य १४।११ में इसे शाखा माना है। यह प्लाक्षों से भिन्न शाखा है।

१५ **वाडभीकारा**—माहिषेयभाष्य १४।१३ मे इसका उल्लेख है।

१६ **साङ्कृत्याः**—माहिषेयभाष्य १६।१६ में **साङ्कृत्यस्य शाखिन.** प्रयोग है।

धर्माचार्य सांकृति भारत-रचना के समय स्वर्ग सिधार गया था। शा० पर्व २५०।१३॥

इन में से कुछ शाखाएं सम्भवत: सौत्र शाखाएं होंगी। इन मे से कुछ का सम्बन्ध कृष्ण याजुषो से है।

१७—**त्रिखर्वा.**—ताण्ड्य ब्राह्मण २।८।३ मे इस शाखा का नाम मिलता है।

१८-१९—**तैतिलाः, शैखण्डा, सौकरसद्मा.**—ये तीन नाम महाभाष्य ६।४।१८४ में मिलते हैं। इन के साथ लाङ्गला आदि नाम भी हैं, पर उन का उल्लेख सामवेद के प्रकरण में हो गया है। पाणिनीयगण ३।३।१०६ में भी अनेक संहिता प्रवचनकर्ता ऋषियो के नाम हैं। उन में से शौनक आदि का वर्णन हो चुका है। शेष शार्ङ्गरव, अश्वपेय आदि नामों का शोधन होना आवश्यक है।

२०—**प्रावचन चरण**—गङ्गराज श्री पुरुष के शक ६६३ के ताम्रशासन में लिखा है—

हारितगोत्रस्य नीलकण्ठनामधेयस्य प्रावचनचरणस्य।[1]

२१—**मीमांसा शाखा**—तै० प्रा० ५।४१ मे यह स्मृत है।

वेद-शाखा सम्बन्धी जितनी सामग्री हमारे ज्ञान में आ चुकी है, उस का वर्णन हो चुका। बहुधा यह वर्णन अत्यन्त संक्षिप्त रीति से किया गया है। इस वर्णन का एक प्रयोजन यह भी है कि आर्य विद्वान् यदि यत्न करेंगे तो अनेक अनुपलब्ध वैदिक ग्रन्थ सुलभ हो सकेंगे। वेद सम्बन्धी इतनी विशाल ग्रन्थ राशि के अनेक ग्रन्थरत्न अब भी आर्य ब्राह्मणो के घरों में सुरक्षित मिल सकते हैं। बस आवश्यकता है, परिश्रमी अन्वेषक की।

---

1 E I Vol XXVII, p I 151

ऊनविंशति अध्याय

एकायन शाखा

पाञ्चरात्र संहिताओं में "एकायन वेद" की बड़ी महिमा गाई गई है। इस आगम का आधार ही इस ग्रन्थ पर है। श्रीप्रश्नसंहिता में लिखा है—

वेदमेकायनं नाम वेदानां शिरसि स्थितम्।
तदर्थकं पाञ्चरात्रं मोक्षदं तत् क्रियावताम्॥

अर्थात्—एकायन वेद अत्यन्त श्रेष्ठ है।

इसी विषय पर ईश्वरसंहिता के प्रथमाध्याय में लिखा है—

पुरा तोताद्रिशिखरे शाण्डिल्योपि महामुनिः।
समाहितमना भूत्वा तपस्तप्त्वा सुदारुणम्॥
द्वापरस्य युगस्यान्ते आदौ कलियुगस्य च।
साक्षात् सङ्कर्षणाल्लब्ध्वा वेदमेकायनाभिधम्॥
सुमन्तुं जैमिनिं चैव भृगुं चैवौपगायनम्।
मौञ्जायनं च तं वेदं सम्यगध्यापयत् पुरा॥
एष एकायनो वेदः प्रख्यातः सर्वतो भुवि।

अर्थात्—शाण्डिल्य ने साक्षात् सङ्कर्षण से एकायन वेद प्राप्त किया। वह वेद उस ने **सुमन्तु, जैमिनि, भृगु, औपगायन,** और **मौञ्जायन** को पढ़ाया। यह एकायन वेद सारे संसार में प्रसिद्ध है।

पाञ्चरात्र आगम वालों ने अपने वेद की श्रेष्ठता जताने के लिए निस्सन्देह बहुत कुछ घड़ा है, तथापि एकायन नाम का एक प्राचीन शास्त्र था अवश्य। छान्दोग्य उपनिषद् ७।१—२ में लिखा है—

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि ... वेदानां वेदं ... निधिं वाकोवाक्यमेकायनम्।

अर्थात्—[भगवान् सनत्कुमार को नारद कहता है] हे भगवन् मैं ने ऋग्वेदादि पढ़ा है, और एकायन शास्त्र पढ़ा है। उपनिषद् का एकायन शास्त्र क्या यही पाञ्चरात्र वाला एकायन शास्त्र था, यह हम नहीं कह सकते। कई पाञ्चरात्र श्रुतियां और उसी प्रकार के उपनिषदादि वचन उत्पल अपनी स्पन्दकारिका में लिखता है (पृ० २, ८, २२, २६, ३५)।

बहुत सम्भव है कि ये श्रुतियां और उपनिषद् सदृश वचन एकायनशास्त्र के ग्रन्थों से ली गई हों।

श्री विनयतोष भट्टाचार्य ने जयाख्य संहिता की भूमिका[1] में लिखा है कि काण्वशाखामहिमासंग्रह[2] में नागेश प्रतिपादन करता है कि एकायन शाखा काण्वशाखा ही थी। सात्वत शास्त्र के अध्ययन से नागेश की कल्पना युक्त प्रतीत नहीं होती। जयाख्य संहिता का बीसवां पटल प्रतिष्ठाविधि कहा जाता है। उस में लिखा है—

> ऋङ्मन्त्रान्पाठयेत्पूर्वं वीक्ष्यमाणमुदग्दिशम्।
> यजुर्वृन्दं वैष्णवं यत् पाठयेद्देशिकस्तु तत् ॥२६२॥
> गायेत् सामानि शुद्धानि सामशः पश्चिमस्थितः ।
> भक्तश्चोदकस्थितो ब्रूयाद्दक्षिणस्थो ह्यथर्वणम् ॥२६३॥

अर्थात्—प्रत्येक वेद के मन्त्रों से एक एक दिशा में क्रिया करे। इस से आगे वहां लिखा है—

> एकायनीयशाखोत्थान् मन्त्रान् परमपावनान् ॥२६९॥

अर्थात्—आप्त यतियों को एकायनीय शाखा के परमपावन मन्त्र पढ़ाए।

यदि एकायन शाखा चारों वेदों के अन्तर्गत होती तो वेदों को कह कर, पुनः इस का पृथक् उल्लेख न होता। छान्दोग्योपनिषद् के पूर्व प्रदर्शित प्रमाण में भी एकायन शास्त्र वेदों में नहीं गिना गया, प्रत्युत अन्य विद्याओं के साथ गिना गया है।

एकायन शाखा का स्वरूप

पाञ्चरात्र की एकायन शाखा का वर्णन महाभारत शान्तिपर्व ३५८।८०-८२ श्लोकों में निम्न प्रकार से मिलता है—

> पुरुषं पुरुषं गच्छेन्निष्क्रियं पञ्चविंशकम्।
> एवमेकं सांख्ययोगं वेदारण्यकमेव च ।

१—पृ० ६, टिप्पणी ४।

२ इस ग्रन्थ का हस्तलेख राजकीय प्राच्य पुस्तकालय मद्रास के संग्रह में है।

देखो वैवर्णिक सूची भाग ३, १ बी, पृ० ३२६६।

परस्पराङ्गान्येतानि पाञ्चरात्र च कथ्यते ।
एष एकान्तिनां धर्मो नारायणपरात्मक. ।

अर्थात्—एक वैकारि पुरुष (जीव), निष्क्रिय पुरुष (परमात्मा), सांख्य, योग और वेदारण्यक । ये पाचों जिस में परस्पर अङ्ग हों वह पाञ्चरात्र कहता है । यह एकायनों का नारायण परक धर्म है ।

एकायनधर्म का निर्देश महाभारत शान्तिपर्व अ० २१६।३७ में भी मिलता है ।

सात्वत शास्त्रों के अध्ययन से हमें प्रतीत होता है कि एकायन शास्त्र भक्तिपरक शास्त्र था । उस में वेदों से भी मन्त्र लिए गए थे, और ब्राह्मणादि ग्रन्थों से भी सग्रह किया गया था, तथा अनेक बातें स्वतन्त्रता से भी लिखी गई होंगी । वेदों में से यजुर्वेद की सामग्री इस में अधिक होगी । सात्वत सहिता पच्चीसवें परिच्छेद में लिखा है—

एकायनान् यजुर्मयानाश्रावि तदनन्तरम् ॥६४॥

सात्वत सहिता के पच्चीसवें परिच्छेद में एकायन सहिता के दो मत्र लिखे हैं । वे नीचे दिए जाते हैं—

१—**ओं नमो ब्रह्मणे** ॥५३॥

२—**अजस्य नाभावित्यादिमन्त्रैरेकायनैस्तत.** ॥८॥

अजस्य नाभौ मन्त्र ऋग्वेद में १०।८२।६ मन्त्र है ।

पाञ्चरात्र की अनेक सहिताओं में से एकायन मन्त्रों का सग्रह करना, एकायन शास्त्र के ज्ञान के लिए अत्यन्त आवश्यक है । किसी भावी विद्वान् को यह काम अवश्य करना चाहिए ।

———

विंशति अध्याय

वेदों के ऋषि

वैदिक शाखाओं का वर्णन हो चुका। शाखा-प्रवचन काल भी निर्णीत कर दिया गया। अब प्रश्न होता है कि वेदों का काल कैसे जाना जाए। वेदों का काल जानने के लिए पाश्चात्य लेखकों ने अनेक कल्पनाएं की हैं। वे कल्पनाएं हैं सारी निराधार। उन से कोई तथ्य तो जाना नहीं जा सकता, हां साधारण जन उन्हें पढ़ कर भ्रम में अवश्य पड़ सकते हैं।

ऋषि इतिहास आवश्यक—वेदों का काल जानने के लिए वेदों के ऋषियों का इतिहास जानना बड़ा सहायक है। हम जानते हैं कि वेदमन्त्रों के जो ऋषि लिखे हुए हैं, अथवा मन्त्रों के सम्बन्ध में अनुक्रमणियों में जो ऋषि दिए हैं, वे सब उन मन्त्रों के आदि द्रष्टा नहीं हैं। मन्त्र उनमें से अनेक से बहुत पहले विद्यमान चले आ रहे हैं, तथापि उन ऋषियों का इतिवृत्त जानने से हम इतना कह सकेंगे कि अमुक अमुक ऋषि के अमुक अमुक मन्त्र शाखा-प्रवचन काल से इतना काल पहले अवश्य विद्यमान थे। वे मन्त्र उस काल से पीछे के हो ही नहीं सकते।

पुराणों ने उन ऋषियों का एक अच्छा ज्ञान सुरक्षित रखा है। वायुपुराण ५९।५६, ब्रह्माण्डपुराण २।३२।६२, मत्स्यपुराण १४५।५८ से यह वर्णन आरम्भ होता है। इन तीनों पुराणों का यह पाठ बहुत अशुद्ध हो चुका है, तथापि निम्नलिखित श्लोक कुछ शुद्ध कर के लिखे जाते हैं। इन के शोधन में बहुत नहीं, पर हम कुछ कुछ सफल अवश्य हुए हैं। श्लोकों के अङ्क ब्रह्माण्ड के अनुसार हैं—

> ऋषीणां तप्यतामुग्रं तपः परमदुष्करम् ॥६७॥
> मन्त्राः प्रादुर्बभूवुर्हि पूर्वमन्वन्तरेष्विह ।
> असन्तोषाद् भयाद् दुःखात् सुखाच्छ्[1] शोकाच्च पञ्चधा॥६८॥
> ऋषीणां तपः कार्त्स्न्येन दर्शनेन यदृच्छया ।

इन श्लोकों का यही अभिप्राय है कि तप आदि आठ प्रभावों से ऋषियों को मन्त्रों का साक्षात्कार हुआ। वह तब अनेक कारणों से किया गया। यही भाव निरुक्त और तै० आरण्यक ? में मिलता है।

१—मत्स्य-मोहाच्।

ऋषि–पांच प्रकार के

जिन ऋषियों को मन्त्र प्रादुर्भूत हुए, वे पाच प्रकार के हैं। उन को महर्षि, ऋषि, ऋषीक, ऋषिपुत्रक, और श्रुतर्षि कहते हैं। चरकतन्त्र सूत्रस्थान १।७ की व्याख्या म भट्टार हरिचन्द्र चार प्रकार के मुनि कहता है—

मुनिनां चतुर्विधो भेदः। ऋषय ,ऋषिका ऋषिपुत्रा महर्षयश्च

हरिचन्द्र श्रुतर्षियों को नहीं गिनता। इन पाच प्रकार के ऋषियों मे से पुराणों में अब तीन ही प्रकार के ऋषियो का वर्णन रह गया है। शेष दो प्रकार के ऋषियों के सम्बन्ध के पाठ नष्ट हो चुके हैं। इन ऋषिया के विषय का पुराणस्थ पाठ आगे लिखा जाता है—

अतीतानागतानां च पञ्चधा ह्यार्षकं स्मृतम्।
अतस्त्वृषीणां वक्ष्यामि तत्र ह्यार्षसमुद्भवम् ॥७०॥
इत्येता ऋषिजातीस्ता नामभि पञ्च वै शृणु ॥१५॥

अर्थात—अब पाच प्रकार के ऋषियों का वर्णन किया जाता है।

१—महर्षि=ईश्वर

भृगुर्मरीचिरत्रिश्च ह्यङ्गिरा. पुलह. क्रतु'।
मनुर्दक्षो वसिष्ठश्च पुलस्त्यश्चेति ते दश ॥९६॥
ब्रह्मणो मानसा ह्येते उद्भूताः स्वयमीश्वरा।
परत्वेनर्षयो यस्मात्-स्मृतास्तस्मान्महर्षय ॥९७॥

ऋषि कोटि में प्रथम दस महर्षि हैं। तुलना—शा० पर्व० २०७।३-५॥ तथा ३४६।६७ ६८॥ वे स्वय ईश्वर और ब्रह्मा के मानस पुत्र है।

२—ऋषि

इन दस भृगु आदि महर्षियों के पुत्रों का वर्णन आगे मिलता है। वे ऋषि कहाते हैं—

ईश्वराणां सुता ह्येते ऋषयस्तान्निबोधत।
काव्यो बृहस्पतिश्चैव कश्यपश्च्यवनस्तथा ॥९८॥
उतथ्यो वामदेवश्च अगस्त्यश्चौशिजस्तथा[1]।

---

१. वायु—अयोज्यश्चौशि०। ब्रह्माण्ड—अपास्यश्चौशि०। मत्स्य—अगस्त्य कौशिकस्तथा।

कर्दमो विश्रवाः शक्तिर्वालखिल्यास्तथार्वतः ॥९९॥
इत्येते ऋषयः प्रोक्तास्तपसा[1] चर्षितां[1] गताः ।

अर्थात्—उशना काव्य, बृहस्पति, कश्यप, च्यवन, उतथ्य, वामदेव, अगस्त्य, उशिक्, कर्दम, विश्रवा, शक्ति, वालखिल्य और अर्वत, ये ब्रह्मर्षियों के पुत्र ऋषि हैं, जो तप से इस पदवी को प्राप्त हुए।

३—ऋषि पुत्र = ऋषीक

ऋषिपुत्रानृषीकांस्तु गर्भोत्पन्नान्निबोधत ॥१००॥
वत्सरो नग्नहूश्चैव भरद्वाजस्तथैव च ।
ऋषिर्दीर्घतमाश्चैव बृहदुक्थः शरद्वतः ॥१०१॥
वाजश्रवा सुवित्तश्च वश्याश्वश्च[2] पराशरः ।
दधीचः शंशपाश्चैव राजा वैश्रवणस्तथा ॥१०२॥
इत्येते ऋषिकाः प्रोक्तास्ते सत्यादृषितां गताः ।

ऋषि पुत्र और ऋषिक समान हैं। (तुलना करो शा० पर्व १२३।८८)
शरद्वत पाठ चिन्त्य है। शशप का पुत्र शांशपायन पुराण प्रवक्ता हुआ।

भृगु उन्नीस

पुराणों में भृगुकुल के उन्नीस मन्त्रकृत ऋषि कहे गए हैं। उन के नाम निम्नलिखित श्लोकों में दिए हैं—

एते मन्त्रकृतः सर्वे कृत्स्नशस्तान्निबोधत ।
भृगुः काव्यः प्रचेताश्च दधीचो ह्याप्नवानपि । १०४॥
और्वोऽथ जमदग्निश्च विदः सारस्वतस्तथा ।
आर्ष्टिषेणश्च्यवनश्च वीतहव्यः सुमेधसः ॥१०५॥
वैन्यः पृथुर्दिवोदासो वाध्र्यश्वो गृत्सशौनकौ ।
एकोनविंशतिर्ह्येते भृगवो मन्त्रवादिनः ॥१०६॥

१—भृगु	६—और्व [ऋचीक]	११—च्यवन	१६—वाध्र्यश्व
२—काव्य [उशना=शुक्र]	७—जमदग्नि	१२—वीतहव्य	१७—गृत्स [मद]
३—प्रचेता	८—विद	१३—सुमेधा	१८—शौनक
४—दध्यङ् [आथर्वण]	९—सारस्वत	१४—वैन्य पृथु	
५—आप्नवान्	१०—आर्ष्टिषेण	१५—दिवोदास	

---

१ वायु-प्रोक्ता ज्ञानतो ऋषिता । २ श्या वा वध्य ?

ये अठारह ऋषि नाम हैं। पुराणों में कुल संख्या उन्नीस कही है, और वेन्य तथा पृथु दो व्यक्ति गिने हैं। वैदिक साहित्य में वैन्य पृथु एक ही व्यक्ति है, अत हम ने यह एक नाम माना है। इस प्रकार उन्नीसवां नाम कोई और खोजना पड़ेगा। इन में से अनेक ऋषि भृगु ही कहे जाते हैं। उन को मूल भृगु से सदा पृथक् जानना चाहिए। इस कुल का सर्वोत्तम वृतान्त महाभारत आदिपर्व ६०।४० से आरम्भ होता है। तदनुसार **भृगु** का पुत्र **कवि** था। कवि का **शुक** हुआ, जो योगाचार्य और दैत्यों का गुरु था। भृगु का एक और पुत्र **च्यवन** था। इस च्यवन का पुत्र **और्व** था। और्व पुत्र ऋचीक था, और ऋचीक का पुत्र **जमदग्नि** हुआ। महाभारत में इस से आगे अन्य वंशों का वर्णन चल पड़ता है। पुराणों के अनुसार च्यवन और सुकन्या के दो पुत्र थे। एक था **आप्नवान्** और दूसरा दधीच वा **दध्यङ्**। आप्नवान् का पुत्र **और्व** था। और्वों का स्थान मध्यदेश था। यहां पर इन भार्गवों का कार्तवीर्य अर्जुन से झगड़ा आरम्भ हो गया। यहीं पर अर्जुन के पुत्रों ने जमदग्नि का वध किया था। **वीतहव्य** पहले क्षत्रिय था। एक भार्गव ऋषि के वचन से वह ब्राह्मण हो गया। उसी के कुल में गृत्समद और शौनक हुए थे। गृत्समद दाशरथि राम का समकालिक था।

भृगु-कुल और अथर्ववेद

पृ० ३३८ पर हम लिख चुके हैं कि अथर्ववेद का एक नाम **भृग्वङ्गिरोवेद** भी था। इस का अभिप्राय यही है कि भृगु और अङ्गिरा कुलों का इस वेद से बड़ा सम्बन्ध था। भृगु कुल के ऋषियों के नाम ऊपर लिखे जा चुके हैं। उन मे से भृग, दध्यङ् और शौनक स्पष्ट ही आथर्वण हैं। यही शौनक कदाचित् आथर्वण शौनक शाखा का प्रवक्ता। भृगु, गृत्समद, और शुक्र तो अनेक आथर्वण सूक्तों के द्रष्टा हैं। इन में से भी शुक्र के सूक्त अधिक हैं। और भृग्वङ्गिरा के भी बहुत सूक्त हैं। अत. अथर्ववेद का भृग्वङ्गिरोवेद नाम युक्त ही है।

अथर्ववेद और दैत्यदेश

उशना शुक्र का दैत्य गुरु होना सुप्रसिद्ध है। फारस, कालडिया, बेबिलोनिया आदि देश ही दैत्य देश थे। शुक्र[1] ने इन देशों में अपने पिता से

१ देखो पूर्व पृष्ठ ७६–९२।

पढ़ी हुई आथर्वण श्रुतियों का प्रचार अवश्य किया। इसी कारण इन देशों की भाषा में कई आथर्वण शब्द बहुत प्रचलित हो गए। उन्हीं शब्दों में से पृ० १३३ पर लिखे हुए आलिगी आदि शब्द हैं। अतः बाल गङ्गाधर तिलक का यह कहना युक्त नहीं कि ये शब्द कालडिया की भाषा से अथर्ववेद में आये होंगे। ये शब्द तो शुक्र के कारण अथर्ववेद से कालडिया की भाषा में गए हैं।

योरोप दैत्यों की सन्तानों से बसाया गया, इस का विशेष उल्लेख इसी ग्रन्थ के पूर्व पृष्ठ ७६-८६ तथा अस्मद् रचित भाषा का इतिहास पृ० १०८-१०६ पर देखें।

अङ्गिरा-कुल के तेंतीस ऋषि

अङ्गिरा-कुल के निम्नलिखित तेंतीस ऋषि पुराणों में लिखे गए हैं—

१-अङ्गिरा	६-मान्धाता	१७-ऋषभ	२५-वाजश्रवा
२-त्रित	१०-अम्बरीष	१८-कपि	२६-अयास्य
३-भरद्वाज बाष्कलि	११-युवनाश्व	१६-पृषदश्व	२७-सुवित्ति
४-ऋतवाक्	१२-पुरुकुत्स	२०-विरूप	२८-वामदेव
५-गर्ग	१३-त्रसदस्यु	२१-कण्व	२६-असिज
६-शिनि	१४-सदस्युमान्	२२-मुद्गल	३०-बृहदुक्थ
७-सकृति	१५-आहार्य	२३-उतथ्य	३१-दीर्घतमा
८-गुरुवीत	१६-अजमीढ	२४-शरद्वान्	३२-कक्षीवान

तेंतीसवां नाम अशुद्ध पाठ के कारण लुप्त हो गया है। इन बत्तीस नामों में भी अनेक नामों का शुद्ध रूप हम निश्चित नहीं कर सके। इस अङ्गिरा गोत्र में आगे कई पक्ष बन गए हैं, यथा कण्व, मुद्गल, कपि इत्यादि। इस कुल का मूल अङ्गिरा बहुत पुराना व्यक्ति था। अङ्गिरा कुल के इन मन्त्र-द्रष्टाओं में मान्धाता, अम्बरीष और युवनाश्व आदि क्षत्रिय कुलोत्पन्न थे। राजा अम्बरीष भी एक बहुत पुराना व्यक्ति था। महाभारत आदि में नाभाग अम्बरीष नाम से इस का उल्लेख बहुधा मिलता है। अङ्गिरा का भी अथर्ववेद से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था। स्वतन्त्र रूप से और भृगु के साथ इस के अनेक सूक्त अथर्ववेद में हैं।

ब्रह्मवादी काश्यप छः

१—कश्यप	३—नैध्रुव	५—असित
२—वत्सार	४—रैभ्य	६—देवल

कश्यप-कुल में कुल छः ऋषि हुए हैं। इन में से असित और देवल का महाभारतकाल के इन्हीं नामों के व्यक्तियों से सम्बन्ध जानना चाहिए। सम्भवत. दोनों पिता पुत्र बहुत दीर्घजीवी थे।

आत्रेय ऋषि छः

१—अत्रि	३—श्यावाश्व	५—आविहोत्र
२—अर्चनाना	४—गविष्ठिर	६—पूर्वातिथि

पाचवें नाम के कई पाठान्तर हैं। सम्भव है यह नाम अन्धिगु हो। अन्धिगु गविष्ठिर का पुत्र और ऋग्वेद ९।१०१ का ऋषि है।

वासिष्ठ ऋषि सात

१—वसिष्ठ	३—पराशर	५—भरद्वसु	७—कुण्डिन
२—शक्ति	४—इन्द्रप्रमति	६—मैत्रावारुणि	

वासिष्ठ-कुल में ये सात ब्रह्मवादी हुए हैं। इन्हीं में एक पराशर है। यही पराशर कृष्ण द्वैपायन का पिता था। कृष्ण द्वैपायन ने महाभारत और वेदान्तसूत्रों में मन्त्रों को नित्य माना है। द्वैपायन सदृश सत्यवक्ता ऋषि जब अपने पिता के दृष्ट मन्त्रों को नित्य कहता है, तो इस नित्य सिद्धान्त की गम्भीर विवेचना करनी चाहिए। अनेक आधुनिक लोग वेद के इस नित्य सिद्धान्त के समझने में अभी तक असमर्थ रहे हैं।

ब्रह्मिष्ठ कौशिक ऋषि तेरह

१—विश्वामित्र	५—अघमर्षण	९—कील	१३—धनञ्जय
२—देवरात	६—अष्टक	१०—देवश्रवा	
३—उद्दल(बल)	७—लोहित	११—रेणु	
४—मधुच्छन्दा	८—कत	१२—पूरण	

मत्स्य ने दो नाम और जोड़े हैं। वे हैं शिशिर और शालङ्कायन। वासिष्ठों के वर्णन के पश्चात् वायुपुराण का पाठ त्रुटित हो गया है। वायुपुराण ९१। ९३ के अनुसार देवरात के कृत्रिम पिता विश्वामित्र का निज नाम विश्वरथ था।

विश्वरथ के पिता का नाम गाधी था। गाधी के पश्चात् विश्वरथ ने राज्य सभाला। कुछ दिन राज्य करने के अनन्तर विश्वरथ ने राज्य छोड़ दिया और बारह वर्ष तक घोर तपस्या की। इसी विश्वरथ

का वसिष्ठ से वैमनस्य हो गया। सत्यव्रत त्रिशङ्कु नाम का अयोध्या का एक राजकुमार था। उस की विश्वरथ ने बड़ी सहायता की। उसी का पुत्र हरिश्चन्द्र और पौत्र रोहित था। तपस्या के कारण यह विश्वरथ क्षत्रिय से ब्राह्मण ही नहीं, अपितु ऋषि बन गया। ऋषि बनने पर इस का नाम विश्वामित्र हो गया। इसी विश्वामित्र ने हरिश्चन्द्र के यज्ञ में शुनःशेप देवरात को अपना कृत्रिम पुत्र बना लिया। ऐतरेय ब्राह्मण आदि मे शुनःशेप की कथा प्रसिद्ध है। मधुच्छन्दा और अघमर्षण धर्म के सुविद्वान् थे (शा० पर्व २५०।१६॥)

आगस्त्य ऋषि तीन

१—अगस्त्य २—दृढद्युम्न (दृढायु) ३—इन्द्रबाहु (विध्मवाह)

ये तीन अगस्त्य कुल के ऋषि थे।

क्षत्रिय मन्त्रवादी दो

वैवस्वत मनु और ऐल राजा पुरूरवा, दो क्षत्रिय ऋषि थे।

वैश्य ऋषि तीन

१—भलन्दन २—वत्स ३—संकील

ये तीन वैश्यों में श्रेष्ठ थे। वैवस्वत मनु ब्राह्मण था, वह क्षत्रिय हो गया। नाभानेदिष्ठ उस का पुत्र था। नाभानेदिष्ठ क्षत्रिय नहीं बना। वह वैश्य हुआ और उसी कुल में ये तीन ऋषि हुए।

इस प्रकार कुल ऋषि ६२ थे। उन का ब्योरा निम्नलिखित है—

भृगु	१६
आङ्गिरस	३३
काश्यप	६
आत्रेय	६
वासिष्ठ	७
कौशिक	१३
आगस्त्य	३
क्षत्रिय	२
वैश्य	३
	९२

ब्रह्माण्ड में कुल संख्या ६० लिखी है, परन्तु मत्स्य में संख्या ६२ ही है। ब्रह्माण्ड का पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है। इस से आगे ब्रह्माण्ड में ही इस विषय का कुछ पाठ अधिक मिलता है। वायु का पाठ पहले ही टूट चुका था और मत्स्य का पाठ इस संख्या को गिना कर टूट जाता है। ब्रह्माण्ड म ऋषिपुत्रक और श्रुतर्षियो का वृत्तान्त भी लिखा है। ब्राह्मणो के प्रवचनकार अन्तिम प्रकार के ही ऋषि हैं। उन के नाम ब्राह्मण भाग में लिखेंगे।

वेद मन्त्र मन्त्र-द्रष्टा ऋषियो से पूर्व विद्यमान थे

हम पृ० ३४५ पर लिख चुके हैं कि वेद मन्त्रा के जो ऋषि अब मन्त्रों के साथ अनुक्रमणियो में स्मरण किए जाते हैं, वे बहुधा मन्त्रों के अन्तिम ऋषि हैं। मन्त्र उन से पहले से चल आ रहे हैं। इस बात को पुष्ट करने वाल दो प्रणाम हम ने अपने **ऋग्वेद पर व्याख्यान** म दिए थे। वे दोनों प्रमाण तथा कुछ नए प्रमाण हम नीचे लिखते हैं—

१—तैत्तिरीय संहिता ३।१।६।३०, मैत्रायणी संहिता १।५८ और ऐतरेय ब्राह्मण ५।१४ में एक कथा मिलती है। उस के अनुसार मनु के अनेक पुत्रों ने पिता की आज्ञा से पिता की सम्पत्ति बांट ली। उन का कनिष्ठ भ्राता नाभानेदिष्ठ अभी ब्रह्मचर्य वास, ही कर रहा था। गुरुकुल से लौट कर नाभानेदिष्ठ ने पिता से अपना भाग मांगा। अन्य द्रव्य वस्तु न रहने पर पिता ने उसे दो सूक्त और एक ब्राह्मण दे कर कहा कि अङ्गिरस ऋषि स्वर्ग की कामना वाले यज्ञ कर रहे हैं। यज्ञ के मध्य में व भूल कर बैठते हैं। तुम इन सूक्ता से उस भूल को दूर कर दो। जो दक्षिणा वे तुम्हे दें, वही तुम अपना भाग समझो। वे सूक्त ऋग्वेद दशम मण्डल के सुप्रसिद्ध ६१, ६२ सूक्त हैं। ब्राह्मण का पाठ तै० सं० के भाष्य मे भट्ट भास्कर मिश्र ने दिया है। अनुक्रमणी के अनुसार ऋग्वेद के इन सूक्तों का ऋषि नाभानेदिष्ठ है। नाभानेदिष्ठ का नाम भी ६१।१८ में मिलता है। इस कथा का अभिप्राय यही है कि ये सूक्त नाभानेदिष्ठ के काल से पहले विद्यमान थे, परन्तु इन का ऋषि वही नाभानेदिष्ठ है। इस कथा सम्बन्धी वक्तव्य-विशेष हमारे ऋग्वेद पर व्याख्यान म ही देखना चाहिए।

२—ऐतरेय ब्राह्मण ६।१८ तथा गोपथ ब्राह्मण ६।१ में लिखा है कि ऋग्वेद ४।१६ आदि सम्पात ऋचाओं को विश्वामित्र ने पहले (प्रथम देखा। तत्पश्चात् विश्वामित्र से देखी हुई इन्हीं सम्पात ऋचाओं को वामदेव ने जन साधारण में फैला दिया। कात्यायन सर्वानुक्रमणी के अनुसार इन ऋचाओं का ऋषि वामदेव है, विश्वामित्र नहीं। ये ऋचाएं वामदेव ऋषि से बहुत पहले विद्यमान थीं।

३—कौषीतकि ब्राह्मण १२।२ से कवष ऋषि का उल्लेख आरम्भ होता है। वहां लिखा है कि कवष ने पन्द्रह ऋचा वाला ऋग्वेद १०।३० सूक्त देखा। तत्पश्चात् उस ने इस का यज्ञ में प्रयोग किया। कौ० १२।३ में पुनः लिखा है—

कवषस्यैव महिमा सूक्तस्य चानुवेदिता।

अर्थात्—कवष की यह महिमा है, कि वह १०।३० सूक्त का उत्तरवर्ती जानने वाला है।

इस से ज्ञात होता है कि कवष से पहले भी उस सूक्त को जानने वाले हो चुके थे। अनेक स्थानों में विद् आदि धातु के साथ अनु का अर्थ क्रमपूर्वक या अनुक्रम से होता है, परन्तु वैसे ही स्थानों में अनु का अर्थ पश्चात् भी होता है। अतः कौषीतकि के वचन का जो अर्थ हम ने किया है, वह इस वचन का सीधा अर्थ ही है।

मित्रवर श्री पण्डित ब्रह्मदत्त जी के शिष्य ब्रह्मचारी युधिष्ठिर (वर्तमान प० युधिष्ठिर मीमांसक) का एक लेख आर्य-सिद्धान्त विमर्श में मुद्रित हुआ है। उस का शीर्षक है—क्या ऋषि वेद-मन्त्र रचयिता थे। उस में उन्हों ने चार प्रमाण ऐसे उपस्थित किए हैं कि जिन से हमारे वाला पूर्वोक्त पक्ष ही पुष्ट होता है। उन्हीं के लेख से लेकर दो प्रमाण संक्षिप्तरूप में आगे लिखे जाते हैं। उन के शेष दो प्रमाणों पर हम विचार कर रहे हैं—

१—सर्वानुक्रमणि के अनुसार **कस्य नूनं**··· । ऋग्वेद १।२४ का ऋषि **आजीगर्ति**=अजीगर्त का पुत्र देवरात है। यही देवरात विश्वामित्र का कृत्रिम पुत्र बन गया था और इसी का नाम शुनःशेप था। ऐतरेय ब्राह्मण ३३।३, ४ में भी यही कहा है कि शुनःशेप ने **कस्य नूनं** ऋक् द्वारा प्रजापति की स्तुति की। वररुचि कृत निरुक्तसमुच्चय[1] में इसी सूक्त के विषय

१—इस के दो संस्करण निकल चुके हैं।

में एक आख्यान लिखा है। तदनुसार इस सूक्त का द्रष्टा अजीगर्त स्वय है। यदि निरुक्तसमुच्चय का पाठ त्रुटित नहीं हो गया, तो शुनःशेप से पूर्व **कस्य नून** आदि मन्त्र विद्यमान थे।

२—तैत्तिरीय संहिता ५।२।३ तथा काठक संहिता २०।१० में ऋग्वेद ३।२२ सूक्त विश्वामित्र-दृष्ट है। सर्वानुक्रमणी के अनुसार यह सूक्त गाथी=गाधी का है। इस से भी पता लगता है कि विश्वामित्र से पहले यह सूक्त गाधी के पास था।

इन के अतिरिक्त अपने **ऋग्वेद पर व्याख्यान** में हम ने अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध किया है कि मन्त्र द्रष्टा ऋषि मन्त्र-रचयिता नहीं थे। वे मन्त्रार्थ-प्रकाशक या मन्त्र-विनियोजक आदि ही थे। हम पहले लिख चुके हैं कि भृगु, अङ्गिरा आदि ऋषि मन्त्र-द्रष्टा ऋषि थे। इन भृगु, अङ्गिरा आदि का काल महाभारत काल से सहस्रा वर्ष पूर्व था। महाभारत युद्ध का काल विक्रम से ३०४० वर्ष पहले है। अत विचारना चाहिए कि जब वेद-मन्त्र इन भृगु, अङ्गिरा आदि ऋषियों से भी बहुत पहले अर्थात् विक्रम से ४००० वर्ष से कहीं पहले विद्यमान थे, तो यह कहना कि ऋग्वेद का काल ईसा से २५००–२००० वर्ष पूर्व तक का है, एक भ्रममात्र है।

जो आधुनिक लोग भाषा मत (philology) पर बड़ा बल देकर वेद का काल ईसा से २०००–१५०० वर्ष पहले तक का निश्चित करते हैं, उन्हें भृगु, अङ्गिरा आदि के मन्त्रों की भाषा पराशर के मन्त्रों से मिलानी चाहिए। पराशर भारत-युद्ध काल का है और भृगु, अङ्गिरा आदि बहुत पहले हो चुके हैं। उन्हें पता लगेगा कि उन के भाषा-मत की कसौटी वेद मन्त्रों का काल निश्चय करने में अणुमात्र सहायता नहीं देती। वेद मन्त्रों का काल तो ऐतिहासिक क्रम से ही निश्चित हो सकता है, और तदनुसार वेद कल्पनातीत काल से चला आ रहा है। ऋषियों के इतिहास ने ही हमें इस परिणाम पर पहुँचाया है।

पाश्चात्य भाषा मत का मिथ्यात्व इसी ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय तथा 'भाषा का इतिहास' ग्रन्थ में देखिए।

मन्त्रों का पुनः पुनः प्रादुर्भाव

पूर्वोक्त प्रमाणों से यह बात निश्चित हो जाती है कि मन्त्रों का प्रादुर्भाव बार बार होता रहा है। इसीलिए अनेक बार एक ही सूक्त के

कई ऋषि होते हैं। यह गणना सौ तक भी पहुंच जाती है। यह बात सिद्ध करती है कि ऋषि मन्त्र बनाने वाले नहीं थे, प्रत्युत वे मन्त्र द्रष्टा थे। इस विषय की विस्तृत आलोचना हमारे **ऋग्वेद पर व्याख्यान** में की गई है।

मन्त्रार्थ-द्रष्टा ऋषि

मन्त्रों के बार बार प्रादुर्भाव का एक और भी गम्भीर अर्थ है। हम जानते हैं कि भिन्न भिन्न ब्राह्मण ग्रन्थों में एक ही मन्त्र के भिन्न भिन्न अर्थ किए गए हैं। एक ही मन्त्र का विनियोग भी कई प्रकार का मिलता है। मन्त्रार्थ की यही भिन्नता है जो एक ही मन्त्र में समय समय पर अनेक ऋषियों को सूझी। इसी लिए प्राचीन आचार्यों ने यह लिखा है कि ऋषि मन्त्रार्थ द्रष्टा भी थे। इस के लिए निम्नलिखित प्रमाण विचार योग्य हैं—

१—निरुक्त २।८ में लिखा है कि शाकपूणि ने सङ्कल्प किया कि मैं सब देवता जान गया हूं। उस के लिए दो लिङ्गों वाली देवता प्रादुर्भूत हुई। वह उसे न जान सका। उस ने जानने की जिज्ञासा की। उस देवता ने ऋ० १।१६४।२६ ऋचा का उपदेश किया। यही मुक्त देवता वाला मन्त्र है। इस प्रमाण से पता लगता है कि देवता ने शाकपूणि को ऋचा भी बताई और ऋगन्तर्गत अर्थ भी बताया। तभी शाकपूणि को ऋगर्थ का ज्ञान हुआ और उस ने देवता पहचानी। यह मन्त्र तो शाकपूणि से पहले भी प्रसिद्ध था। यह मन्त्र वेद का अङ्ग था और व्यास से पैल आदि इसे पढ़ चुके थे। शाकपूणि स्वयं इस मन्त्र को पढ़ चुका था। फिर भी उस के लिए इस मन्त्र का आदेश हुआ और उस ने इस मन्त्र में उभयलिङ्ग देवता देखी।

२—निरुक्त १३।१२ में लिखा है—**न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेर-तपसो वा।** अर्थात्—इन मन्त्रों में अनृषि और तपशून्य का प्रत्यक्ष नहीं होता। अब जो लोग संस्कृत भाषा के मर्म को समझते हैं, इस वचन को पढ़ते ही वे समझ लेंगे कि इस वचन का अभिप्राय यही है कि मन्त्र सर्वथा विद्यमान होते हैं और उन्हीं मन्त्रों में ऋषियों का प्रत्यक्ष होता है। गुलाब का फूल तो इस पृथिवी पर चिरकाल से मिलता है, परन्तु उस फूल के गुणों

में वेदों की दृष्टि कभी कभी ही गई है। जब जब वह दृष्टि खुलती है, तब तब उसी फूल का एक नया उपयोग सूझता है।

इन वचन के आगे निरुक्तकार लिखता है—

मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन्। को न ऋषिर्भविष्यतीति। तेभ्य एत तर्कमृषिं प्रायच्छन्। मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूळहम्। तस्माद्यदेव किंचानूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद्भवति।

इस सारे वचन का यही अभिप्राय है कि ऋषियों को बहुधा **मन्त्रार्थ** ही सूझता था। वेङ्कटमाधव अपने ऋग्भाष्य के अष्टमाष्टक के सातवें अध्याय की अनुक्रमणी में लिखता है कि निरुक्त का यह पाठ किसी प्राचीन ब्राह्मणग्रन्थ का पाठ है। वह तो वस्तुत. इसे ब्राह्मण के नाम से उद्धृत करता है। इस से पता लगता है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में भी ऋषि बहुधा मन्त्रार्थ-द्रष्टा ही माने गए हैं। यास्क के **एषु प्रत्यक्षम्** पद से निरुक्त ७।३ म आए हुए **ऋषीणां मन्त्रदृष्टय** का भी सप्तमीपरक ही अर्थ होगा। इस से भी यही पता लगता है कि उपस्थित मन्त्रों में भी ऋषियों की दृष्टिया होती थीं।

३—निरुक्त १०।१० में लिखा है—

ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता।

यहां **दृष्टार्थ** शब्द विचारणीय है। अर्थ का अभिप्राय मन्त्र भी हो सकता है और मन्त्रार्थ भी। मन्त्रार्थ वाले अर्थ से हमारा प्रस्तुत अभिप्राय ही सिद्ध होता है।

४—न्यायसूत्र ४।१।६२ पर भाष्य करते हुए किसी ब्राह्मण ग्रन्थ का प्रमाण दे कर वात्स्यायन मुनि लिखता है—

य एव मन्त्रब्राह्मणस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च ते खल्वितिहासपुराणस्य धर्मशास्त्रस्य चेति।

पुन सूत्र २।१।६७ की व्याख्या में वात्स्यायन ने लिखा है—

य एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च त एवायुर्वेदप्रभृतीनामिति।

इन दोनों वचनों से यही तात्पर्य स्पष्ट होता है कि **आप्त=साक्षात्कृतधर्मा** लोग वेदार्थ के द्रष्टा भी थे। वह वेदार्थ ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलता है, अत कहा जा सकता है कि ऋषि लोग वेदार्थ रूपी ब्राह्मणों के द्रष्टा थे। इसी का भाव यह है कि समय समय पर एक ही मन्त्र के भिन्न २ ऋषियों को भिन्न २ विनियोग दिखाई दिए।

५—यजुर्वेद के सातवें अध्याय में ४६वां मन्त्र है—

ब्राह्मणमद्य विदेय पितृमन्तं पैतृमत्यमृषिमार्षेयम् ।

यहां ऋषि पद के व्याख्यान में उवट लिखता है—**ऋषिर्मन्त्राणां व्याख्याता** । अर्थात्—ऋषि मन्त्रों का व्याख्याता है ।

६—बौधायन धर्मसूत्र २।६।३६ में ऋषि पद मिलता है । उस की व्याख्या में गोविन्द स्वामी लिखता है—**ऋषिर्मन्त्रार्थज्ञः** । अर्थात्—ऋषि मन्त्रार्थ का जानने वाला होता है ।

काशिकर जी का संस्कृत भाषा ज्ञान—कविराज सूरमचन्द जी कृत आयुर्वेद का इतिहास प्रथम भाग की समालोचना करते हुए पूना के श्री काशिकर जी ने वात्स्यायन के पूर्वोद्धृत वचन के विषय में लिखा है कि वात्स्यायन का वचन इस बात को प्रकट नहीं करता कि आयुर्वेद, इतिहास, पुराण और धर्मशास्त्र आदि के रचयिता ही ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रवक्ता थे ।[1]

इस लेख से प्रकट होता है कि असत्य योरोपीय पक्ष का दुराग्रह और हठ से रक्षण करते हुए काशिकर जी ने एक ऐसी निराधार बात कह दी है जो न्याय शास्त्र के अध्येताओं ने स्वप्न में भी नहीं जानी थी । काशिकर जी न्याय शास्त्र के इस वचन का प्रसंगानुसार अर्थ किसी विद्वान् से पढ़ लें । उन का योरोपीय कल्पित-पक्ष विद्वानों के सम्मुख उपहास मात्र का विषय है ।

७—भृगु-प्रोक्त मनुस्मृति के प्रथमाध्याय के प्रथम श्लोकान्तर्गत महर्षय पद के भाष्य में मेधातिथि लिखता है—

ऋषिर्वेदः । तदध्ययन-विज्ञान-तदर्थानुष्ठानातिशययोगात् पुरुषेऽप्यृषिशब्दः ।

अर्थात्—वेद के अध्ययन, विज्ञान, अर्थानुष्ठान आदि के कारण पुरुष में भी ऋषि शब्द का प्रयोग होता है ।

इत्यादि अनेक प्रमाणों से ज्ञात होता है कि मन्त्रार्थ-द्रष्टा के लिए भी ऋषि शब्द का प्रयोग आर्ष वाङ्मय में होता चला आया है ।

---

१ बुलेटीन आफ दि भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, सन् १६५८ ।

अनेक ऋषि-नाम मन्त्रों से लिए गए हैं

हम पृ० ३२० पर लिख चुके हैं कि **विश्वरथ** नाम के राजा ने घोर तप किया। इस तप के प्रभाव से वह ऋषि बन गया। जब वह ऋषि बन गया, तो उस का नाम विश्वामित्र हो गया।[1] इस से ज्ञात होता है कि ऋषि बनने पर अनेक लोग अपना नाम बदल कर वेद का कोई शब्द अपने नाम के लिए प्रयुक्त करते थे। शिवसंकल्प ऋषि ने भी यजु ३४।१ से शिवसंकल्प शब्द लेकर अपना नाम शिवसङ्कल्प रखा होगा। इस विषय की बहुत सुन्दर आलोचना परलोकगत मित्रवर श्री शिवशङ्कर जी काव्यतीर्थ ने अपने वैदिक इतिहासार्थ निर्णय के पृ० २४-२६ तक की है। ऐतरेयारण्यक के प्रमाण से उन्होंने दर्शाया है कि विश्वामित्र, गृत्समद आदि नाम प्राणवाचक हैं। इसी प्रकार वामदेव, अत्रि और भरद्वाज नाम भी सामान्यमात्र हो हैं। शतपथ ब्राह्मण के प्रमाणानुकूल वसिष्ठ आदि नाम इन्द्रियों के ही हैं। ऋ० १०।१५१ वाले श्रद्धासूक्त की ऋषिका श्रद्धा कामायनी ही है। इस कन्या ने अवश्य ही अपना नाम बदला होगा। इस प्रकार के अनेक प्रमाण अति सहित रीति से उक्त ग्रन्थ में दिए गए हैं। विचारवान् पाठक वहीं से इन का अध्ययन करें। हम यहा इतना ही कहेंगे कि इतिहास शास्त्र के आधार पर वेद-पाठ करने वाले के हृदय में अनायास यह सत्यता प्रकट होगी कि वेद मन्त्रों के आश्रय पर ही अनेक व्यक्तियों ने अनेक नाम रखे या बदले थे॥ इसी लिए भगवान् मनु के भृगुप्रोक्त शास्त्र १।२१ में कहा गया है कि—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥[2]

अर्थात्— वेद शब्दों से ही आदि में अनेक पदार्थों के नाम रखे गए।

---

१. ४।१।१०४ सूत्र पर महाभाष्य में लिखा है—विश्वामित्र ने तप तपा, मैं अनृषि न रहूं। वह ऋषि हो गया। पुन. उस ने तप तपा। मैं अनृषि का पुत्र न रहूँ। तब गाधि भी ऋषि हो गया। उस ने पुन. तप तपा। मैं अनृषि का पौत्र न रहूँ। तब कुशिक भी ऋषि हो गया। पिता और पितामह पुत्र के पश्चात् ऋषि बने।

२ इस वचन पर प्रभातचन्द्र के प्रलाप का सकेत पूर्व पृ० २६ पर देखें।

आर्य धर्म के जीवन-दाता ऋषि थे

आर्य धर्म के जीवन-दाता यही ऋषि लोग थे। इन्हीं के उपदेशों से आर्य संस्कृति और सभ्यता का निर्माण हुआ। इन्हीं का मान करना आर्य सम्राट् गण अपना परम कर्तव्य समझते थे। बड़े बड़े प्रतापी सम्राट् अपनी कन्याएं इन ऋषियों को विवाह में देकर अपना गौरव माना करते थे। जानश्रुति ने अपनी कन्या रैक्व को दी। लोपामुद्रा राजकन्या थी। सुकन्या भी महाराज शर्याति की पुत्री थी। इसी प्रकार के दृष्टान्तों से महाभारत आदि ग्रन्थ भरे पड़े हैं। जब जब ये ऋषिगण आर्य राजाओं की सभाओं में जाते थे, तो रत्न धन, धान्य से राजा लोग इन का मान करते थे। बस ऋषियों से बढ़ कर आर्य जनों में और किसी का स्थान न था। इन का शब्द प्रमाण होता था। ये प्रत्यक्षधर्मा थे, परम सत्यवक्ता और सत्यनिष्ठ थे। इन्हीं के बनाए हुए धर्म सूत्रों में, अनेक प्रक्षेपों के होते हुए भी, प्राचीन आर्य धर्म का एक बड़ा उज्ज्वल रूप दिखाई देता है। दुःख से पड़े हुए वर्तमान संसार के लिए वह परम शान्ति का कारण बन सकता है। वर्णाश्रम का यथार्थ निर्णय इन्हीं ऋषियों की वाणी द्वारा हो सकता है। यादव कृष्ण सदृश तेजस्वी योगी इन ऋषियों का कितना आदर करते थे, इस का दृश्य महाभारत में देखने योग्य है। जब भगवान् मधुसूदन दूत-कार्य के लिए युधिष्ठिर से विदा हुए, तो मार्ग में उन्हें ऋषि मिले। वे बोले हे केशव, सभा में तुम्हारे वचन सुनने आवेंगे। तदनन्तर श्रीकृष्ण हस्तिनापुर में पहुंच गए। उन्होंने रात्रि विदुर के गृह पर व्यतीत की। प्रातः सब कृत्यों से अवकाश प्राप्त करके वे राज सभा में प्रविष्ट हुए। सात्यकि उन के साथ था। उस समय उस सभा में राजाओं के मध्य में ठहरे हुए दाशार्ह ने अन्तरिक्षस्थ ऋषियों को देखा। तब वासुदेव जी शन्तनु के पुत्र भीष्म जी से धीरे से बोले—

> पार्थिवीं समितिं द्रष्टुमृषयोऽभ्यागता नृप ॥५४॥
> निमन्त्र्यन्तामासनैश्च सत्कारेण च भूयसा ।
> नैतेष्वनुपविष्टेषु शक्यं केनचिदासितुम् ॥५५॥(उद्योगपर्व अध्याय ९४)

अर्थात्—हे राजन्! पृथ्वी पर होने वाली इस सभा को देखने के लिए ये ऋषिगण पर्वतों से यहां उतरे हैं। इन का यथाविधि आसन और सत्कार से आदर करो। जब तक ये न बैठ जाएं, अन्य कोई भी बैठ नहीं सकता।

अर्थात्—वैशेषिक वाले ब्रह्मा से वेदोत्पत्ति मानते हैं, जैन कालासुर से और सकल बौद्ध सम्प्रदाय स्वष्टक से वेदोत्पत्ति मानते हैं।

जैनों ने कालासुर से वेदोत्पत्ति कैसे मानी, यह जैनेतिहास में ही लिखा होगा। विद्यानन्द स्वामी ने इस श्लोक में बौद्धों के जिस मत का वर्णन किया है, उस का मूल मज्झिम निकाय के पूर्व-प्रदर्शित प्रमाण में मिलता है। विद्यानन्द स्वामी के **स्वष्टक** पद का अभिप्राय **सु-अट्टक** से ही है।

वेद तो अनादि काल से चला आ रहा है। जब जब वेद का लोप होता है, वेद का प्रचार न्यून होता है, तब तब ही आर्य ऋषि उस वेद का प्रचार करते हैं, उस का अर्थ प्रकाशित करते हैं। उन वैदिक ऋषियों का इतिवृत्त, अति संक्षिप्त वृत्त लिखा जा चुका है।

ऋषि काल की समाप्ति कब हुई

सामान्यतया तो ऋषि-काल की समाप्ति कभी भी नहीं होती। तप से, योग से, ज्ञान से, वेदाभ्यास से कोई व्यक्ति कभी भी ऋषि बन सकता है, परन्तु है यह बात असाधारण ही। वेदमन्त्रों का, अथवा मन्त्रार्थों का दर्शन अब किसी विरले के भाग्य में ही होता है। अतः सैकड़ों, सहस्रों की संख्या में ऋषियों का होना जैसा पूर्व युगों में हो चुका है, भारत-युद्ध के कुछ काल पीछे तक ही रहा। इस का उल्लेख वायु आदि पुराणों में मिलता है। **युधिष्ठिर** के पश्चात् **परीक्षित्** ने हस्तिनापुर की राजगद्दी संभाली। परीक्षित् का पुत्र **जनमेजय** था। जनमेजय का पुत्र **शतानीक** और शतानीक का पुत्र **अश्वमेधदत्त** था।[1] इस अश्वमेधदत्त के पुत्र के विषय में वायुपुराण ९९ अध्याय में लिखा है—

पुत्रोऽश्वमेधदत्ताद्वै जातः परपुरञ्जय ॥२७५॥
अधिसीमकृष्णो धर्मात्मा सांप्रतोऽयं महायशाः ।
यस्मिन् प्रशासति महीं युष्माभिरिदमाहृतम् ॥२५८॥
दुराप दीर्घसत्रं वै त्रीणि वर्षाणि दुश्चरम् ।
वर्षद्वयं कुरुक्षेत्रे दृषद्वत्यां द्विजोत्तमाः ॥२५९॥

१—शतानीक ने कोई अश्वमेध यज्ञ किया होगा। उस के अनन्तर इस पुत्र का जन्म हुआ होगा। इसी कारण उस का ऐसा नाम हुआ।

अर्थात्—अश्वमेधदत्त का पुत्र अधिसीमकृष्ण था। उसी के राज्य में ऋषियों ने दीर्घ-सत्र किया।

इसी विषय के सम्बन्ध में वायुपुराण के आरम्भ में लिखा है—

> असीमकृष्णे विक्रान्ते राजन्ये ऽनुपमत्विषि।
> प्रशासतीमां धर्मेण भूमिं भूमिसत्तमे ॥१२॥
> ऋषयः संशितात्मानः सत्यव्रतपरायणाः।
> ऋजवो नष्टरजसः शान्ता दान्ता जितेन्द्रियाः ॥१३॥
> धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे दीर्घसत्रं तु ईजिरे।
> नद्यास्तीरे दृषद्वत्याः पुण्यायाः शुचिरोधसः ॥१४॥

अर्थात्—असीमकृष्ण के राज्य में ऋषियों ने कुरुक्षेत्र में दृषद्वती के तट पर एक दीर्घसत्र किया।

युधिष्ठिर के राज-त्याग के समय कलियुग आरम्भ हो गया था। तत्पश्चात् वंशावलियों के अनुसार परीक्षित् का राज्य ६० वर्ष तक रहा। जनमेजय ने ८४ वर्ष राज्य किया। शतानीक और अश्वमेधदत्त का राज्य काल ८२ वर्ष था। इन राजाओं ने लगभग २२६ वर्ष राज्य किया होगा। असीमकृष्ण इन से अगला राजा है। उस का राज्य-काल भी लम्बा था। अनुमान से हम कह सकते हैं कि उस के राज्य के पन्द्रहवें वर्ष में कदाचित् दीर्घसत्र आरम्भ हुआ हो। अर्थात् कलि के संवत् २५० में यह दीर्घसत्र हो रहा था कि जिस में ऋषि लोग उपस्थित थे। इस यज्ञ के २०० वर्ष पश्चात् तक अधिक से अधिक ऋषि रहे होंगे, क्योंकि इस यज्ञ के अनन्तर कोई ऐसा वृत्तान्त नहीं मिलता कि जब ऋषियों का होना किसी प्राचीन ग्रन्थ से पाया जाए। फलतः कहना पड़ता है कि कलि के संवत् ४८० या ४५० तक ही ऋषि लोग होते रहे।

गौतम बुद्ध के काल में भारत भूमि पर कोई ऋषि न था। बौद्ध साहित्य में ऐसा कोई प्रमाण नहीं कि जिस से बुद्ध के काल में ऋषियों का होना पाया जाए। बुद्ध के काल से बहुत बहुत पहले ही आर्य भारत का आचार्य युग प्रारम्भ हो चुका था। बुद्ध अपने काल के ब्राह्मणों को स्पष्ट कहता है कि उन ब्राह्मणों के पूर्वज ऋषि थे, पश्चात् उन के काल में कोई ऋषि न था। पृ० ३६८ पर ऐसा ही एक प्रमाण मज्झिम निकाय से दिया गया है।

आर्ष वाङ्मय का काल

जब ऋषियों के काल की समाप्ति कुछ निश्चित् हो गई, तो यह कहना बड़ा सरल है कि सारा आर्ष साहित्य कलि संवत् ४५० से पूर्व का है। मनु, बौधायन, आपस्तम्ब आदि के धर्मशास्त्र, चरक, सुश्रुत, हारीत, जतुकर्ण आदि के आयुर्वेद ग्रन्थ, भरद्वाज, पिशुन उशना, बृहस्पति आदि के अर्थशास्त्र, शाकपूणि, और्णवाभ, औपमन्यव आदि के निरुक्त, वेदान्त, मीमांसा, कपिल आदि के दर्शन, ब्राह्मण ग्रन्थ, सुतरां सहस्रों अन्य आर्ष शास्त्र, सब इस काल के अथवा इस काल से पूर्व के ग्रन्थ हैं। जिन विदेशीय ग्रन्थकारों ने हमारा यह वाङ्मय ईसा से सहस्र या पन्द्रह सौ वर्ष पहले का और अनेक अवस्थाओं में ईसा काल का बना दिया है, उन्हों ने पक्षपात से आर्ष वाङ्मय के साथ घोर अन्याय किया है।

इसी अन्याय और भ्रान्ति को दूर करने के लिए हमें इस इतिहास के लिखने की आवश्यकता पड़ी है। जितनी जितनी सामग्री हमें मिल रही है, उस से हमारा विचार दृढ हो रहा है कि भारत-युद्ध काल और आर्ष काल का निर्णय ही प्राचीन वाङ्मय के काल का निर्णय करेगा। इस ग्रन्थ के अनेक भागों के पाठ से यह बात सुविदित होती चली जाएगी। विचारवान् पाठक इस के सब भाग ध्यान से देखें।

———

एकविंशति अध्याय

आर्ष ग्रन्थों के काल के सम्बन्ध में योरोपीय लेखकों और उन के शिष्यों की भ्रान्तियां

आए दिन अनेक नए नए बौद्ध ग्रन्थ उपलब्ध हो रहे हैं। उन के कर्ताओं के नाम उन पर लिखे मिलते हैं। किसी विरले ग्रन्थ को छोड़ कर कि जिस के कर्तृ-नाम के विषय में भूल उत्पन्न हो गई हो, अन्य कभी भी किसी को यह सन्देह उत्पन्न नहीं हुआ कि अमुक ग्रन्थ अमुक व्यक्ति का बनाया हुआ नहीं है। इसी प्रकार जैन ग्रन्थों के विषय में भी कहा जा सकता है। परन्तु यह आर्ष ग्रन्थों का ही क्षेत्र है कि जिस के विषय में दुर्भाग्यवश दुराग्रही योरोपीय लेखकों द्वारा अनेक ऐसी कल्पनाएं प्रस्तुत की जाती हैं कि जिन से महती भ्रान्ति फैल रही है।

माना कि अनेक पुराण ग्रन्थ और उन के अन्तर्गत बीसियों स्थानों के माहात्म्य व्यास जी के नाम से घड़े गए हैं। यह भी माना कि अनेक स्मृति ग्रन्थ भी कई ऋषियों के नाम से प्रसिद्ध किए गए हैं, परन्तु इस का अर्थ यह नहीं है कि आर्ष साहित्य का अधिकांश भाग ऋषियों के नाम पर कल्पित किया गया है।[1]

कल्पसूत्र और उन का काल

कल्प के अन्तर्गत श्रौत, गृह्य, धर्म, और शुल्व सूत्र माने जाते हैं। अनेक कल्पों के ये श्रौत आदि सारे ही अङ्ग विद्यमान हैं और उन की अध्यायगणना भी एक ही शृङ्खला में जुड़ी हुई है। किसी किसी कल्प का धर्मसूत्र भाग और किसी किसी का शुल्व भाग अब नहीं मिलता। यह भी सम्भव है कि अनेक कल्पसूत्रों के धर्मसूत्र भाग बनाए ही न गए हों। परन्तु जिन कल्पसूत्रों के सब भाग उपलब्ध हैं, और जिन का अध्यायक्रम भी जुड़ा हुआ है, उन के विषय में यह कहना कि वे भिन्न भिन्न कालों में भिन्न भिन्न रचयिताओं द्वारा निर्माण किये गए, दुःसाहस और धृष्टता के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

---

१. देखो, हमारा Western Indologists, p 14—15

कल्पसूत्र आर्ष हैं

ये सारे कल्पसूत्र आर्ष हैं, ऋषि प्रणीत हैं।

१—पाणिनि लिखता है—

पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु।

काश्यपकौशिकाभ्यामृषिभ्यां णिनिः।

अर्थात्—काश्यप और कौशिक ऋषियों से प्रोक्त ब्राह्मणों और कल्पों में णिनि प्रत्यय होता है।

फलतः पाणिनि की दृष्टि में कल्पसूत्र आर्ष हैं।

२—व्याकरण महाभाष्य ५।२।९४ में पतञ्जलि लिखता है—

सत्मात्रे चर्षिदर्शनम्।

सन्मात्रे च पुनः ऋषिदर्शयति मतुपम्। यवमतीभिरद्भिर्यूपं प्रोक्षति इति[1]।

अर्थात्—सत्तामात्र में ऋषि मतुप् का प्रयोग दर्शाता है। जैसा **यवमतीभि** प्रयोग में दिखाई देता है।

यवमतीभि: वचन किसी कल्पग्रन्थ का सूत्र है। उस के विषय में पतञ्जलि स्पष्ट कहता है कि यह **ऋषिवचन** है। जब यह ऋषिवचन है, और किसी कल्प का सूत्र है, तो वह कल्प अवश्य ऋषि-प्रणीत होगा।

३ कुमारिल भी तन्त्रवार्तिक के कल्पसूत्राधिकरण में यही मत स्वीकार करता है।

ऋषि काल कलिसंवत् के ४५० वर्ष तक ही रहा है, अतः यह कल्प और दूसरे ऋषि प्रणीत कल्प उस काल के या उस से भी पहले के हैं।

योरोपीय पक्ष की हेयता—पाणिनि, पतञ्जलि और कुमारिल के सम्मुख योरोपीय पक्ष हेय है।

कल्प-सूत्रों के इतना प्राचीन होने में अन्य प्रमाण

१—कल्पसूत्र पाणिनि से बहुत पूर्व के हैं। **पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु** ४।३।१०५ सूत्र से यह भाव निकलता है कि प्राचीन और उन की अपेक्षा कुछ नवीन, दोनों ही प्रकार के कल्पसूत्र पाणिनि से पहले बन चुके थे।

---

१ तुलना करो आश्वलायन गृह्य १।९।२०—यवमतीभिरद्भिः पुरस्तात् प्रोक्षति।

पाणिनि का काल

पाणिनि का काल बुद्ध जन्म से बहुत पूर्व का है। आर्यमञ्जु-श्रीमूल-कल्प के आधार पर श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने वैयाकरण पाणिनि को ३६६ ३३८ ईसा पूर्व रखा है। यही महापद्म नन्द का काल था। मूलकल्प में यह कहीं नहीं लिखा कि महापद्म नन्द का मित्र वैयाकरण पाणिनि था। वहां तो लिखा है—

वररुचिर्नाम विख्यात अतिरागो अभूत् तदा ॥४३३॥
नियतं श्रावके वोधौ तस्य राज्ञो भविष्यति।
तस्याप्यन्यतम सख्य पाणिनिर्नाम माणवः ॥४३७॥

अर्थात्—वररुचि नाम के मन्त्री से उस का बड़ा अनुराग था। उस का दूसरा मित्र पाणिनि नाम का माणव था।

मूलकल्प के इतने लेख से यह परिणाम कभी नहीं निकल सकता कि मूलकल्प में वैयाकरण पाणिनि का उल्लेख है। नन्दकाल में यही दो नाम देख कर कथासरितसागर आदि के लेखकों को भी धोखा हुआ है। वैयाकरण पाणिनि बहुत पुराना आचार्य है। इस के काल का पूर्ण निर्णय आगे करेंगे।

इस की अधिक विवेचना श्री प० युधिष्ठिर जी मीमांसक के 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' नामक (प्रथम भाग) असाधारण ग्रन्थ में देखें।

२—कल्पसूत्र बुद्ध-काल से पहले के हैं। बुद्ध जिन विद्वान् ब्राह्मणों से मिला है, उन में से कई एक के विषय में लिखा है कि वे कल्प जानते थे। मज्झिम निकाय २।५।३ में लिखा है कि श्रावस्ती का आश्वलायन निघण्टु-केटभ = कल्प, शिक्षा, तीन वेद और इतिहास वेद आदि में पारङ्गत था। वह वैयाकरण भी था। वहीं २।५।१० में लिखा है कि सगारव नामक माणव निघण्टु-केटभ = कल्प, शिक्षा, सहित तीनों वेदों का पारङ्गत था।

बुद्ध-काल से बहुत पहले सब कल्प बन चुके थे, और यज्ञों के बहु-प्रचार का साधन हो गए थे।

इस सम्बन्ध में इस इतिहास के कल्प सूत्र भाग में अन्य अनेक प्रमाण दिए जाएंगे। हमारे इस कथन के विपरीत योरोपीय ग्रन्थकार और उन के भावों के अनुसार लिखने वाले लोग कहते हैं कि आपस्तम्ब आदि

कल्प ६००–३०० ईसा पूर्व तक बने हैं। पाण्डुरङ्ग वामन काणे ने अपने धर्मशास्त्रेतिहास पृ० ४५ पर ऐसा ही लिखा है। ऐतरेय और कौषीतकि ब्राह्मणों के अङ्गरेजी अनुवाद की भूमिका के पृ० ४८ पर अध्यापक आर्थर बैरीडेल कीथ का भी लगभग ऐसा ही मत है। आधुनिक बङ्गाली ग्रन्थकार तो बुद्ध के समकालीन आश्वलायन को ही आश्वलायन कल्प का कर्ता मानते हैं। ये सब लेखक आर्ष काल और आचार्य-काल का पूरा भेद नहीं जान पाए।

वेदों की समस्त शाखाए आर्ष-काल की ही उपज हैं। अनेक अवस्थाओं में जिन जिन ऋषियों ने संहिता और ब्राह्मणों का प्रवचन किया था, उन्हीं ऋषियों ने अपने कल्प सूत्र भी बना दिए थे। पैङ्गि ब्राह्मण, और पैङ्गि कल्प का रचयिता एक ही ऋषि है। इसी प्रकार चरक संहिता, चरक ब्राह्मण और चरक कल्प का प्रवक्ता भी एक ही है। शाट्यायन आदि के ग्रन्थ भी इसी कोटि के हैं। शाखा गणना में अनेक सौत्र शाखाए भी गिनी जाती हैं। वे सब शाखाए बुद्ध-काल या उस से दो तीन सौ वर्ष पहले की उपज नहीं हैं। यह सब वाङ्मय आर्ष-काल का ही प्रवचन है। अत. इस का काल बुद्ध से सहस्रों वर्ष पूर्व का है।

भृगु-प्रोक्त मानव धर्मशास्त्र आर्ष है।

मनुस्मृति के सैकडों हस्तलेखों के प्रति अध्याय के अन्त में लिखा मिलता है कि **इति श्री मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां**। अर्थात् मनु की यह संहिता भृगु-प्रोक्त है। यह भृगु ऋषि है। इसी के साथी नारद ने मनु के शास्त्र का एक दूसरा सङ्कलन किया है। वह नारद

नाटक में मानवधर्मशास्त्र का स्मरण करता है। उस के लेख से प्रतीत होता है कि मानवधर्मशास्त्र उस से बहुत बहुत पहले काल का ग्रन्थ था।

गौतम आदि के प्राचीन दर्शन आर्ष हैं

गौतम न्यायसूत्र के विषय में यकोबी, कीथ, रेण्डल, सतीशचन्द्र और विनयतोष भट्टाचार्य आदि का मत है कि वर्तमान न्यायसूत्र ईसा की तीसरी शताब्दी के समीप संस्कृत हुए हैं। ये लेखक भी उसी भ्रान्ति में पड़े हैं कि जिस में उन के अन्य साथी निमग्न थे। विद्वान् लोग जानते हैं कि न्याय आदि दर्शनों के मूल पाठों म उन के अनेक प्राचीन भाष्यों के अनेक पाठ इस समय तक सम्मिलित हो चुके हैं। उन प्रक्षिप्त पाठों के आधार पर मूल ग्रन्थ का काल निश्चित नहीं करना चाहिए। अनेक होते हुए भी ये प्रक्षेप अधिक नहीं हैं, और मूल ग्रन्थ का स्वरूप बहुत नहीं बदला गया।

इस न्यायसूत्र के विषय में २।१।५७ सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन लिखता है—

तस्येति शब्दविशेषमेवाधिकुरुते भगवानृषि।

इस से ज्ञात होता है कि वात्स्यायन की दृष्टि मे न्यायसूत्रों का कर्ता गौतम एक ऋषि था। वात्स्यायन के काल तक, नहीं नहीं, उस के सैकड़ों वर्ष उत्तर-काल तक आर्य विद्वानों को अपनी परम्परा यथार्थरूप से ज्ञात थी। वे अपने वाङ्मय के इतिहास को भले प्रकार जानते थे। उन में से वात्स्यायन सदृश विद्वान् का लेख सहसा त्यागा नहीं जा सकता। अत· यह निश्चित है कि गौतम का न्याय सूत्र ग्रन्थ कलिसंवत् ५०० से पूर्व निर्माण हो चुका था।

आर्ष दर्शनों में अनेक बौद्ध मतों का खण्डन

जो लोग आर्ष दर्शनों को बौद्ध काल का वा उस के पश्चात् का कहते हैं, उन की एक युक्ति यह है कि इन दर्शनों में विज्ञानवाद आदि मतों का खण्डन है। हम अभी कह चुके हैं कि इन दर्शनों के पुरातन भाष्यों के अनेक पाठ इन मूल सूत्रों में मिल गए हैं। दर्शनों में नवीन विचारों के समावेश और खण्डन का यह भी एक कारण है। इस के अतिरिक्त भी एक कारण है। वह है कई दर्शनों से पूर्व बार्हस्पत्य मत के प्रचार का।

कल्प ६००–३०० ईसा पूर्व तक बने हैं। पाण्डुरङ्ग वामन काणे ने अपने धर्मशास्त्रेतिहास पृ० ४५ पर ऐसा ही लिखा है। ऐतरेय और कौषीतकि ब्राह्मणों के अङ्गरेजी अनुवाद की भूमिका के पृ० ४८ पर अध्यापक आर्थर बेरीडेल कीथ का भी लगभग ऐसा ही मत है। आधुनिक बङ्गाली ग्रन्थकार तो बुद्ध के समकालीन आश्वलायन को ही आश्वलायन कल्प का कर्ता मानते हैं। ये सब लेखक आर्ष काल और आचार्य-काल का पूरा भेद नहीं जान पाए।

वेदों की समस्त शाखाएं आर्ष-काल की ही उपज हैं। अनेक अवस्थाओं में जिन जिन ऋषियों ने संहिता और ब्राह्मणों का प्रवचन किया था, उन्हीं ऋषियों ने अपने कल्प सूत्र भी बना दिए थे। पैङ्गि ब्राह्मण, और पैङ्गि कल्प का रचयिता एक ही ऋषि है। इसी प्रकार चरक संहिता, चरक ब्राह्मण और चरक कल्प का प्रवक्ता भी एक ही है। शाट्यायन आदि के ग्रन्थ भी इसी कोटि के हैं। शाखा गणना में अनेक सौत्र शाखाएं भी गिनी जाती हैं। ये सब शाखाएं बुद्ध-काल या उस से दो तीन सौ वर्ष पहले की उपज नहीं हैं। यह सब वाङ्मय आर्ष-काल का ही प्रवचन है। अत: इस का काल बुद्ध से सहस्रों वर्ष पूर्व का है।

भृगु-प्रोक्त मानव धर्मशास्त्र आर्ष है।

मनुस्मृति के सैकड़ों हस्तलेखों के प्रति अध्याय के अन्त में लिखा मिलता है कि **इति श्री मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां**। अर्थात् मनु की यह संहिता भृगु-प्रोक्त है। यह भृगु ऋषि है। इसी के साथी नारद ने मनु के शास्त्र का एक दूसरा सङ्कलन किया है। वह नारद भी ऋषि था। अत: ये ग्रन्थ भी आर्ष-काल के ही हैं। इसी लिए मनु के शतशः प्रमाण महाभारत आदि में मिलते हैं। यदि यत्न किया गया तो मनु के इसी भृगुप्रोक्त धर्मशास्त्र पर ईसा से सैकड़ों वर्ष पहले के भागुरि, भर्तृयज्ञ, असहाय और देवस्वामी के भाष्य भी मिल जाएंगे। कल्पसूत्रों, दर्शनों और धर्मशास्त्र आदिकों के प्राचीन भाष्यों की खोज परमावश्यक है। उन भाष्य ग्रन्थों के मिलते ही, अनेक मूल ग्रन्थों के अति प्राचीन होने का तथ्य खुल जाएगा।

ईसा से कई सौ वर्ष पहले होने वाला भास कवि अपने प्रतिमा

नाटक में मानवधर्मशास्त्र का स्मरण करता है। उस के लेख से प्रतीत होता है कि मानवधर्मशास्त्र उस से बहुत बहुत पहले काल का ग्रन्थ था।

गौतम आदि के प्राचीन दर्शन आर्ष हैं

गौतम न्यायसूत्र के विषय में यकोबी, कीथ, रेण्डल, सतीशचन्द्र और बिनयतोष भट्टाचार्य आदि का मत है कि वर्तमान न्यायसूत्र ईसा की तीसरी शताब्दी के समीप सस्कृत हुए हैं। ये लेखक भी उसी भ्रान्ति में पड़े हैं कि जिस में उन के अन्य साथी निमग्न थे। विद्वान् लोग जानते हैं कि न्याय आदि दर्शनों के मूल पाठों में उन के अनेक प्राचीन भाष्यों के अनेक पाठ इस समय तक सम्मिलित हो चुके हैं। उन प्रक्षिप्त पाठों के आधार पर मूल ग्रन्थ का काल निश्चित नहीं करना चाहिए। अनेक होते हुए भी ये प्रक्षेप अधिक नहीं हैं, और मूल ग्रन्थ का स्वरूप बहुत नहीं बदला गया।

इस न्यायसूत्र के विषय में २।१।५७ सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन लिखता है—

तस्येति शब्दविशेषमेवाधिकुरुते भगवानृषि।

इस से ज्ञात होता है कि वात्स्यायन की दृष्टि में न्यायसूत्रों का कर्ता गौतम एक ऋषि था। वात्स्यायन के काल तक, नहीं नहीं, उस के सैकड़ों वर्ष उत्तर-काल तक आर्य विद्वानों को अपनी परम्परा यथार्थरूप से ज्ञात थी। वे अपने वाङ्मय के इतिहास को भले प्रकार जानते थे। उन में से वात्स्यायन सदृश विद्वान् का लेख सहसा त्यागा नहीं जा सकता। अतः यह निश्चित है कि गौतम का न्याय सूत्र ग्रन्थ कलिसंवत् ५०० से पूर्व निर्माण हो चुका था।

आर्ष दर्शनों में अनेक बौद्ध मतों का खण्डन

जो लोग आर्ष दर्शनों को बौद्ध काल का वा उस के पश्चात् का कहते हैं, उन की एक युक्ति यह है कि इन दर्शनों में विज्ञानवाद आदि मतों का खण्डन है। हम अभी कह चुके हैं कि इन दर्शनों के पुरातन भाष्यों के अनेक पाठ इन मूल सूत्रों में मिल गए हैं। दर्शनों में नवीन विचारों के समावेश और खण्डन का यह भी एक कारण है। इस के अतिरिक्त भी एक कारण है। वह है कई दर्शनों से पूर्व बार्हस्पत्य मत के प्रचार का।

चार्वाक बृहस्पति

चार्वाक बृहस्पति नास्तिक कहा जाता है। अनुमान होता है कि वही एक अर्थशास्त्र का भी कर्ता था। बृहस्पति के शिष्य लोकायत भी कहाते हैं। उन में से किसी एक लोकायत के विषय में तत्वसंग्रह २६८५ की व्याख्या में कमलशील लिखता है—

मिथ्यार्थशास्त्रश्रवणाद् व्यामूढो लोकायत सिद्धेऽप्यनुमानस्य प्रामाण्ये सांख्यवन्न तद्व्यवहार प्रवर्तयति ।

अर्थात्—मिथ्या अर्थशास्त्र के श्रवण से व्यामूढ हुआ हुआ लोकायत अनुमान प्रमाण का व्यवहार नहीं करता।

इस लेख से कमलशील का यही अभिप्राय प्रतीत होता है कि लोकायत अपने गुरु बृहस्पति के अर्थशास्त्र को पढ़ते थे, और यह अर्थशास्त्र चार्वाक बृहस्पति का बनाया हुआ था। यह चार्वाक बृहस्पति महाभारत-काल से बहुत पहले हो चुका था। आर्य दर्शनो में जहा जहा नास्तिक मत का खण्डन मिलता है, वहा मुख्यतया इसी मत का खण्डन है। बौद्ध लोगों के कई सिद्धान्त इसी नास्तिक मत का रूपान्तर हैं, अत आर्ष दर्शनों के भाष्यकारों ने अनेक सूत्रा के व्याख्यानों में चार्वाक के खण्डन में बौद्ध मतों का भी खण्डन दर्शा दिया है।

इन सब बातों को ध्यान में रख कर कहना पड़ता है कि आर्य दर्शनों के भाष्यों में बौद्ध मतो के खण्डन के कारण मूल दर्शन बुद्ध काल के पश्चात् के नहीं है। आर्य दर्शन आर्ष हैं और कलि सवत् ५०० से पहले के हैं।

गौतम दर्शन की प्राचीनता में अन्य प्रमाण

मेधातिथि गौतम—न्यायसूत्र के प्राचीन होने में अन्य प्रमाण भी हैं। प्रथितयशा भास कवि अपने प्रतिमा नाटक मे मेधातिथि रचित न्यायशास्त्र का स्मरण करता है। लण्डन के अध्यापक बार्नेट ने कल्पना की थी कि मेधातिथि के न्यायशास्त्र से न्याय=मीमांसा की उक्तियों स पूर्ण मनु का मेधातिथि भाष्य समझना चाहिए। यह कल्पना सारहीन है। कहा अश्वघोष आदि से पूर्व का भास कवि और कहा नवम शताब्दी ईसा के समीप का भट्ट मेधातिथि।

विद्वान् लोग जानते हैं कि ऋषि काल में एक मेधातिथि गौतम भी था। महाभारत शान्तिपर्व अ० २७२।४४, ४५ में अहल्या का पति मेधातिथि गौतम बताया गया है। भास का अभिप्राय उसी से है। और वही विद्वान् गौतम इस न्यायसूत्र का कर्ता है।

इसी सम्बन्ध में एक और बात भी विचारणीय है। नागार्जुन के शिष्य आर्यदेव के शतशास्त्र पर वसु की एक टीका है। इन दोनों का चीनी अनुवाद ही इस समय तक उपलब्ध हुआ है। उन का आङ्गल भाषा अनुवाद अध्यापक गिस्पिपी टूची ने किया है। इस टीका में न्यायदर्शन के अनेक सूत्रों की ओर संकेत किया गया है। इस ग्रन्थ में लिखा है कि उद्दालक आरुणि आदि उत्कृष्ट=तत्व ज्ञान वाले पुरुष थे। बौद्ध इस बात का खण्डन करता है। अब विचारने का स्थान है कि बौद्ध न्याय के ग्रन्थ में मुख्यतया किसी दार्शनिक के ज्ञान की ही प्रशंसा मिल सकती है। अतः उद्दालक आरुणि भी कोई दार्शनिक ही था। शतपथ आदि ब्राह्मण ग्रन्थों में उद्दालक आरुणि को गौतम के नाम से बहुधा सम्बोधन किया गया है। मेधातिथि और उद्दालक सम्बन्धी थे। वे दोनों न्याय में प्रवीण थे। न्यायशास्त्र के प्रथम सूत्र में तत्वज्ञान से ही निःश्रेयस-प्राप्ति कही गई है। अत न्यायसूत्रों का कर्ता तत्वज्ञानी था।

उद्दालक आरुणि के कुल में न्यायशास्त्र का प्रचार सुप्रसिद्ध है। इसी के पुत्र श्वेतकेतु और कन्या सुत अष्टावक्र ने प्रसिद्ध नैयायिक वादी को पराजित किया था। इस विषय की पूर्ण विवेचना दर्शन शास्त्र के इतिहास में की जाएगी। हां, इतना निश्चित ही है कि न्याय सूत्र आर्ष है।

इसी प्रकार कापिल, मीमांसा, वैशेषिक आदि सूत्रों के भी आर्ष होने में कोई सन्देह नहीं।

आयुर्वेदीय चरक आदि तन्त्र आर्ष हैं

हार्नले आदि योरोपीय लेखकों ने लिखा है कि चरक शास्त्र का प्रतिसंस्कर्ता चरक कनिष्क का राजवैद्य था। यह उन की नितान्त भूल है। चरक तन्त्र का उपदेश करने वाला भगवान पुनर्वसु आत्रेय था। अग्निवेश, भेल, जतुकर्ण, पराशर, हारीत और क्षारपाणि आदि उस के शिष्य थे। इस का प्रतिसंस्कार चरक ने किया। चरक का पुरातन व्याख्याकार भट्टार हरिचन्द्र प्रतिसंस्कर्ता को तन्त्रकर्ता भी कहता है।

चरक तन्त्र में प्रतिसंस्कर्ता का काम अत्यन्त स्वल्प है। वह एक प्रकार से तन्त्र को विषद् करने के लिए टिप्पणीमात्र ही करता है कि अमुक वचन किस का है। **इति ह स्माह भगवानात्रेय**—यह प्रतिसंस्कर्ता का वचन है। चरक तन्त्र मे ऐसी टिप्पणी बहुत थोडी है। अधिकांश पाठ आत्रेय और अग्निवेश का ही है। चरक तन्त्र का अन्तिम पूर्ति करने वाला दृढबल था। उस के भाग भी पृथक् ही दीख जाते हैं। अत. हम निश्चय से कह सकते हैं कि चरक तन्त्र में कौन सा भाग किस का है। आत्रेय, अग्निवेश और चरक तीनों ऋषि थे। चरक तन्त्र सूत्रस्थान पचीस अध्याय में लिखा है—

पुरा प्रत्यक्षधर्माणं भगवन्त पुनर्वसुम् ।
समेतानां महर्षीणां प्रादुरासीदियं कथा ॥३॥

अर्थात्—भगवान् पुनर्वसु प्रत्यक्षधर्मा = ऋषि था।

वाग्भट्ट का मत है कि चरक तन्त्र ऋषिप्रणीत है—

ऋषिप्रणीते प्रीतिश्चेन्मुक्त्वा चरकसुश्रुतौ ।
भेडाद्या किं न पठ्यन्ते तस्माद् ग्राह्य सुभाषितम् ॥

अर्थात्—चरक, सुश्रुत और भेड आदि के तन्त्र ऋषिप्रणीत हैं।

भगवान् आत्रेय बौद्ध कालीन नहीं है

आयुर्वेद ग्रन्थों के प्रसिद्ध उद्धारक श्री यादवशर्मा का मत है कि तक्षशिला का बौद्ध कालीन आचार्य आत्रेय ही चरक का उपदेष्टा है।[1] चरक शास्त्र के पाठ से यह बात सत्य प्रतीत नहीं होती। चरक क. आरम्भ के श्लोकों में हिमालय पर अनेक ऋषियों का एकत्र होना लिखा है। हम इस ग्रन्थ में अनेक स्थलो पर लिख चुके हैं कि वे ऋषि ब्रह्मज्ञान के निधि थे, और उन में से कई एक कई वैदिक शाखाओं के प्रवक्ता थे। उनका काल भारत युद्ध से पूर्व का काल ही था। हमारे इस ग्रन्थ के पढने से यह बात बहुत स्पष्ट हो सकती है। आत्रेय भी उन्हीं ऋषियों में से एक था, अतः वह भारत युद्ध से पूर्व कालीन ही था।

इस चरक तन्त्र पर भट्टार हरिचन्द्र की टीका का थोड़ा सा भाग अब भी मिलता है। मित्रवर वैद्य मस्तराम जी ने उस का सम्पादन किया है। यह टीका बहुत पुरानी है। सभवत: पांचवीं शताब्दी ईसा से पूर्व की होगी। उस से पहले भी चरक तन्त्र पर अनेक टीकाएं थीं। हरिचन्द्र **एके** आदि कह कर

१. निर्णयसागर मुद्रित सटीक चरकतन्त्र का दूसरा संस्करण, सन् १९३५, भूमिका।

उन के प्रमाण देना है। विद्वान् वैद्यों को यत्न करना चाहिए कि वे टीकाए सुलभ हो जाए। तब हमारे कथन की सत्यता और भी प्रकट हो जाएगी।

जो लेखक चरक तन्त्र का बौद्ध काल में लिखा जाना मानते हैं, उन्हें भेल आदि तन्त्रो का निर्माण भी उसी काल में मानना पड़ेगा। बौद्ध काल म किसी भेल या जतुकर्ण आदि का अस्तित्व दिखाई ही नहीं देता। भेल के अनेक श्लोक चरक के श्लोकों से अक्षरश. मिलते हैं। दोनों का एक ही गुरु था, अत: उन के श्लोकों की समानता स्वाभाविक ही है। इस लिए कहना पड़ता है कि जिस आर्ष काल म भेल आदि तन्त्र बने, उसी काल म चरक तन्त्र भी लिखा गया था।

चरक तन्त्र सूत्रस्थान २६ ६।६ में कहा है कि चैत्ररथ के रम्य वन मे आत्रेय आदि महर्षि एकत्र हुए। उन में एक वैदेह राजा निमि भी था। मज्झिम निकाय २।४।३ के अनुसार बुद्ध कहता है कि उस से पूर्व के काल में

राजा निमि का कराल-जनक नामक पुत्र हुआ। वह उन का [विदेहों का] अन्तिम पुरुष हुआ। बुद्ध के काल से पहले तो निमि का पुत्र भी मर चुका था। अत: निमि तो और भी पहले हुआ था। इस से निश्चित होता है कि बुद्ध के काल का आत्रेय पुनर्वसु आत्रेय नहीं था। पुनर्वसु आत्रेय बुद्ध से बहुत पहले हो चुका था।

इसी प्रकार सुश्रुत, भेल आदि तन्त्र भी आर्ष काल के ही ग्रन्थ हैं।

पार्षद=प्रातिशाख्य ग्रन्थ आर्ष हैं।

ऋक्, तैत्तिरीय, वाजसनेय, अथर्व आदि प्रातिशाख्य अब भी मिलते हैं। ऋक् प्रातिशाख्य के विषय में स्पष्ट ही लिखा है कि यह शौनक प्रणीत है। इतना ही नहीं, प्रत्युत विष्णुमित्र भाष्यकार तो शौनक प्रातिशाख्य की शास्त्रावतार कथा भी किसी पुरानी स्मृति से स्मरण करता है—

शौनको गृहपतिर्वै नैमिषीयैस्तु दीक्षितै.।
दीक्षासु चोदित प्राह सत्रे तु द्वादशाहिके॥

अर्थात्—नैमिषारण्य में द्वादशाह नामक सत्र की दीक्षा के समय दीक्षित शिष्यों से प्रेरित किए गए शौनक ने यह प्रातिशाख्य कहा।

इस का अभिप्राय यह है कि कलिसंवत् २५० के समीप ही इस ऋक्-प्रातिशाख्य का निर्माण हुआ होगा। तैत्तिरीय आदि प्रातिशाख्य भी उस काल में वा उस काल तक बन चुके थे। यास्क भी उस समय अपना निरुक्त लिख चुका

था। यास्क की तैत्तिरीय अनुक्रमणी भी तब तक लिखी जा चुकी थी।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य का एक अत्यन्त पुरातन भाष्य भी विद्यमान है। मद्रास यूनिवर्सिटी की ओर से पण्डित वेङ्कटराम शर्मा द्वारा सन् १९३० में वह मुद्रित हो चुका है। हमारा अनुमान है कि यह भाष्य बौद्ध वररुचि के काल से अर्थात् नन्द-काल से पूर्व का है। इस की विस्तृत आलोचना आगे करेंगे।

अनेक शिक्षा ग्रन्थ इन प्रातिशाख्यों से भी पूर्व-काल के हैं। उवट ने शौनक प्रातिशाख्य पर जो भाष्य रचा है, उस के देखने से यह बात पूरे प्रकार से स्पष्ट हो जाती है। शौनक आदि की अनुक्रमणियां भी उसी काल में लिखी गई थीं।

अब कहां तक गिनाएं। हम ने इस विषय का यहां दिग्दर्शन करा दिया है। इस ग्रन्थ के अगले भागों में इन में से प्रत्येक ग्रन्थ और ग्रन्थकार का काल अत्यन्त विस्तार से लिखा जाएगा। हमारे योरोपीय मित्रों ने इस विषय में जितनी भ्रान्ति उत्पन्न की है, उस की वास्तविक परीक्षा भी वहीं की जाएगी। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि इस में योरुपीय लेखकों का कोई दोष नहीं है। उन्हों ने विधिपूर्वक प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन नहीं किया। उन का परिश्रम अथाह होते हुए भी युक्त-मार्ग का नहीं था। योरुप में एक एक कार्यकर्ता ने प्रायः एक एक विषय का ही अध्ययन किया था। अब भी अनेक लेखकों की ऐसी ही गति है। योरुप में ऐसे विद्वान् नहीं हुए जो अनेकों विषयों के एक साथ पण्डित हों। इस के बिना अत्यन्त विशाल वैदिक और संस्कृत वाङ्मय पर अधिकार से कुछ लिखना वृथा है। इन लेखकों ने महाभारत और पुराण आदि का अच्छा अभ्यास नहीं किया था। अतः उन के लेख ऐतिहासिक त्रुटियों से पूर्ण हो गए। जिस पार्जिटर ने महाभारत और पुराण आदि पढ़े, उसे वैदिक परम्परा का साक्षात् ज्ञान नहीं था, अतः उसका लेख भी अधूरा ही रह गया। उस की काल गणना प्रायः मनघड़न्त है। विद्वान् पाठक ध्यान से हमारे विचारों का पाठ करें।

हमारे उत्तर कालिक अध्ययन ने बताया कि योरोप के यहूदी और ईसाई महापक्षपाती मतान्ध लेखकों ने विज्ञान के नाम पर जो कलुषित मार्ग अपनाया उसके कारण योरोप के अधिकांश लेखक संस्कृत के वास्तविक तत्त्वों से सर्वथा अनभिज्ञ रहे।

———

प्रमुख-शब्द-सूची

पुराणस्थ वैदिक-ऋषि-नाम सूची

श्री पण्डित भगवद्दत्त जी द्वारा विरचित

तथा

सम्पादित पुस्तकें

विरचित—

१—ऋग्वेद पर व्याख्यान (अप्राप्य)

२—बार्हस्पत्य सूत्र की भूमिका

३—वैदिक कोश की भूमिका

४—वैदिक वाङ्मय का इतिहास

प्रथम भाग—वेद की शाखाएं—(परिवर्धित द्वि० स०) १०)

द्वितीय भाग—वेद के भाष्यकार (परिवर्धित द्वि० स० शीघ्र प्रकाशित होगा

तृतीय भाग—ब्राह्मण और आरण्यक ,, ,, ,, ,, ,,

चतुर्थ भाग—कल्प सूत्र का इतिहास (लिखा जा चुका है)

५—भारतवर्ष का इतिहास (द्वितीय संस्क०) (अप्राप्य)

६—भारतवर्ष का बृहद् इतिहास (प्रथम भाग) १६)

७—भाषा का इतिहास २॥)

८—भारतवर्ष का सांस्कृतिक इतिहास

९—वेस्टर्न इण्डोलोजिस्ट्स (अंग्रेजी) १॥)

सम्पादित—

१—वाल्मीकीय रामायण (पश्चिमोत्तर-पाठ) बाल काण्ड तथा आरण्य काण्ड का कुछ भाग

२—अथर्ववेदीय पञ्चपटलिका

३—माण्डूकी शिक्षा

४—आथर्वण ज्योतिष

५—उद्गीथाचार्य कृत-ऋग्वेद भाष्य दशम मण्डल का कुछ भाग

६—ऋषि दयानन्द का स्वरचित (लिखित तथा कथित) जन्म चरित ।=)

७—ऋङ्-मन्त्र व्याख्या (अप्राप्य)

८—ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन—वृहत् परिवर्धित संस्करण (संख्या ६ के सब पत्र इस मे छप गए हैं)। ७)

९—ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन—चार भाग

१०—गुरुदत्त लेखावली-हिन्दी अनुवाद, सहकारी अनुवादक श्री सन्त राम बी० ए० (अप्राप्य)

विशिष्ट लेख—

१—वैजवाप गृह्य सूत्र संकलन

२—शाकपूणि का निरुक्त और निघण्टु

३—शूद्रक-अग्निमित्र-इन्द्राणीगुप्त

४—साहसाङ्क विक्रम और चन्द्रगुप्त विक्रम की एकता

५—डेट आफ विश्वरूप

६—आर्य वाङ्मय

७—अश्वशास्त्र

८—भारतीय प्राचीन राजनीति पर भाषण

भारतीय वाङ्मय के इतिहास की दो विशिष्ट पुस्तकें

१—आयुर्वेद का इतिहास (प्रथम भाग) श्री पं० सूरमचन्द जी बी० ए०, वैद्यवाचस्पति कृत ८)

२—संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग) पं० युधिष्ठिर मीमांसक कृत १०)

मिलने का पता—इतिहास प्रकाशन मण्डल, मार्केट २६

दक्षिणी पटेल नगर, नई दिल्ली—१२